ग्यारह-बारह

भारत के महान योगी

विश्वनाथ मुखर्जी

भारत के महान् योगी

(भाग ११-१२)

विश्वनाथ मुखर्जी

अप्र

अनुराग प्रकाशन, वाराणसी

अनुक्रमणिका

●

बालानंद ब्रह्मचारी

बालानंद ब्रह्मचारी का जन्म उज्जैन के एक सारस्वत ब्राह्मण परिवार में हुआ था। बचपन का नाम था पीताम्बर। घर की वृत्ति थी शास्त्र-पाठ और पुरोहित-कर्म। शिक्षा ग्रहण करने लायक उम्र हुई तो घर के पास ही स्कूल में दाखिल करा दिया गया लेकिन नटखट का मन पढ़ाई-लिखाई में नहीं लगा। पीताम्बर का रुझान तो अध्यात्म की ओर था। बालक पीताम्बर शिप्रा नदी की जलधारा के हर मोड़ पर और गोरखनाथ की गुफाओं में चक्कर लगाता रहा। कभी महाकाल के कुंड में और कभी संदीपनि मुनि के जंगल-झाड़ से भरे हुए आश्रम में घूमता रहा। भग्न भुतहे मकानों में जहाँ कोई दिन में भी जाने का साहस नहीं करता था, वहाँ पीताम्बर कई रातें गुजार देता। इस दुस्साहसी और नटखट बालक के भविष्य को लेकर माँ नर्मदा बाई बहुत ही चिन्तित रहा करती थीं। पति की मृत्यु के उपरान्त बालक पीताम्बर के लालन-पालन की जिम्मेदारी उन्हीं के कन्धों पर थी।

पीताम्बर के पिता की मृत्यु बचपन में ही हो चुकी थी। घर की आर्थिक स्थिति भी कोई अच्छी नहीं थी। कुछ घरों की जजमानी थी और दो-एक बीघा जमीन। माँ की चिन्ता यह थी कि पीताम्बर को न तो खेती-बारी से कुछ लेना-देना था और न ही जजमानी से कोई सरोकार। जब वह अध्ययन में रुचि नहीं रखता था, शास्त्र आदि का ज्ञान हो ही नहीं रहा था तो कैसे सम्हालेगा पिता की विरासत के रूप में मिली जजमानी? माँ इसी चिन्ता में बुरी तरह ग्रस्त थीं।

इस बात को लेकर माँ अक्सर पीताम्बर को डाँटती-फटकारती रहतीं। एक दिन माँ ने पीताम्बर को डाँटते हुए कहा कि जब तुम कुछ नहीं करोगे तो क्या साधु बनोगे? माँ की डाँट चुपचाप सुन रहे पीताम्बर के मन में एक बात कौंध गई—''क्या साधु बनोगे?'' इस वाक्य का पीताम्बर पर इस कदर जादुई असर पड़ा कि जैसे उसका अन्तर्लोक प्रकाशित हो गया हो और उसे एक रास्ता मिल गया हो। पूर्वजन्म का सात्विक संस्कार मन में उदित हो उठा और पीताम्बर माता के सामने से ही अचानक गायब हो गया।

बालक पीताम्बर ने अपने सारे कपड़े जला दिए। देह में भस्मी पोतकर और एक कौपीन पहनकर माँ के सामने उपस्थित हुआ। पीताम्बर ने कहा, ''माँ, देखो मैं सचमुच साधु बन गया हूँ।'' पुत्र की यह करतूत देखकर माँ को हँसी छूट गई।

लेकिन बालक पीताम्बर का यह साधु-वेश सिर्फ खेल नहीं था। उसके अन्तर्लोक की वास्तविक अभिव्यक्ति थी जो उसी दिन आलोकित हो गई थी, जिस दिन माँ के मुँह से अनायास ही यह वाक्य फूट पड़ा था—"क्या साधु बनोगे?"

इस घटना के कई दिनों बाद बालक पीताम्बर का उपनयन संस्कार हुआ लेकिन यह क्या? उपनयन संस्कार के तीन-चार दिनों बाद ही पीताम्बर ने हमेशा के लिए घर त्याग दिया। उस समय पीताम्बर की आयु सिर्फ नौ साल की थी। माँ की ममता भी उसे बाँध नहीं पाई। माँ का भविष्य अंधकार में डूब गया। पीताम्बर ही तो उसके जीवन का एकमात्र सहारा था।

उज्जयिनी नगर के एक उपान्त में प्रतिष्ठित द्वादश ज्योतिर्लिंगों में एक महाकाल के विग्रह के सम्मुख माँ पुत्र-वियोग में व्याकुल हो कई दिनों तक गुहार करती रहीं। तपोनिष्ठ शुद्धात्मा नर्मदा बाई की गुहार व्यर्थ नहीं गई। लेकिन नर्मदा बाई को लगभग चालीस वर्षों तक तपस्या करनी पड़ी।

देवधर से कुछ दूर तपोवन पर्वत स्थित है। दिन के आखिरी पहर में इसी पर्वत के शिखर पर खड़ी होकर माँ पुकार रही थीं—"पीताम्बर! पीताम्बर!! तुम कहाँ हो पीताम्बर?" यह पुकार सुनकर एक अधेड़ संन्यासी माँ के सामने आ खड़े हुए। चेहरे पर दिव्य आभा। मुखमण्डल पर बढ़ी हुई दाढ़ी-मूँछ और सिर पर विशाल जटा-जूट। माँ को देखते ही संन्यासी उनके चरणों पर नत हो गया और उसके कंठ से फूट पड़ा—"माँ!" माँ ने इस संन्यासी को गले से लगाया और बोलीं, "यही तो मेरा पीताम्बर है। विख्यात योगी—बालानंद ब्रह्मचारी।" माँ के नेत्रों से खुशी के आँसू ढलक पड़े। माँ ने पीताम्बर के लापता होने और योगी बालानंद ब्रह्मचारी के रूप में मिलने के बीच के अन्तराल की कहानी यों सुनाई—

ध्यान और शिव-अर्चना में उनके दिन एक-एक कर बीतते जा रहे थे। एक दिन उन्हें अनुभव हुआ कि उनका अन्तिम समय अब ज्यादा दूर नहीं है। मन में आकांक्षा हुई कि अन्तिम साँस लेने से पूर्व उनके पुत्र पीताम्बर के दर्शन मिल जाते। एक दिन जब वह शिवजी के चरणों में माथा टेक कर रोती हुई अपनी यह मनोकामना पूर्ण होने की याचना कर रही थीं तो प्रभु ज्योतिर्मय रूप में प्रकट हुए और कहने लगे, "बेटी, तुम्हारी प्रार्थना शीघ्र पूरी होगी। वैद्यनाथ धाम के समीप तपोवन पहाड़ पर बैठ कर तुम्हारा पुत्र पीताम्बर इस समय तपस्यारत है। इस समय उसका नाम है—बालानंद। तुम शीघ्र वहाँ जाओ, खोए हुए पुत्र की प्राप्ति तुम्हें हो जाएगी।"

नर्मदा बाई ने अपनी जमीन बेच दी और कुछ तीर्थयात्रियों के साथ वैद्यधाम के तपोवन पहाड़ पर गईं तो यह पवित्र दिन आया जब वह अपने पुत्र पीताम्बर से

मिल सकीं। ममतामयी माँ आनन्द-विभोर थीं अपने तपस्वी पुत्र बालानंद से मिलते हुए। नर्मदा बाई ने संकल्प किया था कि यदि उनका खोया हुआ पुत्र उन्हें प्राप्त हो जाएगा तो वह सवा लाख बेलपत्रों से देवाधिदेव महेश्वर की पूजा करेंगी। उन्होंने यह बात अपने पुत्र को बताई और बालानंद ने सभी चीजों का प्रबन्ध कर दिया। पूजा समाप्त होने के कुछ दिनों बाद ही नर्मदा बाई स्वर्ग सिधार गईं।

उन्नीसवीं शताब्दी का दूसरा चरण था जब बालक पीताम्बर बालानंद ब्रह्मचारी के नाम से विख्यात हुए।

सिर्फ नौ वर्ष की अवस्था में पीताम्बर जब सारा माया-मोह त्याग कर सत्य की तलाश में निकल पड़े थे तब उन्हें खुद नहीं पता था कि उनकी तलाश कब और कैसे पूरी होगी। वे उदासीन भाव से चले जा रहे थे तभी मार्ग में एक व्यक्ति मिला। उपनयन के समय पीताम्बर को जो स्वर्णाभूषण—कुण्डल, वलय, हार, आदि—दिए गए थे, वे सभी उसके शरीर पर शोभायमान थे। वह व्यक्ति ताड़ गया कि यह बालक घर से भागा हुआ है। पीताम्बर के आभूषणों को देखकर उसके मन में लालच समा गया। उसने कहा, "बच्चा, तुम्हारे शरीर पर ये आभूषण रहेंगे तो चोर-डाकू तुम्हारा पीछा करेंगे। आभूषण पहन कर अकेले जाना ठीक नहीं है। इन्हें हमारे पास छोड़ दो, लौटते समय ले लेना।" बालक पीताम्बर ने निर्विकार भाव से सारे स्वर्णाभूषण उस व्यक्ति को सौंप दिए।

पीताम्बर आगे बढ़े। मार्ग में एक साधु से भेंट हुई और उसी के साथ लग गए। साधु नर्मदा-परिक्रमा का यात्री था। नर्मदा नदी के किनारे-किनारे भ्रमण करते हुए पीताम्बर साधु के साथ में गंगोनाथ में ब्रह्मानंद के आश्रम में गए। स्वम्भूलिंग श्री गंगोनाथजी बड़ौदा से चालीस मील दूर स्थित हैं। इन्हीं के बगल में महायोगी ब्रह्मानंद महाराज ने अपनी कुटिया बना रखी थी। सामने अखण्ड दीप और अखण्ड धुनी प्रज्वलित हो रही थी। ब्रह्मानंदजी महाराज के पास बैठते ही बालक पीताम्बर की आत्मा जाग्रत् हो उठी और उसने ब्रह्मानंदजी से निवेदन किया कि वे उसे अपनी शरण में ले लें। योगेश्वर ब्रह्मानंद से पीताम्बर का भूत और भविष्य छिपा नहीं रहा। उन्होंने श्रावणी पूर्णिमा के दिन पीताम्बर को दीक्षा दी। इस बीच बालक पीताम्बर ने आसपास के गाँवों से भिक्षा माँग कर अन्न आदि संग्रह किया जिससे उसकी दीक्षा के दिन ग्रामवासियों और नर्मदा-परिक्रमा के तीर्थयात्रियों को भोजन कराया गया।

लेकिन आश्रम में भण्डारा से पूर्व बालक पीताम्बर चिन्तित थे कि उन्हें इतनी भिक्षा कहाँ मिलेगी जिससे ढेर सारे लोगों को भोजन कराया जा सके। पीताम्बर की चिन्ता का आभास ब्रह्मानंद को हो गया। उन्होंने अपनी भिक्षा-झोली की ओर संकेत करते हुए कहा, "बच्चा, तुम जानते नहीं हो कि मेरी इस झोली के अन्दर ऋद्धि-सिद्धि दोनों हैं।" सचमुच इस झोली की अलौकिक शक्ति

आश्चर्यजनक थी। बहुत से लोगों का विश्वास था कि इस करिश्माई झोली की बदौलत ही आश्रमवासियों और अभ्यागत साधु-सन्तों के भोजन की व्यवस्था होती रहती है।

बालक पीताम्बर के मोहक व्यक्तित्व में लोगों को प्रभावित करने की अद्‌भुत क्षमता थी। लोक खुले दिल से दान देने लगे। पीताम्बर की दीक्षा के दिन भारी भण्डारा हुआ। दीक्षोपरान्त पीताम्बर बालानंद हो गए। ज्योतिमठ के आनन्द उपाधिकारी साधुकुल में वह अन्तर्भुक्त हुए।

दीक्षा ग्रहण के बाद जब बालानंद ने गुरु-दक्षिणा के बारे में ब्रह्मानंदजी से पूछा तो वे बोले, "वत्स, सद्‌गुरु सब प्रकार की कामना, वासना से परे होते हैं, उन्हें तुम कौन-सी, लौकिक वस्तु देकर प्रसन्न कर सकते हो? जान रखो, प्रकृत गुरुदक्षिणा ऋद्धि में नहीं, सिद्धि में है। मेरे द्वारा प्रदत्त बीज मन्त्र का साधन करके जो सिद्धि तुम प्राप्त करोगे, उसे ही तुम मेरे प्रति निवेदन कर देना, मैं उसे सँजो कर रखूँगा। यही तुम्हारी वास्तविक गुरु दक्षिणा होगी। इसी से मैं प्रसन्न होऊँगा।"

इसके बाद शुरू हुई बालानंद की साधना।

गंगोनाथ आश्रम में साधु-सन्तों और अतिथियों की सेवा तथा उन्हें अन्नदान का क्रम चलता ही रहता था। साल में वहाँ एक-दो यज्ञानुष्ठान चलते ही रहते थे। दीनहीन लोगों के लिए आश्रम का द्वार हमेशा खुला रहता था।

एक बार आश्रम में भण्डारा चल रहा था। भोजन समाप्त होने को था तभी कई सौ अभ्यागत वहाँ आ पहुँचे। आश्रम के भण्डारी उन्हें देखकर घबरा गए और खिचड़ी का गाला तैयार कराने लगे। ब्रह्मानंद महाराजजी को जब इस बात का पता चला तो वे क्रोधित हो उठे। भण्डारी को बुला कहा, "मुझे लगता है, तुम बंगाली का लड़का है, कम खाने वाला। क्यों इतना कम अन्न देते हो? तुम पूरा-पूरा दो, कुछ चिन्ता मत करो।" उन्होंने अपने हाथ की मुट्ठी बाँध कर दिखाया कि गाला कितना बड़ा होगा। वहाँ उपस्थित लोगों के आश्चर्य की सीमा नहीं रही कि महाराजजी के स्पर्श से सभी लोगों की क्षुधा शान्त होने के बाद भी प्रचुर मात्रा में खाद्य-सामग्री बची रही।

दुर्भिक्ष के दिनों में महाराजजी स्वयं अपनी झोली लेकर भिक्षाटन के लिए निकलते थे। सर्वसाधारण की निगाह में महाराजजी की झोली माँ अन्नपूर्णा की सिद्ध झोली थी। आसपास के गाँवों के भूखे लोग महाराजजी के आश्रम में ही भोजन करके अपनी भूख मिटाते थे।

कभी-कभी महाराजजी हास्य-कौतुक का प्रदर्शन भी करते थे। एक बार वे बड़ौदा रियासत के शासक गायकवाड शिवाजी राव के पास गए और हँसी-

हँसी में राव से पूछा, "महाराज, सुना है आपके पास चाँदी की तोप है जिसका गोला लगभग एक मील तक निशाना साधता है।"

गायकवाड ने कहा, "महाराजजी, आपने ठीक सुना है।"

इस पर महाराजजी ने कहा, "आपका गोला मात्र एक मील तक जाता है, और मेरा गोला दस-दस कोस तक जाता है। और आपका गोला चाँदी की तोप का है, जबकि मेरा गोला ही खिचड़ी।"

वहाँ उपस्थित लोगों ने जोरदार ठहाका लगाया।

बड़ौदा की महारानी यमुनाबाई ने एक बार ब्रह्मानंदजी को आमंत्रित किया। ब्रह्मानंदजी अपने शिष्य बालानंद को साथ लेकर चले। मार्ग में एक ग्रामीण मिल गया। वह महाराजजी का दर्शन करके धन्य हुआ। उन्हें घर ले गया और खूब आवभगत की। चलते समय महाराजजी की झोली में साग-सब्जी भर दी।

जब महाराजजी महल में पहुँचे तो महारानी ने मजाक किया, "आज हमलोगों को ढेर सारी चीजें खाने को मिलेंगी।"

"बोलिए क्या चाहिए?" महाराजजी ने पूछा।

"अंगूर।" महारानी ने कहा यद्यपि उस समय अंगूर का मौसम नहीं था।

महाराजजी ने तुरन्त झोले में से अंगूर का गुच्छा निकाल कर महारानी के समक्ष रख दिया। फिर हँसते हुए बोले, "माई के लिए अंगूर तो ठीक ही मिल गया।"

वहाँ उपस्थित सारे लोग आश्चर्यचकित रह गए। महारानी का भक्तिभाव और उमड़ आया।

पूरे क्षेत्र में ब्रह्मानंदजी के अलौकिक कार्यों की चर्चाएँ सुनने को मिलती थीं।

बालानंद जी गंगोनाथ आश्रम में सात-आठ माह रहने के बाद नर्मदा की परिक्रमा के लिए निकल पड़े। इस यात्रा के दौरान उनकी भेंट गौरीशंकर महाराज से हुई। वे हर वर्ष नर्मदा-परिक्रमा पर निकलते थे और इनकी योगसिद्धि समय-समय पर प्रकट होती थी। साथ-साथ तमाम शिष्य चलते रहते थे। भण्डारा होता रहता था। ऋद्धि-सिद्धि का चमत्कार देखने को मिलता रहता था। 'दीयतां भुज्यतां' शब्द से नर्मदा तट गुंजरित होता रहता था। योग ब्रह्मानंद के साथ घनिष्ठ मैत्री थी। जब उन्हें पता चला कि बालानंद ब्रह्मानंद के शिष्य हैं तो बहुत स्नेह के साथ आश्रय दिया। गौरीशंकर महाराज के साथ बालानंद ने सात-आठ वर्ष बिताए क्योंकि वह उनके शिक्षा-शिष्य थे।

इसके बाल बालानंद कई वर्षों तक देश के सभी तीर्थ-स्थलों और अन्य स्थानों का भ्रमण करते रहे। बीच-बीच में वे गुरु ब्रह्मानंद का दर्शन करते रहे। यह सिलसिला ब्रह्मानंद के महाप्रयाण तक चलता रहा।

कष्टसाध्य नर्मदा परिक्रमा करते हुए एक दिन बालानंदजी मंडला पहुँचे। उनके साथ एक उदासी साधु थे। दोनों के हाथ में एक-एक माला और वस्त्रों आदि जरूरी वस्तुओं की गठरी थी। उन दिनों उस अंचल में चोरों-डकैतों की बाढ़ थी। कमिश्नर साहब स्वयं तहकीकात के लिए आए हुए थे। अपने बँगले के पास जब उन्होंने दो नवयुवक साधुओं को देखा तो पकड़वा मँगाया। छानबीन के दौरान साधुओं की झोली में खंतियाँ और कुठार पाए गए। कमिश्नर साहब गुस्से से तमतमाते हुए बोले, "अब साबित हो गया कि तुम्हीं लोग सेंधमारी और चोरी-डकैती करते हो।"

बालानंद ने समझाया, "साहब, इन खंतियों से हम कंदमूल मिट्टी से खोद कर निकालते हैं और कुठार का प्रयोग झोपड़ियाँ बनाने में करते हैं।"

लेकिन कमिश्नर के आदेश पर इन लोगों की गठरी की तलाशी होती रही। छानबीन में गाँजा और सँखिया (विष) भी मिल गया।

कमिश्नर साहब गरजे, "तुम लोग केवल चोरी-डकैती ही नहीं करते लोगों को सँखिया खिलाकर हत्याएँ भी करते हो। तुम लोगों को तीन-तीन साल की कैद की सजा दी जाएगी।"

बालानंद ने समझाने की कोशिश की, "गाँजा और सँखिया साधुओं के लिए आवश्यक वस्तुएँ हैं। इससे साधु लोग जाड़े से बचाव करते हैं।" इस पर कमिश्नर ने आदेश दिया, "तो सँखिया हमारे सामने खा कर दिखाओ।"

बालानंद की गाँठ में सँखिया बँधा था। उन्होंने गाँठ खोली और सारी सँखिया एक ही बार में खा गए।

बालानंद ने सोचा अब मृत्यु अनिवार्य है।

कमिश्नर के चंगुल से मुक्त होने के बाद उनके बँगले के बाहर बैठकर वे अपने साथ के साधुओं से कहने लगे, "मेरे कंठ सूख रहे हैं, आँखों के आगे अँधेरा छा रहा है, जल्द ही मेरा देहान्त हो जाएगा। तुम लोगों से अनुरोध है कि प्राण त्यागने के बाद इस शरीर को नर्मदा में प्रवाहित कर देना।"

बालानंद का बाह्य ज्ञान लुप्त होने लगा लेकिन उस समय उनके अन्तर में नर्मदा माँ की ज्योतिर्मयी मूर्ति उद्भासित हो उठी। अभयदान देकर देवी क्षण भर में अंतर्ध्यान हो गईं। कुछ ही क्षणों बाद उनका चेतनाशून्य शरीर पृथ्वी पर लोट गया।

इसी समय कमिश्नर साहब के युवा बेटे की मृत्यु हो गई। वह कुछ देर पूर्व ही शिकार से लौट कर चाय पी रहा था कि अचानक उल्टियाँ होने लगीं। इससे पहले की डॉक्टर पहुँचते, उसके प्राण-पखेरू उड़ गए।

कमिश्नर के पुत्र की मृत्यु का समाचार सुनकर एक सज्जन उनसे मिलने आए। बँगले के बाहर एक साधु को अचेत पड़ा हुआ देखा तो उनका माथा ठनका। पूछने पर पता चला कि कमिश्नर के आदेश पर सँखिया खाने के बाद इनकी ऐसी दशा हुई है। उक्त सज्जन ने कमिश्नर को समझाया, सर्वत्यागी साधु को इस प्रकार कष्ट देकर आपने अच्छा नहीं किया। चिकित्सा द्वारा इन्हें स्वस्थ करके शीघ्र छोड़ दीजिए। बालानंद की चिकित्सा हुई। वे स्वस्थ हो गए। कई दिनों तक उक्त सज्जन के यहाँ रहने के बाद पुनः नर्मदा परिक्रमा के लिए निकल पड़े।

नर्मदा परिक्रमा के दौरान बालानंद दैवी शक्ति के नाना प्रकाश से प्रकाशित हुए इससे उनका साधक जीवन काफी प्रभावित हुआ।

एक बार बालानंदजी कई साधुओं के साथ नर्मदा के तटवर्ती जंगल में जा रहे थे। धीरे-धीरे अंधकार घिरता आ रहा था। शरीर थककर चूर हो गया था। भूख-प्यास से बेहाल थे। उन्होंने देखा कि एक भीलनी गाय के साथ एक वृक्ष के नीचे खड़ी थी। बालानंदजी उसके पास गए और बोले, ''माई, हम भूख-प्यास से बेहाल हैं। हमने इसी वृक्ष के नीचे रात गुजारने का निश्चय किया है। तुम अपने गाँव से हमारे लिए खाने-पीने की कोई सामग्री लाओ ताकि हमारी क्षुधा शान्त हो।''

भीलनी ने हँसते हुए कहा, ''बेटे, चिन्ता मत करो। हमारी इस गाय के दूध से तुम सभी लोगों की भूख शान्त हो जाएगी। तुम लोग बर्तन लेकर खड़े हो जाओ, मैं एक-एक कर सभी लोगों के बर्तन में दूध भर देती हूँ।''

भीलनी ने सभी साधुओं के तूँबे भर दिये। सभी ने भरपेट दूध पिया। जब सभी लोगों ने दूध पी लिया, तब भीलनी अपनी गाय के साथ जंगल में गायब हो गई। इससे सभी साधुओं को हैरत हुई। सब इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि भीलनी कोई साधारण महिला नहीं थी, साक्षात् नर्मदा माँ थीं।

अपने परिक्रमा काल के दौरान बालानंद महाराज ने कई बार नर्मदा माँ के अलौकिक आविर्भाव का प्रत्यक्ष दर्शन किया। देवी के वरदहस्त ने एकाधिक बार उनकी प्राण-रक्षा की।

एक बार बालानंदजी कामाख्या तीर्थ में पहुँचे। कामाख्या देवी का दर्शन करने के बाद कई दिनों तक पहाड़ के ऊपर साधना में व्यतीत किया। इसके बाद आसपास के क्षेत्रों में भ्रमण करने के दौरान हैजे की बीमारी से पीड़ित हो गए। शरीर बिल्कुल अशक्त हो गया। परमात्मा में ध्यान लगाकर निश्चल पड़े रहे। इसी बीच उनके समक्ष दिव्य कुमारी मूर्ति प्रकट हुई और कहने लगी, ''गोसाईं, तुम चिन्ता मत करो। तुम मरोगे नहीं, किन्तु शीघ्र यहाँ से चले जाओ।'' देवी अंतर्ध्यान हो गईं और बालानंदजी गाढ़ी नींद में सो गए।

दूसरे दिन नींद टूटी तो उन्होंने स्वयं एकदम स्वस्थ पाया। लेकिन दुर्बल काफी थे। किसी तरह उठते-बैठते समीप के कुएँ पर पहुँचे। वहाँ उपस्थित लोगों ने बालानंद के सिर पर जल डाला। वे शीतल हुए। भूख से व्याकुल थे पर किसी का दिया हुआ अन्न खा नहीं सकते थे। एक व्यक्ति ने दया करके उन्हीं के लोटे में खिचड़ी चढ़ा दी। खिचड़ी पक जाने पर उन्होंने अपने हाथ से उतारा और भूख मिटायी।

कामाख्या से लौट कर बालानंदजी तारकेश्वर गए। एक बार जब वे हुगली जिला का भ्रमण कर रहे थे तभी उन्हें ज्ञात हुआ कि जलेश्वर में एक जाग्रत् एवं प्राचीन शिवलिंग है जिसे जलेश्वर शिव के नाम से जाना जाता है। जंगल का रास्ता तय करके जब वे जलेश्वर शिव के पास पहुँचे तो रात हो चुकी थी। उन्होंने देखा कि जलधरी के ऊपर अर्धहस्त परिमाण का एक शिवलिंग विराजमान है। उसके ऊपर पास में ही कुछ ऊँचाई पर पंचमुण्डी का आसन है। मन्दिर से सटे कुएँ पर हाथ-पाँव धोकर बालानंदजी ने मन्दिर में प्रवेश किया। जप-ध्यान में लीन हो गए। इस बीच उन्हें एक विचित्र अनुभव हुआ। उन्हें ऐसा लगा जैसे मन्दिर के चारो ओर की दीवारों के बीच दबते जा रहे हैं। शून्य में हाहाकार करती हुई एक अदृश्य शक्ति मानों बवंडर उठा रही है। सहसा एक देववाणी सुनाई पड़ी, "अरे, तुम पंचमुण्डी आसन पर अघोर मंत्र का जप करो।" बालानंदजी ने जप प्रारम्भ किया। जप करते-करते भोर हो गयी। वे सुबह मन्दिर से बाहर आए।

एक बार बालानंदजी उत्तराखण्ड के भ्रमण पर थे। इस बीच एक अद्‌भुत प्रकार के आकाशचारी साधु से उनकी भेंट हुई। बालानंदजी के शिष्य श्री हेमचन्द्र बंधोपाध्याय ने इसका वर्णन इस प्रकार किया है—"कांगड़ा उपत्यका के मागसुत स्थान में जाकर गुरुदेव कुछ दिनों तक गोमती स्वामी के निकट वास कर रहे थे। वहाँ दोनों अपने-अपने आसन पर बैठे हुए थे जबकि एक महात्मा ने वहाँ उपस्थित होकर दोनों के दर्शन किए। कुछ देर तक बातचीत के बाद साधु वहाँ से चले गए। कुछ दूर जाने के बाद वे 'जय गुरुदेव, जय गुरुदेव' कहकर ताली पीटने लगे। यह सुनकर गुरुदेव और गोमती स्वामी बाहर आए और उस साधु को देखने लगे। दोनों ने देखा कि वे 'जय गुरुदेव' कह कर ताली पीट रहे हैं। इसी समय उनके दोनों पाँव जमीन से कुछ ऊपर उठ रहे हैं। ऐसा करते हुए वे शून्य मार्ग से आकाशगामी होकर एक उच्च पर्वत-शिखर की ओर उड़ने लगे और कुछ क्षणों के बाद वहाँ से अदृश्य हो गए। यह दृश्य देखकर गुरुदेव चमत्कृत हो गए। उक्त महात्मा का परिचय भलीभाँति नहीं प्राप्त कर सके, इस बात का उन्हें दुःख हुआ। जब अपने आसन पर लौट कर उन्होंने गोमती स्वामी से पूछा तो उन्होंने बताया—"इस साधु के बारे में वे स्वयं ज्यादा कुछ नहीं

जानते। उन्हें वे नीचे आते और आकाशचारी होते एक-दो बार देखा है। ऊपर किस शिखर पर वे वास करते हैं, किस तरह रहते हैं, बीच-बीच में नीचे क्यों उतरते हैं, इस बारे में ज्यादा कुछ नहीं मालूम।''

उन महात्मा को खेचर-सिद्धि प्राप्त थी जो दो प्रकार से प्राप्त होती है— एक योग के बल से, दूसरे द्रव्य-बल से। उन महात्मा ने किस प्रकार यह सिद्धि प्राप्त की यह नहीं मालूम।

कालान्तर में बालानंदजी एक असामान्य योगी के रूप में ख्यात हुए। उन्हें सिद्धि प्राप्त हुई।

बालानंद ब्रह्मचारी अपने शिष्यों को उपदेश दिया करते थे—''मक्षिका बन जायँ''। अर्थात जहाँ जो कुछ अध्यात्म अमृत का संचय देखो, वहाँ से अपने भण्डार को समृद्ध कर लो। अध्यात्म-मार्ग के इस आदर्श का उन्होंने अपने जीवन में भी पालन किया।

बालानंदजी के ऊपर अपने गुरुओं ब्रह्मानंदजी और गौरीशंकर महाराज के अलावा भी कई महापुरुषों का प्रभाव पड़ा था। नर्मदा-तट पर साधनारत मारकण्डेय महाराज से उन्होंने हठयोग की समस्त दुरूह क्रियाओं का अभ्यास किया था। इसी प्रकार काशी ध्रुवेश्वर मठ के मण्डलेश्वर रामगिरिजी से उन्होंने वेदान्त के विभिन्न सूक्ष्म तत्त्वों को अधिगत किया था। उत्तराखण्ड के त्रियुगीनारायण में वास कर रहे महात्मा मनसागिरि के पास कुछ समय बिताकर बालानंदजी ने नाना निगूढ़ मंत्रों का रहस्य हृदयंगम किया। योगिराज श्यामाचरण लाहिड़ी की कृपा से उनके साधनारत जीवन का एक विशिष्ट अध्याय उन्मोचित हो गया था।

इसके बाद बालानंदजी का ज्ञान-प्रकाश चतुर्दिक् फैलने लगा। बहुत से लोग इससे लाभ उठाकर धन्य हुए। इनके सर्वप्रथम शिष्य बने रामचरण वन्द्योपाध्याय जिन्हें रामबाबू भी कहते हैं। रामबाबू के शिष्यत्व ग्रहण करने की कथा भी बड़ी रोचक है।

बालानंदजी महाराज कामाख्या से लौटकर बंगाल के विभिन्न भागों का भ्रमण कर रहे थे। एक दिन वे रानाघाट पहुँचे। रामचरण बाबू वहाँ के एस०डी० ओ० थे। इसी समय वे एक विपत्ति में पड़ गए। रानाघाट के निकट एक ट्रेन दुर्घटना हुई जिसमें काफी लोग हताहत हुए। रामबाबू पर आरोप लगा कि उन्होंने अपने कर्तव्य का ठीक से पालन नहीं किया। उनकी नौकरी खतरे में पड़ गई।

रामचरण बाबू की माताजी आध्यात्मिक प्रवृत्ति की थीं। एक दिन वह अपने इष्टदेव के चरणों में बैठकर अपने पुत्र के मंगल की कामना कर रही थीं तो उसी समय उनके अंतर में कोई आवाज आई, ''भय मत करो। एक साधक तुम्हारे घर आए हैं, इस बार विपत्ति के बादल दूर हो जाएँगे।''

क्षण भर बाद ही उस वृद्धा ने देखा कि एक जटाजूट वाले साधु उनके घर के भीतर प्रवेश कर रहे हैं। भीतर आकर साधु ने रामचरण बाबू से कहा कि मुझे एक बघछाला चाहिए। मुझे ज्ञात हुआ है कि आप एक अच्छे शिकारी हैं, इसीलिए आया हूँ। साधु के दिव्य रूप को देखकर राम बाबू आकर्षित हो उठे। एक-दो बघछाला उन्होंने साधु को दिखायी लेकिन उसे कोई बघछाला पसन्द नहीं आयी।

रामबाबू को एक साधारण साक्षात्कार ही साधु का हुआ लेकिन रात में उस साधु का स्वप्न बार-बार आने लगा। जैसे कोई कह रहा हो, ''अरे, इस साधु के द्वारा ही तुम्हारा अभीष्ट सिद्ध होगा, इन्हीं के चरणों का आश्रय ग्रहण करो।''

रामबाबू बालानंद महाराजजी के शरणागत सपरिवार हुए। रामबाबू और उनकी पत्नी ने बालानंदजी से दीक्षा ली।

रामबाबू बालानंदजी के परमशिष्य हो गए। एक बार उनके फोड़े का ऑपरेशन हो रहा था। उन्होंने बेहोशी की दवा नहीं सूँघी। केवल गुरु के चरणों का स्मरण करते रहे। इससे पीड़ा का अनुभव बिल्कुल नहीं हुआ।

कुछ समय बाद रामबाबू को महाराजजी का एक पत्र मिला। उस समय वह गिरनार पर्वत पर बैठ कर तपस्या में लीन थे। एक दिन जब वे ध्यानावस्थित थे, तभी रामबाबू के फोड़े के ऑपरेशन का दृश्य उनके ध्यान में घूम गया। उन्होंने देखा कि रामबाबू के फोड़े का ऑपरेशन हो रहा है और वह जरा भी पीड़ा का अनुभव नहीं कर रहा है। इसी के बाद उन्होंने रामबाबू को पत्र लिखा जिसे पाकर वह काफी प्रसन्न हुए।

बालानंदजी के एक और प्रिय शिष्य थे दयानिधि। देवघर में महाराज के करवीबाद आश्रम स्थापित होने पर यह शिष्य अपने पुत्र के साथ उसी आश्रम में निवास करने लगे। एक रात उनके पुत्र को एक साँप ने डँस लिया। लेकिन दयानिधि जरा भी विचलित नहीं हुए और वे महाराजजी का जप करने लगे। जब वह ध्यानावस्था में थे तभी उन्हें एक अलौकिक दृश्य दिखायी पड़ा। उन्होंने देखा कि यमदूत की तरह कतिपय विकराल मूर्तियाँ आश्रम में प्रवेश करना चाह रही हैं और बालानंद महाराज हाथ में त्रिशूल लिये उन्हें भगा रहे हैं। दयानिधि का पुत्र सर्पदंश से आश्चर्यजनक रूप से बच गया।

देवघर के समीप बालानंदजी तपोवन पहाड़ पर घोर तपस्या कर रहे थे। एक दिन वे गुफा के अन्दर बैठे थे। जब ध्यानावस्था से बाहर आए और उनकी आँखें खुलीं तो देखा कि एक विशाल सर्प फन उठाए उनके सामने है। उसके मुँह में मनुष्य की मूँछ की तरह लम्बे-लम्बे बाल थे। महाराजजी के मन में आया कि यह साधारण सर्प नहीं हो सकता। सर्प के रूप में कोई महात्मा उनकी परीक्षा ले रहे हैं। महाराज ने त्राटक मुद्रा का अवलम्बन करते हुए सर्प की दृष्टि के साथ

अपनी दृष्टि निबद्ध कर ली। ऐसा करते ही सर्प ने अपना फण संकुचित कर लिया और गुफा से बाहर चला गया।

एक दूसरी अलौकिक घटना इस प्रकार है—महाराजजी धुनी के पास रात में लेटे हुए थे। वे कम्बल ओढ़े हुए थे। भोर में उन्हें महसूस हुआ कि किसी ने उनके पाँव पर से कम्बल खींच कर फेंक दिया है। उनकी नींद खुली तो उन्होंने देखा कि कम्बल धुनी के समीप पड़ा हुआ है। इसी समय उन्होंने देखा कि कोई उनके सामने खड़े होकर पहाड़ के ऊपर चलने का इशारा कर रहा है। महाराज ऊपर चलने लगे। चलते-चलते गुफा तक जा पहुँचे। गुफा में दिन में ताला लगा दिया था। लेकिन वहाँ जाकर देखा कि गुफा का द्वार खुला हुआ है। जो उन्हें बुलाकर ले गया था वह गुफा में प्रवेश करने लगा। पीछे-पीछे महाराजजी भी गुफा में प्रविष्ट हुए।

गुफा में अंधकार था। महाराजजी अपनी माचिस टटोल रहे थे तभी गुफा में प्रकाश फैल गया। लेकिन उसे नहीं देखा जा सका जो महाराजजी को लेकर आया था। महाराजजी को चिन्ता होने लगी कि वे उस समय जाग्रत् हैं या स्वप्नाविष्ट! ऐसा सोचते हुए वे समाधिस्थ हो गए। सुबह होने पर शिष्यों ने उन्हें धूनी के पास नहीं पाया तो ऊपर गुफा में गए। महाराजजी समाधिस्थ थे। उस समय दोपहर का समय था। शिष्यों की आवाज से उनका ध्यान टूटा।

तपोवन पर्वत के इस तपोमय जीवन में ही महाराजजी को अपनी माँ नर्मदा बाई का दर्शन मिला था।

रामबाबू के निधन के उपरान्त उनकी धर्मपरायण पत्नी ने करवीबाद आश्रम स्थापित किया जिसमें रहकर योगेश्वर बालानंद ब्रह्मचारी ने न जाने कितने लोगों का उद्धार किया। उनके दो संन्यासियों मौजागिरि और पूर्णानन्द स्वामी यहाँ आकर महाराजजी के आश्रम में रहने लगे। कृष्ण बन्धोपाध्याय, प्राणगोपाल मुखोपाध्याय प्रभृति भक्तों के आगमन के बाद धीरे-धीरे शिक्षित समाज में महाराजजी का प्रभाव बढ़ने लगा। महाराजजी कहते—

चारों परीक्षा में जब शिष्य उतरे।
तभी गुरु उसको पक्का ठहरे॥

ये चार परीक्षाएँ थीं—घर्षण, तापन, छेदन और ताड़न। शिष्यों की परख में महाराजजी एक स्वर्णकार की भूमिका में होते थे। पहले उसे कसौटी पर 'रगड़' कर देखते थे कि यह 'खरा' है या नहीं, फिर 'तापन' त्याग की बारी आती थी यानी तितिक्षा की अग्निपरीक्षा द्वारा जाना जाता था कि वह निष्कलुष हुआ है या नहीं। फिर 'छेदन' की प्रक्रिया द्वारा रहा-सहा कलुष साफ किया जाता है इसके बाद उसे अपने अनुकूल ढालने के लिए हथौड़े की चोट या 'ताड़न' की

आवश्यकता होती है। महाराजजी संन्यासी या ब्रह्मचारी के लिए जितनी कठोरता के पक्षपाती थे उतने ही गृहस्थ के लिए सहज-साध्य मार्ग की बात किया करते थे। महाराजजी अपने शिष्यों और भक्तों के कल्याण के लिए हमेशा तत्पर रहते थे।

बालानंदजी महाराज कलकत्ते के बरानगर में कुछ दिनों से रह रहे थे। उनके वास-स्थल के पास भक्तों की सदा भीड़ लगी रहती थी। एक दिन महाराज यतीन्द्रमोहन ठाकुर ने अपना प्रतिनिधि भेजकर निवेदन किया कि महाराजजी उनके महल में पधारकर उन्हें कृतार्थ करें। महाराजजी ने परिहास किया, ''यतीन्द्रमोहन महाराज हैं, यह मैंने सुना है। इधर बहुत से लोग मुझे भी 'महाराज' कहते हैं। एक महाराज यदि दूसरे महाराज के पास आये तो इसमें निन्दा की कौन-सी बात होगी? महाराज यतीन्द्रमोहन यदि एक बार स्वयं यहाँ आते तो अच्छा होता।''

इसके बाद बालानंदजी ने एक सिद्ध महापुरुष की कहानी भक्तजनों को सुनाई—नगर के राजमार्ग पर आसन बिछाकर महात्मा एक दिन बैठे हुए थे। इस समय शोर हुआ कि थोड़ी देर बाद उस अंचल के अधिपति उसी मार्ग से कहीं जाने वाले हैं। महात्मा मार्ग के मध्य में बैठे हुए थे। अग्रगामी सैन्य दल ने संन्यासी को सावधान किया—यहाँ नहीं बैठ सकते, राजा आ रहे हैं।

साधु ने आँखें खोल कर केवल इतना कहा—''राजा को कह दो, यहाँ एक महाराज बैठे हुए हैं।'' डरते हुए लोगों ने राजा को खबर दी। पालकी से उतरकर राजा उसी क्षण महात्मा की ओर चल पड़े। महात्मा को प्रणाम करने के बाद बोले, ''सुना है, सरकार भी महाराजा हैं किन्तु महाराजा की फौज कहाँ है?''

''फौज की क्या जरूरत है, कोई मेरा शत्रु नहीं है।'' महात्मा ने हँसकर कहा।

''अच्छी बात है, किन्तु खजाना कहाँ है।'' राजा का दूसरा सवाल था।

''कोई खर्च ही नहीं है, फिर खजाने की क्या जरूरत है? मेरे लिए तो 'स्वदेशः भुवनत्रयम्'। मेरा राजत्व त्रिभुवन में विस्मृत तो फिर महाराजा नहीं तो और क्या हूँ?'' महात्मा ने कहा।

राजा ने महात्मा के कथन के मर्म को समझा। उन्हें साष्टांग प्रणाम करके मार्ग के एक तरफ से होकर चले गए।

महाराज यतीन्द्र सरकार के प्रतिनिधि ने लौटकर यह सारी कहानी महाराज को बता दी। यह सुनकर महाराज लज्जित हुए। इसके बाद वे स्वयं महाराजजी के चरणों में भक्तिभाव से उपस्थित हुए।

''मेरे जैसे संसारी व्यक्ति का क्या कर्तव्य है?'' महाराज ने ब्रह्मचारीजी से प्रश्न किया, ''नाना प्रकार के बन्धनों में फँसे रहकर आध्यात्मिक उन्नति के लिए वे किस मार्ग पर अग्रसर होंगे?''

"महाराज अब आप उलट जाइए।" बालानंदजी ने कहा।

महाराज जब बालानंद की बात का मर्म नहीं समझ पाए तो बालानंदजी ने कहा, "महाराज, इस समय आपके पास जो कुछ है, सब यथावत रहेगा, केवल अपनी बुद्धि और दृष्टिकोण में परिवर्तन लाना होगा। 'सब मेरा' की जगह कहना होगा, 'सब तेरा', अर्थात अपने अहं बोध के स्थान पर भगवान को स्थापित करना होगा। यह बोध त्यागना होगा कि आप मालिक हैं। स्वयं मैनेजर समझना होगा।" किसी माई को यदि यह बात समझानी होती तो कहता—"माई, अब दाई बन जाइए।"

एक घटना १९०६ ईस्वी की है। बालानंदजी गंगोनाथ आश्रम में आए थे। गुरुजी ब्रह्मानन्द महाराजजी ने इस समय पूर्ण समारोह के साथ महारुद्र यज्ञ और महामृत्युंजय यज्ञ का अनुष्ठान किया। एक दिन हँसी में उन्होंने बालानंदजी से कहा, "बाला, अब मैं इस मर्त्य शरीर का त्याग करूँगा।"

"यह क्या बात हुई गुरुजी, आप स्वेच्छा से और भी बहुत दिनों तक इस शरीर को धारण किए रख सकते हैं।" बालानंदजी ने कहा।

"और नहीं, यह बहुत पुराना हो गया।" ब्रह्मानंदजी ने कहा।

माघ महीने के एक पुण्य दिवस को भोर में महायोगी ब्रह्मानंद महाराज अपने कुटीर में ध्यानस्थ हुए। उनका ध्यान भंग फिर कभी नहीं हुआ। आश्रम के एक किनारे नर्मदा के तट पर बैठकर बालानंदजी तपस्या में लीन थे। सहसा उन्होंने देखा नर्मदापुत्र योगेश्वर ब्रह्मानंदजी जिस कुटिया में आसन लगा कर बैठा करते थे, वह धू-धू करके जल उठा। दूसरे ही क्षण वहाँ से एक अग्निशिखा उठी और आकाश में जाकर विलीन हो गई। बालानंदजी को यह समझते देर नहीं लगी कि योगेश्वर की ज्योति सत्ता हमेशा के लिए देहत्याग करके चली गई।

बालानंदजी ब्रह्मानंदजी के प्रथम शिष्य थे। गुरुजी के देह-त्याग के बाद वे उनके आश्रम में नहीं रहना चाहते थे। गंगोनाथ की गद्दी ब्रह्मानंदजी उन्हें दे गए थे लेकिन बालानंदजी ने उसे अपने गुरुभाई केशवानंदजी को सौंप दिया और स्वयं देवघर लौट आए।

धीरे-धीरे बालानंदजी के शिष्यों की संख्या काफी बढ़ गई। एक समय बालानंदजी अपना करवीबाद आश्रम छोड़ कर वैद्यनाथ धाम में वास कर रहे थे। १९९४ सं० के २६ ज्येष्ठ को मध्यरात्रि में वे ब्रह्मलीन हो गए। इस प्रकार नौ साल की अवस्था में उज्जयिनी के महाकाल ज्योतिर्लिंग के पादपीठ से जो जीवनयात्रा शुरू हुई थी, वैद्यनाथ ज्योतिर्लिंग की परम सत्ता में विलीन हो गई।

●

श्री भगवानदास बाबाजी

श्री भगवानदास बाबाजी प्रसिद्ध वैष्णव संत थे। उन्होंने श्री श्री नाम ब्रह्म विग्रह को अपने भक्ति बल से जाग्रत् किया था। इस विग्रह की जीवन्तता का प्रचार देश भर में हुआ और मन्दिर के प्रांगण में भक्तों तथा वैष्णव जनों की अपार भीड़ उमड़ने लगी।

यह काल उन्नीसवीं शताब्दी के तृतीय चरण का था।

उस दिन ठाकुर का बाल भोग समाप्त हुआ था तभी बाबाजी महाराज ने अपनी झोली और माला के साथ निकटस्थ भजन-कुटीर में प्रवेश किया। कुछ क्षणों के जप और अनुष्ठान के बाद वे भावविह्वल हो उठे। उनके दोनों नेत्र अर्ध-निमीलित हो गए और हाथ की माला यंत्रवत् घूमती-घूमती ठहर गई थी।

इसी समय वर्द्धमान के महाराजा ने कुटीर में प्रवेश किया। बाबाजी ने अपने हाथ की माला आसन पर रखी और चीखे—"ओ रे! मारो, मारो निकाल दो, निकाल दो।" महाराजा बाबाजी के क्रोध से सहम गए। लेकिन दूसरे ही क्षण बाबाजी एकदम शान्त हो गए। उनकी आँखें बंद हो गईं। शरीर श्लथ हो गया। वर्द्धमानाधिपति ने सोचा कि बाबा की स्थिति सामान्य हो तो उनके इस अचानक क्रोध का रहस्य पूछा जाए।

थोड़ी देर बाद बाबाजी का बाह्यज्ञान लौट आया और वे सहज हो गए। उन्होंने सामने देखा। विशिष्ट भक्त पर निगाह पड़ते ही पूछा, "बाबा, कब हुआ आपका आना? श्री ठाकुर ने आनन्द से तो रखा है? श्री श्री नाम ब्रह्म का प्रसाद पावा है न?"

महाराजा बाबाजी के इस भाव-परिवर्तन से आश्चर्यचकित हो गए। उन्होंने साहस करके बाबाजी से पूछा, "बाबा, कुटीर में घुसते ही आप क्रोधित होकर मुझे मारकर निकाल देना क्यों चाह रहे थे? यह ठीक है कि मैं विषयी हूँ लेकिन हूँ तो श्री श्री नाम ब्रह्म का भक्त। बाबा, किस कारण से ऐसे कटु वाक्य मुझे कहे आपने?"

"यह क्या जी! सर्वथाभ्यागतो गुरुः। अभ्यागत मात्र ही वैष्णवों के निकट परम आराध्य हैं। उन्हें कोई कटु बात कहने से तो श्री भगवान का ही असम्मान होता है। आपको कब मैंने कटु बातें कहीं?" बाबाजी ने आश्चर्य व्यक्त किया।

''जी, आपके चरण दर्शन करने आने के साथ ही 'निकाल दो' कहकर आप मेरे प्रति रोष व्यक्त करने लगे थे।''

यह बात सुनकर बाबाजी बहुत लज्जित हुए। कोमल एवं मधुर वाणी में कहने लगे, ''नहीं बाबा, आप अपने मन में जरा भी दुःख न लाएँ। मैंने आपको लक्ष्य कर यह सब नहीं कहा। आप कब आए, यह भी इन स्थूल नेत्रों से मैंने नहीं देखा। उस समय श्री वृन्दावन धाम में गोविन्द मन्दिर के तुलसी-चबूतरा के ऊपर चढ़कर एक बकरी तुलसी पत्रों को खा रही थी। प्रभु की सेवा में विघ्न होगा, यह सोचकर मैं उसे भगाने लगा था।''

बाबाजी की बात सुनकर महाराजा विस्मय में पड़ गए। उन्होंने बाबाजी को प्रणाम किया और घर की राह पकड़ी। मन में निश्चय किया कि बाबाजी की बात की सत्यता का पता लगाना जरूरी है। उसी दिन उन्होंने अपने वृन्दावन-निवासी एक मित्र को तार भेजा। मित्र ने बताया कि महाराजा ने तार में जिस समय का उल्लेख किया है, उस समय गोविन्द मन्दिर के तुलसी चबूतरा पर लगे हुए तुलसी के नवीन पौधे को एक बकरी खा रही थी। परन्तु कालूना निवासी भगवानदास बाबाजी अकस्मात मन्दिर-प्रांगण में प्रकट हुए और चिल्लाते हुए हाथ और डंडे से उस बकरी को भगा दिया। भजन करते समय बाबाजी वृन्दावन भी पहुँच गए, उनकी इस अलौकिक लीला से महाराजा और क्षेत्र की जनता के मन में उनकी छवि अलौकिक संत के रूप में बन गई।

उड़ीसा के एक गाँव में जन्में बालक भगवानदास बचपन में ही वैष्णव महात्माओं से प्रभावित हुए और एक कंगाल वैष्णव के वेश में वृन्दावन वनधाम के लिए चल पड़े। उन्हीं दिनों विख्यात वैष्णव आचार्य सिद्ध कृष्णदास बाबाजी गोवर्द्धन पर्वत पर भजन में लीन थे। उत्कल देश के रहने वाले इस महा वैष्णव के आशीर्वाद के लिए देश के विभिन्न भागों से गौड़ीय वैष्णव आ रहे थे। उसी दिन भगवानदास ने भी इन्हीं महापुरुष के चरणों में आश्रय ग्रहण कर उनके हाथों से 'भेक' ग्रहण किया। इसके बाद गुरु के आश्रय में बहुत दिनों तक रहकर निगूढ़ साधना की। विविध भक्ति-शास्त्रों का अध्ययन किया। फिर गुरुकृष्णदास बाबाजी के आदेशानुसार वर्द्धमान के अम्बिका-कालूना में वास करने लगे। वहीं वैष्णव-साधना प्रसिद्ध श्री नाम ब्रह्म 'विग्रह की सेवा' प्रकट हुई।

यही उत्कलीय वैष्णव काल-क्रम से गौड़ीय भक्त और साधक समाज में एक महासमर्थ आचार्य के रूप में प्रसिद्ध हुए। आपकी कीर्ति दूर-दूर तक फैली।

बाबाजी रामानुगा साधना को निगूढ़ तत्त्व की जानकारी उसी शिष्य को देते जो उनकी परीक्षा पर खरा उतरता। इस साधना की जो सिद्धि उन्हें मिली थी उसे अपनी सत्ता के गम्भीर स्तर में बिना प्रयास के ही संगोपित रख सकते थे।

उच्छ्वास और भावावेग-वर्जित सदा गम्भीर-मूर्ति वैष्णव ने समकालीन भक्त-समाज में श्रद्धा का स्थान बना लिया था।

श्री मन्दिर के भोग एवं आरती के बाद बाबाजी के लिए महाप्रसाद लाया जाता लेकिन वे इसे पहले स्पर्श नहीं करते। एक पुराने सर्प की प्रतीक्षा करते। सर्प आकर प्रसाद का कुछ अंश ग्रहण करते, उसके बाद ही बाबाजी प्रसाद ग्रहण करते। कोई नहीं जानता था कि सर्प कहाँ से आता है। एक दिन एक भक्त ने इस सर्प को लाठी पर उठा कर सहन के सिरे पर फेंक दिया। बाबाजी यह सुन कर बहुत दु:खी हुए। उन्होंने भक्त को बुलाकर कहा, ''वह मेरे नाम ब्रह्म के बड़े भाई अनंतदेव हैं। तुमने आज उनके साथ ऐसा निष्ठुर व्यवहार किया।'' बाबाजी ने उस भक्त को तुरन्त आश्रम से निकाल दिया।

भजन-सिद्ध महासाधक बाबाजी एकान्त निष्ठा के साथ अपने इष्टदेव की आराधना में संलग्न रहते। जिस दिन भजन का सम्यक स्फुरण न होता उस दिन भोजन नहीं ग्रहण करते। कभी-कभी आहार के बिना तीन-चार दिन भी बीत जाते। कभी-कभी भजन के फल से आनंदानुभूति के कारण आहार की खोज में एक बालक की तरह निकल पड़ते। किसी दिन देर रात्रि में आहार की इच्छा कर बैठते। भक्तगण दौड़ कर बाजार से मिष्ठान्न लाते तब वे सन्तुष्ट होते। बाबाजी श्री विग्रह के चरणामृत का छींटा देकर बाजार से लाई गई भोजन-सामग्री को शुद्ध करके ग्रहण करते।

बाबाजी की श्रद्धा-भक्ति और सरलता अतुलनीय थी। एक बार प्रभुपाद विजयकृष्ण गोस्वामी बाबाजी का दर्शन करने के लिए कालूना पधारे। गोस्वामीजी ब्रह्म समाज के एक विशिष्ट आचार्य थे। विजयकृष्ण का परिचय पाते ही बाबाजी ने उन्हें साष्टांग दण्डवत किया। गोस्वामीजी उनके परमाराध्य श्री अद्वैत के वंशोद्भव थे।

गोस्वामीजी सफर से थके और प्यासे आए थे। आश्रम में प्रवेश करते ही उन्होंने एक भक्त से जल माँगा। बाबाजी स्वयं बाहर आए और अपना कमण्डल अच्छी तरह धो-माँज कर स्वयं जल ले गए। बाबाजी के इस आचरण को देखकर गोस्वामीजी भौंचक रह गए। सरल भाषा में उन्होंने कहा, ''बाबा, मैं ब्राह्म हूँ, मुझे अपने कमण्डल में जल पीने के लिए न दें। ब्राह्म होने के अलावा मैं जाति-भेद नहीं मानता। जिसका-तिसका छुआ भात खाता फिरता हूँ।'' बाबाजी हाथ जोड़कर गोस्वामीजी के समक्ष खड़े हो गए। मुस्कराते हुए बोले, ''प्रभु, जाति-बुद्धि और भेद-बुद्धि रहते क्या कभी भक्ति देवी की कृपा होती है? आप इस आश्रम की और परीक्षा न लें, कृपा कर पानी पीएँ।'' प्रभुपाद के जल ग्रहण करने के बाद बाबाजी ने कमण्डल माथे से लगाया और उसमें बचा जल खुद पी गए।

उस समय आश्रम में कई व्यक्ति उपस्थित थे। उनमें से एक ने इस कार्य की आलोचना कर दी, ''देखता हूँ कि गोस्वामीजी ने ब्राह्मण संतान होकर भी यज्ञोपवीत का त्याग कर दिया है।'' इस पर बाबाजी ने विनती की, ''बाबा, ऐसी बात कभी मुँह से मत निकालना। जानते हो, मेरे अद्वैत प्रभु की देह में भी कभी जनेऊ नहीं रहता था। जरा देखो तो मेरे श्री अद्वैत की संतान की कैसी महिमा है। ब्रह्म समाज में प्रवेश किया है, परन्तु वहाँ भी आचार्य होकर ही बैठे हैं।''

इस पर आलोचक व्यक्ति ने विद्रूपता से कहा, ''कैसे आचार्य हैं, यह तो दिखाई ही पड़ रहा है। कोट-जूता पहनने वाले आधुनिक आचार्य।'' इस कटु बात से बाबाजी की आँखों में आँसू भर आए। दुःखी होकर बोले, ''ऐसा कहना महा अपराध है, बाबा। अपने प्रभु को अच्छी तरह सजा-सँवार कर रखना तो हमलोगों का ही कर्तव्य है, परन्तु हमलोग कैसे अभागे हैं कि कुछ भी नहीं कर पाते। इतने पर भी उन्होंने अपने प्रयोजन के अनुसार कुछ संग्रह कर लिया है तो उसे देखकर जो हम लोग थोड़ा आनंदित होते, यह सौभाग्य भी हमें नहीं प्राप्त है।'' आलोचक का सिर उसी क्षण लज्जा से झुक गया।

कालूना आश्रम में बाबाजी ने एक बिल्ली भी पाल रखी थी। वह प्रतिदिन प्रसाद का एक अंश ग्रहण करती। बाबाजी को जिस दिन भोजन में विलम्ब होता उस दिन वह बिल्ली चिल्लाती हुई उनके चारों ओर चक्कर लगाती। बाबाजी की थाली का ढक्कन हटते ही बिल्ली खूब प्रसन्न होती और अपना हिस्सा खाकर हट जाती। उसके बाद बचा हुआ भोजन बाबाजी अपनी सुविधानुसार ग्रहण करते।

परमसिद्ध भगवानदास बाबाजी का यश दूर-दूर तक फैल चुका था। रामानुगा भजन के निगूढ़ धारापक्ष का अनुगमन करके ही बाबाजी की साधना आगे बढ़ रही थी। किन्तु बाबाजी के बाह्यावरण को भेद कर उनके इस मधुर स्वरूप का दर्शन करने का सौभाग्य विरलों को ही प्राप्त होता। मधुर रस से आच्छादित भजन के भावोच्छ्वास को सुसंयत कर सकने की शक्ति बाबाजी महाराज के जीवन में अत्यन्त सहज हो गई थी। यही थी उनके साधक जीवन की चरम विशिष्टता।

एक बार आश्रम से श्री नाम ब्रह्म के कई कीमती आभूषणों की चोरी हो गई। यह कुकृत्य विग्रह के ब्राह्मण पुजारी ने ही किया था और आभूषणों की चोरी करके भाग गया था। इस खबर को सुनते ही कालूना के सामाजिक जीवन में एक भूचाल आ गया। उत्तेजित भक्तगण पुलिस की सहायता लेना चाहते थे। किन्तु बाबाजी इससे असहमत थे। वे मुस्कराते हुए कहते, ''आहा! तुम लोग इतने परेशान क्यों हो रहे हो? हो सकता है, श्री नाम ब्रह्म की इस समय आभूषण पहनने की इच्छा न हो। इसलिए उन्होंने पुजारी को यह सब ले जाने दिया है। अच्छा, अभी कुछ दिन ऐसे ही रहें न!''

इस घटना के कई महीने बाद वही पुजारी एक दिन प्रातः आश्रम में उपस्थित हो गया। उसके पास एक पोटली थी जिसमें वे सभी आभूषण बँधे थे जिन्हें वह चुरा कर ले गया था। बाबाजी के समक्ष वह पोटली रखने के बाद पुजारी रोने लगा। उसने स्वीकार किया, ''लोभ में पड़कर ही श्री नाम ब्रह्म के इन सभी आभूषणों को लेकर मैं भाग निकला था। किन्तु इन्हें तोड़ने के लिए मन राजी नहीं हुआ। अनुताप और प्राण की अशांति से इतने दिनों तक मैंने भयंकर कष्ट सहा है। इसलिए इन गहनों को लौटा लाया हूँ। बाबा, आप मुझे क्षमा करें।''

बाबाजी ने उस ब्राह्मण को आश्वस्त करने के बाद भक्तों से कहा, ''यह देखो ठाकुर का नया खेल! श्री नाम ब्रह्म की फिर आभूषण पहनने की इच्छा हुई। तभी तो स्वयं ही फिर उन सबों को मँगा लिया है। छिछोरा-छिछोरा। चिर दिन का छिछोरा। कब उसकी इच्छा क्या होगी, कोई नहीं जानता। जाओ, फिर सब गहने पहना दो।'' बाबाजी ने उस ब्राह्मण को फिर पुजारी पद पर बहाल कर दिया।

एक बार आश्रम में विष्णुदास नामक शिष्य बीमार पड़ गए। रोग बढ़ता जा रहा था। एक दिन बाबाजी ने बुलाकर कहा, ''ओरे विष्णुदास, तुम्हारा ज्वर तो जा नहीं रहा है, डॉक्टर को दिखाकर कोई दवा लाओ न।''

''जी, औषध-वौषध क्यों लाऊँ? श्री नाम ब्रह्म से ही अच्छा हो जाऊँगा।'' विष्णुदास ने सविनय उत्तर दिया।

बाबाजी आक्रोश में बोल उठे, ''हाँ, तू अभी ही जैसे बड़ा सिद्ध पुरुष हो गया है। श्री नाम ब्रह्म को तुम्हारे लिए डॉक्टर बनाना पड़ेगा। रोग हुआ है, औषधि खाओ, तभी तो रोग छूटेगा! यह सब प्रायश्चित्त के अन्दर है, इसे जान रखो। जो सब कर्तव्य तुम्हारे करने के हैं, उनका मार श्री नाम ब्रह्म पर क्यों छोड़ेगा, बता तो सुनूँ?''

विष्णुदास को गुरुदेव के निर्देशानुसार आलम्ब वैद्य की औषधि खानी पड़ी और वह बहुत जल्द ही स्वस्थ हो गए।

एक बार बाबाजी के मन में आया कि वह श्री नाम ब्रह्म के आँगन के सामने तालाब खुदवाएँगे। जल में एक मंच बनवाएँगे और उस पर बैठकर श्री विग्रह के सामने ध्यान-जप करेंगे। बाबाजी ने दूसरे दिन से ही पोखर के लिए मजदूर लगाने का आदेश दे दिया। भक्तों और शिष्यों ने कार्य शुरू कर दिया। भारी संख्या में मजदूर लगाए गए। शीघ्र ही एक छोटी सी पोखर तैयार हो गई। उसमें बाँस का एक ऊँचा मंच भी बन गया। किन्तु यह सब देखकर बाबाजी बच्चों की तरह भाव-विभोर हो गए। उनका उत्साह देखते ही बनता था। उन्होंने मंच पर चढ़ कर भजन आरम्भ कर दिया। किन्तु एक घटना ऐसी घटी जिसने बाबाजी की सारी परिकल्पना को ही विफल कर दिया। बाबाजी ने कई दिनों तक

इसी मंच पर बैठकर भोजन किया। एक दिन उन्होंने देखा कि बछड़ा फिसल कर जल में गिर गया है। वह सोचने लगे, इस स्थान पर क्या गो-वध होगा? बाबाजी जोर-जोर से चीखने लगे। उनकी आवाज सुनकर भक्तगण इकट्ठा हुए और बछड़ा जल में से बाहर निकाला गया। इस तरह उस जीव की प्राण-रक्षा हुई। किन्तु बाबाजी ने इस तालाब को पटवा देने का निश्चय कर लिया। उन्होंने तुरन्त भक्तों से कहा, ''ओरे, अब मैं इस पोखर में बैठकर भजन नहीं करूँगा। तुम लोग इसे अभी भर दो, अंत में क्या मुझे गो-वध के पाप में लिप्त होना है?'' आनन-फानन में वह तालाब भर दिया गया।

आश्रम में रसोई बनाने के लिए लकड़ी खरीदी जाती। बाजार में उसका मूल्य तीन आना प्रति बोझा था। बाबाजी एक दिन लकड़ी बेचने वाली एक बुढ़िया को तीन आना देते देख कर वहीं खड़े हो गए। इन्हें ज्ञात हुआ कि बुढ़िया की रोजी यही है और उसे घर में कई प्राणियों का पालन करना पड़ता है। वह सुनते ही बाबाजी आग-बबूला हो गए। बोले, ''यह कैसी बात? तीन आने से इसका संसार कैसे चलेगा? इसे इतने लोगों का पालन करना पड़ता है। इसे दो गुना दाम देना होगा।'' बुढ़िया को दूने पैसे दिए गए।

उसी समय नवद्वीप धाम के चैतन्यदास बाबाजी भी खूब प्रसिद्ध थे। जब इन दोनों सिद्ध महापुरुषों का मिलन होता तो आनन्द का रस फूट पड़ता। प्रेमलीला और कृत्रिम कोप-प्रकाश से दोनों लोग अद्भुत प्रेम-नाटक करते। दोनों विभूतियों का रहन-सहन भिन्न किस्म का होता है। बाबाजी में भाव-गांभीर्य था किन्तु चैतन्यदास सखीवेश, रसानुभूति के उबाल और उन्माद का प्रदर्शन करते। उन्हें देखकर बाबाजी कटाक्ष करते, ''छिछोरा, छिछोरा, पूरा-पूरा निर्लज्ज ओ छिछोरे!'' फिर भी इन दोनों महात्माओं में अंतरंगता की सीमा नहीं रहती।

एक बार बाबाजी नवद्वीप आश्रम आए। उद्देश्य था, श्रीमान महाप्रभु के मन्दिर में सदा जाग्रत् मोहन मूर्ति का दर्शन करना। इसी बहाने वह चैतन्यदासजी से भेंट भी करना चाहते थे। बाबाजी जब श्री मन्दिर गए तो देखा कि गौर-प्रेमिक सदा भावोन्मत्त चैतन्यदास आँगन में झाड़ू लगा रहे हैं। किन्तु चैतन्यदास ने बाबाजी को देखते ही एक अद्भुत आचरण किया। हाथ में झाड़ू उठाए दौड़ते आए भगवानदास बाबाजी के पास और कुपित होकर कहने लगे, ''मैं समझता हूँ, तू मेरे प्राण-वल्लभ को ले जाने आज आया है। इसी क्षण बाहर निकल जाओ नहीं तो झाड़ू से मारकर देह तोड़ दूँगा।'' उपस्थित भक्त-मण्डली तो चैतन्यदास का यह रूप देखकर अवाक् रह गई। बाबाजी के प्रति ऐसा व्यवहार देख कर सभी लोग क्षुब्ध हो उठे।

लेकिन बाबाजी आँगन में खड़े होकर मधुर मुस्कान बिखेर रहे थे। इसके बाद चैतन्यदास के भाव से भाव-प्रवण होकर वह भी कहने लगे, "अजी, तुम मेरे ऊपर व्यर्थ ही इतना कोप क्यों करते हो? मैं तो नहीं चाहता कि तुम्हारे प्राण वल्लभ नदिया त्याग करें, किन्तु वह तो चोरी-चोरी कालूना आ जाते हैं। बेहतर हो तुम उनके ऊपर ही ज्यादा नजर रखा करो।"

चैतन्यदास का अभिमान बाबाजी की मधुर वाणी सुनकर काफूर हो गया। वे मन्दिर में घुसे और दरवाजा अंदर से बन्द कर लिया। बाहर खड़े लोगों को केवल चैतन्यदास के आर्तनाद सुनाई पड़ रहे थे। कुछ देर बाद चैतन्यदास जब मन्दिर के बाहर निकले तो बिल्कुल सहज लग रहे थे। वे बाबाजी का हाथ पकड़ कर मन्दिर के भीतर ले गए। दो महाप्रेमियों के आनन्द और भाव-विह्वल नर्तन से वहाँ प्रेम की धारा प्रवाहित हो गई।

बाबाजी के आचरण में रसावेश बहुत कम देखा जाता। रागानुगा भजन के वे एक सिद्ध साधक थे, किन्तु प्रेमोच्छल की रसधारा उनके बाह्य जीवन में बहुत कम दिखाई पड़ती थी। इस अंतर्मुखी प्रेम-प्रवाह को भगवानदास बाबाजी अपने भाग्यवान शिष्यों के साधक जीवन में सहज ही संचारित कर सकते थे। परन्तु निगूढ़ प्रेम-रस की इस धारा को धारण करना सभी के लिए सहज-साध्य नहीं था। इसी तरह कुछ चुने हुए शिष्य गण ही इस परमवस्तु को प्राप्त कर सके। वैष्णव साधना के बहिरंग ज्ञान में भी बाबाजी का अवदान कम नहीं था। भजन और सेवा से आदर्श को महिमा से भरकर वे सारे प्रदेश में फैल गए। परिणत वपस में नित्य लीला में प्रविष्ट न होने के बावजूद उनके इस व्रत में किसी दिन त्रुटि नहीं हुई।

अलौकिक सिद्धि के बावजूद बाबाजी उसका प्रदर्शन या इस्तेमाल आमतौर पर नहीं करते थे। भक्तों और शिष्यों को भी अपने जीवन में अकपट भजन, निष्ठा और स्वाभाविक शुद्धाचारी जीवन के आदर्श को रूपायित करने पर ही ज्यादा जोर देते। शिष्यों के द्वारा किसी लौकिक कर्तव्य या सामाजिक आचार का उल्लंघन वह कभी पसन्द नहीं करते। भाव-भण्डार से चोरी करने वाले दुर्बल साधक को बाबाजी का कठोर शासन और निर्मम आघात सहना पड़ता। जैसे विष्णुदास की बीमारी के मामले में हुआ। बाबाजी चाहते तो अपने अलौकिक प्रभाव से उन्हें तुरन्त रोगमुक्त कर सकते थे किन्तु उन्हें लौकिकता का आश्रय लेने के लिए विवश किया। उन्हें वैद्य के यहाँ जाना पड़ा और उसी की दवा से वे ठीक हुए लेकिन बाबाजी का आशीर्वाद तो साथ था ही।

●

हंस बाबा अवधूत

शिवरात्रि का दिन था। दिन भर भजन-कीर्तन और इसके बाद ब्रह्मसूत्र का पाठ करने के बाद स्वामी अनुभवदेव अपनी साधन-कुटी में जाकर बैठे ही थे कि एक बालक उन्हें साष्टांग दण्डवत किया। अलौकिक आभा से प्रदीप्त मुखमण्डल वाले इस बालक को देखकर स्वामीजी पुलकित हो उठे। बालक से पूछा, "तुम्हारा घर कहाँ पर है? तुम्हारे साथ किसी को भेज दूँ?"

"महाराज, उसकी जरूरत नहीं है। मैं सब दिन के लिए घर-बार छोड़कर यहाँ चला आया हूँ। आपके आश्रम में ही शरण पाना चाहता हूँ।" बालक ने व्यग्र कण्ठ से उत्तर दिया।

स्वामीजी ने सोचा था कि रात ज्यादा चली गई है। चारों ओर जंगल और अंधेरा है, इसलिए इस बालक को अब अपने घर चले जाना चाहिए। लेकिन उसका उत्तर सुनकर स्तब्ध रह गए। उनकी भौंहों पर बल पड़ गए। बोले, "बेटा, क्या तुम माँ-बाप से झगड़ आए हो? तुम्हें पढ़ना-लिखना अच्छा नहीं लगता। साफ-साफ बताओ।"

"महाराज, ऐसा कुछ नहीं है। मैं साधु बनना चाहता हूँ। शिवजी के चरणों में सदा के लिए उत्सर्ग कर दूँगा। आप मुझ पर कृपा करें। अपनी शरण में आश्रय दें।" बालक ने अनुनय करते हुए कहा।

अनुभवदेव इस बालक की ओर अपलक निहारते रहे। समझ गए कि पूर्वजन्म का सात्विक संस्कार प्रबल है। वही संस्कार बालक को घर से निकाल लाया है और इसके भीतर आध्यात्मिक भाव भर गया है। इसे यूँ ही नहीं छोड़ा जा सकता।

"बेटा, तुम्हारी उम्र कितनी है?" स्वामीजी ने पूछा।

"बारह साल।" बालक ने उत्तर दिया।

"इस उम्र में संन्यासी बनने की बात तुम्हारे मन में कैसे आई?" स्वामीजी का अगला प्रश्न था।

"महाराज, मैंने आपके बारे में अनेक बातें सुन रखी हैं। एक दिन मेरे घर एक संन्यासी आए थे। उन्होंने बताया कि अमृतसर के वेदान्ती साधु अनुभवदेव की कोई तुलना नहीं है। सम्पूर्ण पंजाब के गौरव हैं। उनकी बात सुनकर मेरे मन में आपके प्रति श्रद्धा उमड़ आई। उसके बाद शरीर पर जो कपड़ा था उसी में मैं

घर से निकल पड़ा और आपके चरणों में आश्रय पाने के लिए पैदल ही चला आया।'' बालक ने कहा।

''देखो बेटा, साधु का एक ही लक्ष्य रहता है ईश्वर की प्राप्ति। इसके लिए सभी तरह के सुखों का विसर्जन करना पड़ता है। देहबोध, अहंबोध सभी को उखाड़ फेंकना पड़ता है। तभी उस परम रस में अपने को मिला देने का अधिकार मिलता है। तुम बच्चे हो। इन सब बातों को अभी समझ नहीं पाओगे। जब शरीर के तमाम सुख-आराम को छोड़ सको, तभी सच्चे साधु बन सकते हो।'' स्वामीजी ने कहा।

यह बालक अपने संकल्प पर अटल था। जीवन की सारी सुख-सुविधाओं को त्याग कर, परम सुख और परमशांति की प्राप्ति के लिए उसने आश्रम-जीवन ग्रहण कर लिया। चरमकृच्छ साधना, स्वाध्याय और योग-तप के माध्यम से वह अंततः एक महा वेदांती संन्यासी के रूप में विख्यात हुआ। हंसदेव अवधूत के नाम से। संथाल परगना के जसीडीह में स्थित कैलाश पर्वत पर इस सिद्ध महापुरुष का आश्रम स्थापित हुआ। इस आश्रम में सैकड़ों मुमुक्षगण इनका आश्रय पाकर धन्य हुए।

हंस बाबा का आविर्भाव उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में पंजाब की एक छोटी-सी बस्ती में हुआ। एक उच्च ब्राह्मण कुल में इन्होंने जन्म लिया। माता-पिता सात्विक प्रवृत्ति के थे। आर्थिक स्थिति ज्यादा अच्छी नहीं थी लेकिन घर पर प्रायः साधु-संतों का आगमन होता रहता था। इन साधु-संतों से बालक हंसदेव को प्रायः आध्यात्मिक कहानियाँ सुनने को मिलतीं, और उसका मन इन कहानियों में रमा रहता।

उन दिनों समाज में साधु-संतों के प्रति आदर-भाव कुछ ज्यादा ही रहता था। हंस बाबा कभी-कभी बताते, ''देखो, पिछले जमाने में हम लोगों का ग्राम-जीवन इन दिनों जैसा नहीं था। अपनी ही समस्या को केन्द्रित करके समाज-जीवन नहीं चलता था। गाँवों में खाद्य-सामग्री प्रचुर मात्रा में थी। सभी लोग भौतिकता से अधिक आध्यात्मिकता का ध्यान रखते। लोगों में साधु-सेवा और परोपकार-वृत्ति प्रमुख थी। पंजाब के हर गाँव में गृहस्थ लोग अपने दैनिक प्रयोजन के अतिरिक्त तीन अंश और रोटियाँ प्रस्तुत करते। पहला साधुओं के लिए, दूसस अतिथि अभ्यागत के लिए और तीसरा धर्मशाला में आने वाले व्यक्तियों के लिए तैयार रख छोड़ा जाता था। ऐसे वातावरण में हम लोग पैदा हुए। इसलिए बचपन से ही सात्विक भावना की ओर झुकाव होना स्वाभाविक था।''

हंस बाबा बताते—''गाँव के मध्य में एक विशाल बरगद का पेड़ था। इसी के नीचे नागा संन्यासियों की छावनी लगती थी। एक आकर्षण से मैं इस नग्न संसार से विरक्त साधुओं की ओर खिंचता चला जाता। बड़े उत्साह से उन

लोगों की गाँजे और चरस की चिलम भरने लगता। गाँव में घर-घर जाकर वहाँ से दल-पूड़ियाँ, साग-भाजी, हुलुए आदि ला-लाकर उन लोगों को खिलाता-पिलाता। इससे मुझे काफी आत्मिक सुख और परितोष मिलता। सर्वत्यागी, ईश्वरीय पथ के पथिक इन साधकों की ओर ध्यान लगाए रहता और उस समय मुझे गाँव-घर किसी की सुध नहीं रहती। ऐसे ही अवसर पर किसी समय मैंने किसी संन्यासी से अमृतसर के निकट ब्रह्मज्ञानी महापुरुष अनुभवदेव की चर्चा सुनी। दूसरे ही दिन उनकी खोज में निकल पड़ा। फिर उस आश्रम में उपस्थित हुआ। मुझे भाग्य ने महात्माजी के चरण का आश्रय दिला दिया।''

अनुभवदेव के आश्रम में बालक हंसदेव को अनेक जिम्मेदारी निभानी पड़ती थी। विग्रह मूर्ति का पूजन-अर्चन, अभ्यागतों की सेवा के अलावा आश्रम के भक्तगणों के लिए भोजन की तैयारी करनी पड़ती थी। आश्रम में सैकड़ों गाय-भैसें थीं, सबकी देखभाल काफी कष्टकर थी।

ब्रह्म-मुहूर्त से ही शुरू हो जाती थी बाल ब्रह्मचारी की दिनचर्या। ध्यान-जप तथा स्वाध्याय के बाद जंगल में पशुओं को चराने के लिए निकल जाता। शाम को लौटने के बाद भोजन पकाना पड़ता। फिर खाने-पीने के बाद बर्तन-भाड़े साफ करने पड़ते। रात में साधन-भजन और आश्रम के काम पूरे कर जब सोने के लिए जाता तो अंग-अंग पीड़ा से भरा होता।

इस प्रकार श्रम-साधना में पता नहीं कितने वर्ष बीत गए। एक दिन आचार्य ने बुलाकर कहा—''वत्स, आश्रम के काम में इतने दिनों तक तुमने जो प्राणपात परिश्रम किया उससे मैं प्रसन्न हुआ। अब से तुम वेदांत का पाठ ग्रहण करोगे। पंडित काला सिंह इस अंचल के वेदान्तियों में अग्रगण्य हैं और मेरे अत्यन्त अनुगत हैं। वह तुम्हें ज्ञान-दर्शन की उच्चतम शिक्षा देंगे। तुम उन्हें शिक्षा-गुरु के रूप में वरण करो, ज्ञानमार्गीय साधना की भित्ति को और सुदृढ़ कर लो।''

आचार्य ने पंडित काला सिंह के नाम एक पत्र दिया। उसे लेकर हंसदेव उनके पास गए। उन्होंने स्नेह से आश्रय दिया। हंस बाबा ने उनके सान्निध्य में रहकर कई वर्षों तक वेदान्त की शिक्षा ग्रहण की और वेदान्त के जटिल तत्वों को हृदयंगम करने में समर्थ हुए।

इसी बीच एक दिन महात्मा अनुभवदेव का तिरोधान हो गया। हंसदेव अधीर हो उठे। सोचने लगे, अब उनका मार्ग-दर्शन कौन करेगा? मुमुक्षा की जो आग अन्दर धधक रही थी, उस पर अमृत की वर्षा कौन करेगा? वे उद्विग्न हो उठे और निकल पड़े ज्ञान की खोज में। अनेक मठों, मन्दिरों और तीर्थ-स्थलों में भटकते रहे। एक दिन उन्हें निर्वाणी अखाड़े में हीरानन्द अवधूत के दर्शन हुए।

इन्हीं महात्मा ने उन्हें संन्यास-दीक्षा दी। इसके बाद उनका नाम रखा गया हंसराज अवधूत। बाद में वे हंस बाबा के नाम से प्रसिद्ध हुए।

महात्मा हीरानन्द एक सिद्ध महात्मा थे। साधना, त्याग और वैराग्य के मूर्तिमान विग्रह ? हंस बाबा से उन्होंने कहा, "बेटा, यह बड़े हर्ष की बात रही कि तुमने इतने दिनों तक निष्ठापूर्वक ब्रह्मचर्य का पालन किया है। अब तुम निवृत्ति मार्ग पर आरूढ़ हुए हो। अब परिव्राजक के रूप में बारह वर्षों तक घूमने निकलो। किन्तु तुम्हें इस दौरान दो नियमों का पालन करना होगा। कभी किसी गृहस्थ के यहाँ रात्रिवास नहीं करना और अयाचकता का व्रत पालन करते रहना। अपने आप जो भोजन मिल जाय उसी पर जीवन-निर्वाह करना। बेटा, हमेशा याद रखना कि तुम्हारी परम-प्राप्ति वैराग्य-साधना पर ही निर्भर है। चरम कृच्छ्रव्रत का अवलम्बन किए रहो और देह बुद्धि को विसर्जित करने के लिए सर्वस्व न्योछावर कर दो। आशीर्वाद देता हूँ कि तुम्हारी साधना सफल होकर रहेगी, आत्मज्ञान से तुम्हारी हृदय-कंदरा उद्‌भासित हो उठेगी।"

गुरु के वचनों को शिरोधार्य कर हंस बाबा परिव्राजक के रूप में निकल पड़े। गुरु के निर्देशों का बड़ी ही कड़ाई से पालन किया। उन दिोनं कौपीनधारी, तितिक्षामय इस संन्यासी के हाथ में कमण्डल तक नहीं था। जिस मिट्टी के बर्तन में वे पानी पीते, उसका इस्तेमाल दूसरे दिन नहीं करते।

हिमालय की उपत्यका में भयानक ठंड सहे। इस कालावधि के दौरान की कृच्छ्रसाधना के प्रसंग में वे कहा करते—"हमारे गुरु महाराज अत्यन्त कृपालु थे। देहबोध को विनष्ट करने के लिए उन्होंने मेरी कठिन परीक्षा ली। अत्यन्त कठिन परिस्थितियों के बीच से वे मुझे बाहर निकाल लेते। कौपीन-मात्र धारण करके मैंने उत्तराखण्ड में अनेक बार भ्रमण किया। जब हिमपात तेज होता, बाहर रहना असंभव हो जाता तब भी भ्रूक्षेप नहीं करता। किसी-किसी दिन पेड़ के नीचे पत्तों के ढेर पर सोना पड़ता। सिरहाने मिट्टी के पात्र में जल रखा रहता, वह रात में जमकर बिल्कुल बर्फ हो जाता। कड़ाके की ठंड भी मेरी नींद में बाधा नहीं पहुँचा सकती थी। महीने-महीने भर बर्फीले पहाड़ पर वास करने के कारण शरीर के चमड़े एकदम चिभरे और बदरंग हो जाते। मैदान में रहने वालों को हठात् मुझे देखकर मनुष्य कहने में भी हिचक होती।"

गुरु के आदेश से हंस बाबा ने बारह वर्ष तक वैरागी के रूप में परिव्राजक जीवन बिताए। एक दिन भी अपने हाथ का पका भोजन नहीं ग्रहण किया। बिना माँगे जो भिक्षा मिलती, उसी पर जीवन गुजारते। 'हरिहर' की आवाज लगाकर हंस बाबा गृहस्थ के घर प्रतिदिन एक बार उपस्थित होते। कभी कुछ खाने को मिल जाता, कभी भर्त्सना और व्यंग्यवाण मिलते। किन्तु उस तितिक्षावान् संन्यासी के लिए निन्दा और स्तुति में कोई फर्क नहीं था। कोई सांसारिक आचार उन्हें

प्रभावित नहीं कर सका। विश्व के सारे पदार्थ उनके लिए विनाशशील, प्रपंच और माया मात्र थे। उन्हें अनेक बार हिंसक पशुओं के सामने से गुजरना पड़ा। किन्तु इस तपोनिष्ठ साधक के प्राणों की रक्षा अलौकिक भाव से सम्पन्न होती रहती।

एक बार हंस बाबा नंदा देवी पर्वत पर घूम रहे थे। वहीं जंगल के बीच उन्हें एक पर्णकुटी मिल गई। किसी साधु द्वारा बनाकर छोड़ी गई थी। उस पर्णकुटी में रहकर हंस बाबा काफी दिनों तक ध्यान में लीन रहे। ठंड, वर्षा और गर्मी उन्हें प्रभावित नहीं कर पाई। वे अविचल साधना में लीन रहे।

उस समय हंस बाबा की अवस्था 'गुजर गई गुजरान, क्या झोपड़ी क्या मैदान' वाली थी। प्रायः आकाश के नीचे ही उनकी रातें बीततीं। पेड़ के नीचे सूखे पत्तों पर सोकर रातें गुजारते। हिंसक पशुओं का आतंक जहाँ होता, वहाँ पेड़ की डाल पर सोकर रात बिताते। नीचे घास-फूस की धूनी जलती रहती। इसी तरह ब्रह्माभ्यास का अनुष्ठान चलता रहता।

हिमालय से लेकर सागर तक जितने तीर्थस्थल थे, हंस बाबा ने सबकी प्रदक्षिणा पूरी की। एक बार घूमते-घामते वे अफगानिस्तान पहुँच गए। काबुल से कुछ दूर एक निर्जन पहाड़ी पर उनका मन रम गया। उनकी ख्याति शीघ्र ही चारों ओर फैल गई। दूर-दूर से आकर अफगानी लोग उनका दर्शन करके स्वयं को धन्य समझते। अखरोट, बादाम, किसमिस आदि की भेंट चढ़ाते। बहुत से दुःखीजन बाबा की करुणाधारा में तृप्त होने लगे। लोगों की मुरादें पूरी होतीं। किन्तु दर्शनार्थियों के लगातार बढ़ते जाने से बाबा की साधना में व्यवधान पड़ने लगा। अतएव यहाँ लगभग डेढ़ साल के बाद बाबा ने अचानक वह स्थान छोड़ दिया।

लम्बी राह तय करने के बाद वे फिर हिमालय आ गए। हिमालय और पवित्र नर्मदा नदी का तट हंस बाबा के प्रिय स्थान रहे। इन दोनों स्थानों में उन्होंने घोर तपस्या की। कुछ दिन तराई अंचल में भ्रमण किया। इस स्थान में बाघों का बड़ा उपद्रव था। एक दिन जब ध्यान-भजन के बाद हंस बाबा ने खिड़की खोली तो देखा कि एक नरभक्षी बाघ आँगन में आकर बैठा है। उसे मनुष्य-गंध लग चुकी थी। इसलिए चुपचाप बैठकर प्रतीक्षा कर रहा था। हंस बाबा ने सोचा, जिस परमात्मा का ध्यान उनके अंतर में चल रहा है, इस बाघ की प्राण-शक्ति भी उसी का अनुकर्षण जारी है। फिर दोनों में भेदभाव कहाँ। मन में यह विचार कौंधते ही एकाएक उन्होंने घर का द्वार खोल दिया। हंस बाबा ने बाघ के सम्मुख आकर दोनों हाथ जोड़ लिये और कहा, "महात्मन्, हमारे और आपके भीतर वास्तव में भेद नहीं है। एक ही परमात्मा दो भिन्न शरीरों में स्पंदित हो रहे हैं। फिर हम दोनों के बीच बैर-भाव रहे, इसका तो कोई कारण नहीं?" हंस बाबा की बातें सुनकर उक्त नरभक्षी बाघ शांतचित्त होकर उठा और धीरे-धीरे चला गया जंगल की ओर।

एक बार कुछ संन्यासियों के साथ हंस बाबा मध्य प्रदेश के घने जंगल से होकर जा रहे थे। अचानक एक भारी-भरकम बाघ सामने आ गया। उस समय दल का एक वृद्ध संन्यासी जाकर बाघ के सामने खड़ा हो गया और कहा, ''भाई रे, शान्त रहना। यह देख, तेरे खाने के लिए मैंने अपने को तेरे आगे उत्सर्ग कर दिया है। मैं बूढ़ा हो चला, अब कितने दिन शेष रह गए हैं, इस जीवन के? मुझे ग्रहण कर ले और मेरे साथियों को छोड़ दे।'' बाघ का गुर्राना बंद हो गया। उसने सहज ही प्राप्त इस शिकार की परवाह नहीं की। संन्यासी की ओर एक क्षण देखा, फिर जंगल में चला गया।

एक बार वे संन्यासियों के साथ कामाख्या पर्वत पर पहुँचे। दिन भर की यात्रा और ऊपर से पहाड़ की चढ़ाई। सभी थककर चूर हो गए। फिर भी वे रात में देवी के दर्शन के बाद लौटकर जो थोड़ा फलफूल मिला उसी से उन लोगों का भोज़न सम्पन्न हुआ। उसके बाद एक पेड़ के नीचे सभी ने विश्राम किया। अभी नींद भी नहीं आई थी कि एक बाघ आकर खड़ा हो गया। उन दिनों में इस इलाके में बाघ का बहुत ही उपद्रव था। बिना आग जलाए कोई बाहर नहीं रह सकता था। लोग इतना थक गए थे कि किसी को आग जलाने की सुध ही नहीं रही। सभी ने जल्दी से कम्बल तान लिया था। बाघ संन्यासियों की शैया के समीप घात लगाकर बैठ गया। साथियों में से किसी की दृष्टि उस बाघ पर पड़ी। वह चीख पड़ा, ''महाराज, जरा एक बार उठकर देखिए तो। एक शेर आ पहुँचा है। एकदम जमात के बीच घुस गया है।''

दल के मुखिया संन्यासी ने सोए हुए ही कहा, ''आने दो भाई, उनके साथ बातचीत करने की अभी फुरसत नहीं है। अभी जमात में ही उनकी भर्ती कर लो।''

सभी संन्यासी मुखिया की बात सुनकर जड़वत लेटे रहे। अचानक बाघ को सद्‌बुद्धि आई और वह एक छलाँग लगाकर सामने के गड्‌ढे को पार करते हुए कहीं अदृश्य हो गया। थोड़ी ही देर में खर्राटे लेते हुए सभी संन्यासी नींद में डूब गए।

इस प्रकार घूमते हुए हंस बाबा का मन अध्यात्म में रमता गया।

हिमालय की तराई में हंस बाबा पर्यटन को निकले थे। इस समय एक उच्चपदस्थ अधिकारी उनका भक्त था। हंस बाबा के कष्ट को देखकर भक्त ने कहा, ''महाराज, मैंने आपके लिए तम्बू की व्यवस्था कर दी है। जितने दिन आप इस इलाके में परिभ्रमण करें, इसका उपयोग करते रहें। यहाँ से जाने के बाद आप इसे लौटा दीजिएगा। इसमें कोई नुकसान नहीं।''

''नहीं बाबा, मैं जंगली आदमी ठहरा। जब इच्छा हुई जंगल-झाड़ी में कहीं ठहर गया। यह सरकारी तम्बू कहीं भुला जाए तो एक और आफत खड़ी हो जाएगी। इससे मेरा काम नहीं चलने का।'' हंस बाबा ने विनम्रतापूर्वक उत्तर दिया।

"इसके लिए आपको चिन्ता नहीं करनी महाराज! मैं अपना एक आदमी आपके साथ लगा देता हूँ, वह तम्बू की देखभाल करेगा। आपको मेरी यह व्यवस्था अंगीकार करनी पड़ेगी नहीं तो मुझे ही आपके साथ चलना पड़ेगा।"

इस अधिकारी के हठ के आगे बाबा को झुकना पड़ा। उन्होंने आगे की यात्रा में तम्बू साथ ले लिया। एक चौकीदार भी उनके साथ लगा दिया गया।

बाबा रात के समय अपने सोने के घर में किसी को फटकने नहीं देते। इसका कारण यह था कि रात में वे अनेक प्रकार की योग-क्रिया करते। इस बार वह सरकारी चौकीदार को साथ लेकर वह बड़ी विपत्ति में पड़े। वह व्यक्ति रात में तम्बू के बाहर रहने के लिए राजी नहीं होता। उसे हिंसक पशुओं से डर लगता रहता। अन्ततः बाबा को सोने की व्यवस्था बदलनी पड़ी। चौकीदार को उन्होंने तम्बू में सुलाया और खुद पेड़ के नीचे सोने लगे। जब वे लौट कर उस अधिकारी के पास आए तो यह बात छिपा ली, क्योंकि इसकी जानकारी अधिकारी को होने का मतलब था चौकीदार पर विपत्ति का आना। बाबा के भीतर मानवता की भावना जो शुरू थी, उसका निर्वाह वह जीवन भर करते रहे।

निरंतर बारह वर्षों तक परिव्राजक के रूप में बाबा ने बिताए। उसी के साथ चरम कृच्छ्रव्रत और वैराग्य तपस्या का उद्यापन उन्होंने सम्पन्न किया।

यह अवधि समाप्त कर बाबा स्वामी हीरानन्द अवधूत के पास लौट कर आए। इस बार गुरुजी के सान्निध्य में रहकर उन्होंने ब्रह्म साधना का अभ्यास किया। उनकी साधना-सत्ता में परमात्मबोध स्फुटित हो उठा।

स्वामी हीरानन्द अवधूत ने कहा, "वत्स, तुम अब आप्तकाम हो चुके। सर्वपाशविमुक्त होकर तुम अब अवधूत हो। इस बार बंधन में पड़े जीवों के कल्याण की साधना में तुम्हें कुछ काम करना पड़ेगा। अब तुम आचार्य जीवन आरम्भ करो।"

गुरुजी के चरणों की धूल माथे लगाकर हंस बाबा निकल पड़े और अनेक स्थानों का भ्रमण करते हुए संथाल परगना के जसीडीह में आकर आश्रम की स्थापना की।

त्रिकूट पर्वत, तपोवन और दिगरिया पहाड़ी की लम्बी शृंखला और कुछ दूरी पर परेशनाथ पर्वतमाला। इसी पृष्ठभूमि में जसीडीह के एक भाग में एक छोटी-सी पहाड़ी की चोटी पर हंस बाबा की साधना-स्थली। यहाँ के एकांत वातावरण में बैठकर इस तपस्वी की साधना की कल्याणधारा फूट पड़ी। भक्तों ने श्रद्धा से इस आश्रम का नाम कैलास रखा।

साल के कुछ महीने हंस बाबा यहीं वास करते, शेष समय नर्मदा नदी के किनारे एकांत पर्णकुटी में।

पहले तो आश्रम के नाम पर सिर्फ एक कच्चा घर था। बाबा किसी के साथ एक कुटी में रात्रिवास नहीं करते थे। कभी कोई अभ्यागत आ जाता तो उसके लिए कुटी खाली कर देते। स्वयं आँगन में ही रात बिताते।

शुरुआत में रसोई भी खुले में पकती। वर्षा के दिनों में चूल्हा नहीं जलता। उस दिन बाबा उपवास करते। एक बार बरसात में कुटी का छप्पर बिल्कुल चुने लगा। सारे सामान भींग गए। सारी रात बाबा एक छाते के साये में बैठे रहे। दूसरे दिन एक भक्त महिला वहाँ पहुँची। उसे बाबा की यह स्थिति देखकर बहुत ही कष्ट हुआ। महिला भक्त के आश्चर्य व्यक्त करने पर बाबा ने कहा, ''क्यों माँ, मैंने तो बड़े आनन्द से जगे रह कर रात बिताई है। मेघ-वर्षा ने हमारा क्या बिगाड़ रखा है। हाँ, मेरे शरीर को कुछ कष्ट हुआ हो, परन्तु मैं तो अब शरीर मात्र नहीं रहा।''

इसके बाद भक्त महिला निरुत्तर होकर इस महान तपस्वी की ओर देखती रह गईं।

कुछ वर्षों के भीतर भक्तों के प्रयास से एक दो मंजिला मकान और पक्का कुआँ बनकर तैयार हो गया।

कैलास पहाड़ पर पहले साँप बहुत रहते थे। उस समय हंस बाबा के आश्रम में एक ब्रह्मचारी रहा करते थे। कुछ ही दिनों में वे बाबा के प्रिय पात्र बन गए। रोज देर रात्रि में ब्रह्मचारी बिस्तर छोड़ देते। स्नान एवं संध्यातर्पण कर चुकने के बाद जप-तप एवं ध्यान में मगन हो जाते। एक दिन रात के अंधेरे में एक मील दूर कुतुनिया नदी में स्नान के लिए चल दिए। पहाड़ से आधा रास्ता ही उतर पाये थे कि हंस बाबा की आवाज कान में पड़ी—''ब्रह्मचारी, होशियार।'' ब्रह्मचारी तुरन्त ठिठक कर खड़े हो गए। नीचे धरती पर नजर पड़ी तो उन्होंने देखा कि एक विशाल विषधर फन काढ़े सामने बैठा है। क्रोध में आकर फुफकार रहा है। ब्रह्मचारी उस पर डंडे से वार करना चाहते ही थे कि वाणी सुनाई दी—''अरे! उसे मारना नहीं।'' ब्रह्मचारी की तनी लाठी जस की तस रह गई और ब्रह्मचारी मूर्तिवत खड़े हो गए। थोड़ी ही देर बाद सर्प का गुस्सा शान्त हुआ और वह एक ओर को चला गया। दूसरे दिन ब्रह्मचारी ने इस बारे में जब बाबा से पूछा तो उनका उत्तर था—''हम क्या जानें, यह सब परमात्मा की इच्छा है।'' इस तरह बाबा अपनी अलौकिक शक्तियों से भक्तजनों की रक्षा करते थे।

एक दिन एक भक्त ने उनसे पूछा, ''बाबा, यह तो जंगली भूमि है। इसमें इतने साँप और बाघ बसते हैं, फिर भी आपने इनके बीच क्यों अपना वास-स्थल बनाया है? क्या आपको डर-भय नहीं लगता?''

महापुरुष ने हँसते हुए उत्तर दिया—''वत्स, साँप, बाघ और साधु—ये ही तो वन के असली अधिवासी हैं। फिर हमलोगों को भय करने की बात कैसे उठती है?''

धीरे-धीरे हंस बाबा की कीर्ति फैलने लगी और भक्तों तथा पीड़ित जनों की भीड़ बढ़ती गई। हंस बाबा खुद आयुर्वेद के मर्मज्ञ थे। उस पर से योगशक्ति का प्रभाव। परिणामस्वरूप दूर-दूर से रोगी आश्रम में जुटने लगे। बाबा उनका कल्याण करते रहे। बाबा के श्रीमुख से निकली 'हरिहर' की नामधुनि श्रोताओं पर अमृतवर्षा करती रही। जब कभी कोई आनन्दभरा मंगल-संवाद बताता तो बाबा कहते कि "ओह! हरिहर में मशकूल हो गया।" किसी की मृत्यु की सूचना पर कहते, "उसको हरिहर हो गया।"

हंस बाबा की ऋद्धि-सिद्धि का प्रताप इलाहाबाद के संगम तट पर कुंभ मेले के उनके अखाड़े में देखने को मिलता। मेले में निर्वाणी साधु की गैरिक पताका फहराते हुए वे अपनी महिमा से मंडित हो वह विराजते। बस, दल के दल बंगाली, गुजराती, मराठी आदि देश के विभिन्न क्षेत्रों के भक्त उमड़ आते। ज्ञात-अज्ञात साधु-संन्यासियों की भीड़ जुट जाती। नित्य भण्डारा चलता रहता। 'दीपती भुज्यताम्' का महामहोत्सव लगातार चालू रहता। साधु-संन्यासी जब भिक्षा के लिए पहुँचते, महापुरुष उनकी अगवानी के लिए स्वयं खड़े मिलते। "आओ मेरे नारायण", "आओ मेरे प्राण" कहते हुए उन्हें आदर-सम्मान के साथ भीतर ले जाते। प्रत्येक पंगत में हजार-हजार पत्तल परोसे जाते। रुपए, पैसे, अन्न, घी, आटा इत्यादि कहाँ से आता, कोई नहीं जानता। लोगों के लिए यह विस्मय की चीज थी। लोग इसे बाबा की योग-विभूति का प्रभाव मानते क्योंकि बाबा आश्रम में कभी कुछ जमा नहीं करते।

हंस बाबा से जब इस बारे में प्रश्न किया जाता तो वे हँसते हुए उत्तर देते—"देखो, यहाँ तो जो कुछ चलता है, परमात्मा की इच्छा से ही।"

बाबा अपने इस प्रिय दोहे को बराबर गुनगुनाते रहते—

साईं सबको देत हैं, पोसत हैं दिन-रैन।
लोक नाम मेरे कहे, ताते नीचे नैन॥

अर्थात परमेश्वर ही सबका पोषण करता है, फिर भी लोग घोषित करते हैं कि मैं ही देता हूँ। इसी से मेरी आँखें संकोच से झुकी हैं।

हरिद्वार, नासिक और प्रयाग में कुंभ पर्व के समय हंस बाबा के अखाड़े में अनेक सिद्ध और शक्तिधर संन्यासियों का आगमन होता है। सभी हंस बाबा को ब्रह्मज्ञानी का पद और सम्मान देते।

जसीडीह पहाड़ी पर स्थित बाबा के आश्रम में प्रतिदिन सायंकाल भक्तों की भीड़ एकत्रित होती और बाबा अपने प्रवचन से सभी को कृतार्थ करते। जटिल तत्त्वों की व्याख्या अपूर्व कौशल से महाराजजी किया करते। वेदांत के

गूढ़तम तत्त्वों को सरलता से समझाया करते। इसमें वे मनोरम आख्यानकों का प्रयोग करते। इस महातपस्वी और महान साधक के श्रीमुख से फूटता—

शिवोऽहम्, शुद्धोऽहम् निरञ्जमोऽहम् निर्विकारोऽहम्

त्रिताप से कष्ट जीवन को लेकर जो समस्याएँ लोगों के मन को दुःखी किए रहतीं वे बाबा के आगे निवेदित होतीं और बाबा बड़ी ही आसानी से वे गुत्थियाँ सुलझा देते। एक बार एक भक्त ने जिज्ञासा प्रकट की—"बाबा, हम लोगों के निस्तार का, मुक्ति का मार्ग कौन-सा है?"

बाबा ने उत्तर दिया—"देखो, मानव की इन्द्रियाँ बड़ी प्रबल हैं। विचार और संयम के बिना उसका दमन करना कदापि सम्भव नहीं। मनुष्येतर प्राणियों की ओर दृष्टि डालने पर स्पष्ट होगा कि पतंग, कुरंग, मातंग, मृंग और झीन—ये सब केवल किसी एक ही विषय में आसक्त हैं। पतंग के नाश का कारण है—उसका रूप-ग्राही चक्षु, जिससे वह दीपशिखा की रूपज्वाला में जलकर भस्म हो जाता है। मृग को मृत्युचाल में फँसाने के लिए उसकी कर्णेन्द्रिय ही कारण रहती हैं जो उसे वंशी-ध्वनि सुनने को विवश कर व्याध के शर का शिकार बना देती है। हाथी स्पर्शेन्द्रिय की दुर्बलता से छलनामई हथिनी की ओर अग्रसर होकर जाल में जा फँसता है। मृग पुरुष के रसगंध पर विमुग्ध होकर सर्वस्व गँवा देता है और मछली रसना के आवेश में आकर बंसी बिंध जाती है। इन सब जीवों का विनाश केवल एक-एक इन्द्रिय के असंयम के कारण होता है। फिर सोच कर देखो तो जो मानव समष्टि रूप में इन पाँचों इन्द्रियों का गुलाम है उसकी विपत्ति की सीमा कहाँ है? पाँचों इन्द्रियाँ अपनी-अपनी ओर खींचतीं, ढकेलतीं उसे विनाश के गर्द में गिराती रहती हैं। फिर बाबा ने विषयमुक्ति के उपाय बताए दुर्गम विषयों से निकलने का रास्ता बन्द नहीं है। भगवान ने उसे विचार की शक्ति दी है और संयम का मार्ग प्रशस्त किया है।"

एक भक्त ने प्रश्न किया, "महाराज, हम लोग ठहरे संसारी जीव, दिन-रात तरह-तरह के झंझटों में उलझे रहते हैं। मुक्ति के लिए साधना-भजन करें, उसके लिए समय-सुविधा कहाँ है? भगवान की गुहार कैसे कर पाएँ?"

"अच्छा बाबा," हंस बाबा ने कहा, "कोई व्यक्ति समुद्र में स्नान के लिए जाता है तो वह किनारे बैठकर प्रतीक्षा करता है कि समुद्र से लहरें खत्म हो जायँ तो हम स्नान करें। संसार का कोलाहल पहले थम जाय तब हम साधन-भजन करें! यदि ऐसा सोचते रहें तो कभी मुक्ति का प्रयास चलने वाला नहीं। जितना बन सके, इसी क्षण से शुरू कर दो।"

एक दिन हंस बाबा शिष्यों के साथ इष्ट गोष्ठी में थे। कर्म और प्रारब्ध पर चर्चा चल पड़ी। महाराजजी ने कहा, "कर्म तीन प्रकार के होते हैं—संचित, प्रारब्ध और क्रियमाण। संचित कर्म का अर्थ है—जीव ने जन्म-जन्म में जो कर्म

किए हैं उनकी समष्टि, अर्थात जो कर्मफल जीव के भोग के लिए जमा है। प्रारब्ध का अर्थ इन संचित कर्मफलों में उस अंश से ही है जो जीव को वर्तमान जीवन-काल में भोगना होगा।'' बाबा ने आगे कहा, ''प्रारब्ध-भोग के लिए ही जीव को देह धारण करना पड़ता है। जन्म लेना पड़ता है। संचित कर्म से जो अंश जीव के भोग के निमित्त उपस्थित है वही हुआ प्रारब्ध। यही प्रारब्ध कभी सम्पत्ति और विपत्ति के रूप में दिखाई पड़ता है।'' बाबा ने कहना जारी रखा, ''यदि किसी भण्डारघर में बहुत-सी चीजें जमा की गई हैं और प्रयोजन के अनुसार संचित भण्डार में से कुछ अंश का प्रयोग कर लिया जाता है तो वह भोग में लाई गई चीज ही प्रारब्ध कही जाएगी। जो भण्डार में संचित है वह कर्मफल। यह प्रारब्ध ही बलवान है।''

''तब क्या इस प्रारब्ध कर्म से हमारा परित्राण सम्भव नहीं है बाबा?'' एक भक्त का सवाल था।

''प्रत्येक व्यक्ति को अपना कर्मफल भोगना ही होगा। किन्तु कड़ी धूप में जैसे कोई राही छाता के द्वारा सहूलियत प्राप्त कर लेता है उसी प्रकार यदि कोई मनुष्य भगवान के चरण में छाया का आश्रय ले तो कठोर प्रारब्ध की तीव्रता कुछ कम हो जाती है।'' बाबा ने कहा।

''क्रियमाण कर्म का तात्पर्य क्या है बाबा?'' एक भक्त ने पूछा।

''वर्तमान जीवन में जीव जो कर्म करता जाता है वही उसका क्रियमाण कर्म है। जीव का संचित कर्मफल क्रियमाण कर्म द्वारा लघु किया जा सकता है। प्रारब्ध पूर्वजन्मों के कर्म का ही तो फल है। इस जन्म के सत्कर्म एवं पुरुषार्थ द्वारा कुछ तो बदलाव सम्भव ही है।'' बाबा ने बताया।

''तो बाबा इस जन्म में क्रियमाण कर्म का फल किस प्रकार विनष्ट किया जा सकता है।'' एक भक्त ने जिज्ञासा प्रकट की।

बाबा ने मधुर वाणी में कहा, ''ज्ञान द्वारा। ज्ञानाग्नि सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा।''

एक दिन बाबा ने कहा था, ''प्रत्येक कर्म से दो प्रकार के फल उत्पन्न होते हैं। उन्हीं से हमारे भाग्य का निर्माण होता है। नीच कर्म से नीच वासना की सृष्टि होती है और उच्च कर्म एवं साधु-संगत से उच्च वासना जगती है। इन्हीं वासनाओं से प्रारब्ध सूचित होते एवं कर्मफलानुसारी भाग्य पर जन्म में गठित होते हैं। योग के बिना प्रारब्ध का क्षय नहीं होता। 'प्रारब्ध कर्मणां भोगादेव क्षय:।' जिस प्रकार पुनर्जन्म में अर्जित प्रारब्ध जिस भाव से इस जन्म में सूचित हुआ है, उसमें भी कोई बदलाव सम्भव नहीं है।''

''याग यज्ञ शांति से भी क्या भाग्य नहीं बदला जा सकता?'' एक भक्त का सवाल था।

"ऐसा नहीं होता।" बाबा ने कहा, "जिसने कुत्ते के रूप में जन्म लिया है, वह कुत्ता ही रहेगा। हाँ, कोई कुत्ता धनी की गोद में बैठता है, सुख और स्नेह से पाला जाता है, तो कोई मारा-मारा फिरता है।"

"फिर लोग शांति स्वस्त्ययन क्यों करते हैं बाबा?"

"याग-यज्ञ द्वारा क्रियमाण पाप का नाश होता है। भगवत भजन से क्रियमाण पाप नष्ट होता है और शुभ वासना की सृष्टि होती है। प्रारब्ध का फल भी कुछ मीठा हो जाता है। वासना ही बन्धन का कारण और दुःख का मूल है, यह हमेशा स्मरण रखना चाहिए। वासना के नाश होने पर मोक्ष की प्राप्ति होती है।"

"जीव तो क्लेश पाता है तृष्णा के कारण किन्तु उसकी तृष्णा कैसे दूर होती है?"

"तत्त्व-विचार द्वारा—वैराग्य द्वारा" बाबा ने आगे कहा, "मनुष्य के अंतर में सच्चिदानन्द चिरविराजमान रहते हैं। वह सकल आनन्द के उत्स हैं। इस उत्स को खोजना होगा। उसका उपाय है अविद्याजन्य मोह को दूर कर, स्थिर भाव से विचार करते हुए, उस उत्स-पथ की तलाश करनी होगी।"

विचार-बुद्धि के प्रयोग की बात समझाते हुए बाबा ने एक सुन्दर कथा का वर्णन किया—

"एक महिला स्नान करने के लिए एक सरोवर में उतरी। उसका एक हार तट पर रखा था। उसे एक कौआ ले उड़ा और सरोवर के किनारे एक पेड़ पर जा बैठा। वह चोंच से हार को देर तक कुरेदता रहा। जब उसे कोई स्वाद नहीं मिला तो वह निराश होकर उड़ गया। हार पेड़ की डाल में उलझा रहा।

बाद में एक दूसरा व्यक्ति स्नान के लिए उसी सरोवर में पहुँचा। पेड़ की डाल से लटक रहे हार की प्रतिछाया जब पानी में पड़ी तो उस व्यक्ति की निगाह उस पर गई। उसने सोचा, जल के नीचे कोई हार है। वह उस हार की तलाश में जुट गया। सारा जल गँदला हो गया। सरोवर का तट तक भींग गया पर उस व्यक्ति के हाथ कुछ भी नहीं लगा। वह निराश होकर चला गया।

फिर एक अन्य स्नानार्थी आया। उसकी दृष्टि भी जल में प्रतिबिम्बित हार पर पड़ी। शांत चित्त से उसने सोचा, जल में दिखाई दे रहा हार का प्रतिबिम्ब मात्र है। फिर असली हार है कहाँ? पेड़ पर जब उसने नजर डाली तो उसे हार दिखाई पड़ गया। फिर तो वह रत्नजटित हार उसके हाथ लग गया। इस प्रकार धीर विचार-बुद्धि से परमात्मा को प्राप्त करना होता है।"

मोक्ष प्राप्ति की इच्छा रखने वाले एक भक्त ने एक बार खिन्न होकर बाबा से पूछा, "संसार की इस माया, मोह और कर्मजाल में हम लोग ऐसे उलझे हैं कि भगवान की ओर मन लगाना असम्भव हो जाता है। कृपया कोई उपाय बताएँ।"

बाबा ने कहा, ''बद्ध जीव का मन तो प्रवृत्ति की ओर भागेगा ही। इसका प्रतिकार तभी सम्भव होगा जब मन के लिए एक विकल्प खात की नूतन सृष्टि की जाय। उस खात के जरिए प्रवाहित करना होगा भगवदभिमुखी मन के प्रवाह को। इस नये खात में परिचालित प्रवाह तुम्हारे विषयाभिमुखी मन को भ्रम से स्पन्दनहीन करता जाएगा। फिर मन अन्तर्मुखी होगा। और परमात्मा की ओर सहज से निविष्ट होता चलेगा। धीरे-धीरे इस पथ की साधना करते चलो। यही तो है साधक का ब्रह्माभ्यास या आत्मध्यान—

सतत ब्रह्मअभ्यास से मनविक्षेप को नाश।
ज्ञान दृढ़ निर्वासना जीव मुक्ति प्रतिभास॥

बाबा ने आगे कहा—''सदा इस अभ्यास को बलवान बनाए रखो। इसके फलस्वरूप मन के मल का नाश होगा, मन वासनारहित होगा। इस मार्ग से ही जीव मुक्त होता है और पराकोटि के ज्ञान का लाभ पाता है।''

कैलास पहाड़ पर विराजमान—इस महापुरुष के दर्शन के लिए देश-विदेश से श्रद्धालुओं का आगमन होता रहता है। बहुत से भक्त आग्रह-पूर्वक उनसे प्रस्ताव रखते हैं—''बाबा यदि विचार प्रकट करें तो हम इस कैलास पहाड़ पर एक विशाल मठ का निर्माण करें जिससे बाबा की इस साधना भूमि को एक विराट साधना केन्द्र के रूप में बदला जा सके।''

महासाधक हंस बाबा हँसते हुए उत्तर देते—''बेटा, मैं तो एक वैरागी हूँ। इस निर्जन पहाड़ी पर नंग-धड़ंग घूमता हूँ। एकांत में शांतचित्त होकर बैठता-उठता हूँ। बहुधा जाकर नर्मदा-तट पर आश्रय ग्रहण करता हूँ। वह मन्दिर लेकर क्या करूँगा? अर्थ से तो मुझे कोई सरोकार है ही नहीं। शहंशाह के रूप में मैं बैठा हूँ। यह दोहा जानते हो?

चाह गई चिन्ता गई, मनुआ बेपरवाह।
जिस मन में संतोष है, वह है शाहंशाह॥

जिसे कोई चाह नहीं, चिन्ता नहीं, अंतर में जिसके संतोष विराजमान है, वही वास्तव में शाहंशाह है—राजाधिराज है।

इस महान तपस्वी और साधक ने अंत में ८वीं वैशाखी १९६० ईस्वी को शरीर छोड़ दिया। हजारों लोगों को शोक-संतप्त छोड़कर जसीडीह के आश्रम में ब्रह्मलीन हो गए। वे ईश्वरीय दूत और अपनी मर्जी के शाहंशाह थे।

•

महात्मा सुन्दरनाथजी

उन्नीसवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध। गर्मी के मौसम में बदरीनारायण का मन्दिर दर्शनार्थियों के लिए खोल दिया गया था। भक्तों की भीड़ प्रतिदिन आ रही थी। ऐसे ही समय महात्मा सुन्दरनाथजी भी बदरीनाथ धाम पहुँच गए थे।

मन्दिर के पास ही स्थित एक दुकान पर विश्राम करना चाहा। किन्तु दुकानदार गिड़गिड़ाया—''महात्माजी, आज तीर्थयात्रियों की भारी भीड़ है। दुकान में स्थान की कमी है। इस कारण मैं आपको स्थान देने में असमर्थ हूँ।''

''अच्छी बात है''। कहते हुए सुन्दरनाथजी दुकान से बाहर निकल आए। वहाँ से थोड़ी दूर स्थित एक विशाल भवन के बरामदे में पहुँचे। झोली उतार कर पास रख ली और आसन जमा लिया। उन्हें लोग आश्चर्यभरी निगाहों से देखने लगे। जिज्ञासा हुई दिव्य कांति और जटाजूट वाले ये महात्मा कौन हैं ?

कुछ भक्तों ने निवेदन किया, ''महाराज, अगर आप अनुमति दें तो आपके लिए खाने-पीने की चीजें लाई जायँ। आज भीड़ काफी है। देर हो जाएगी तो सामान मिलने में कठिनाई होगी।''

''मेरी धूनी के लिए कुछ लकड़ी मँगा दो और कुछ नहीं।'' सुन्दरनाथजी ने कहा।

उत्साही भक्तों ने लकड़ी ला दी। धूनी प्रज्वलित हो गई। सुन्दरनाथजी प्रसन्न हो गए। कुछ तीर्थयात्री धूनी के आसपास जमा हो गए।

इसी बीच भवन के रक्षकों और चौकीदारों ने आकर आपत्ति की। क्या यह धर्मशाला है जो आग जलाकर आराम से बैठे हो तुम लोग ?

''मकान खाली पड़ा था, इसलिए यहाँ महात्माजी के बैठने की व्यवस्था की गई। इससे क्या नुकसान हो गया ?'' एक शिक्षित तीर्थयात्री सज्जन ने कहा।

''जानते हो, यह टिहरी के राजा साहब का प्रासाद है। तुम सभी के प्राण संकट में हैं।'' रक्षक और उत्तेजित हो गए।

''हमको तो कम से कम एक रोज यहाँ ठहरना होगा भाई।'' महात्माजी ने निर्विकार भाव से मधुर वाणी में कहा।

''सुनिए, राजा साहेब और रानी साहिबा आज सुबह ही अपने लाव-लश्कर के साथ यहाँ पहुँच जाएँगे। यह कार्यक्रम पूर्व निर्धारित है। इसीलिए कल सारे दिन भवन की सफाई की गई है। कुछ देर के लिए हमलोग दुकान पर

भोजन करने चले गए और इसी बीच आप लोगों ने अधिकार जमा लिया। महाराज जब आप लोगों को धूनी जला कर बैठे देखेंगे तो आग-बबूला हो जाएँगे। उस समय सबके सिर धड़ से अलग कर दिये जायेंगे।'' एक रक्षक ने भक्तों को समझाने की कोशिश की।

''तुम्हारे राजा साहब को मैं खुद ही बोल दूँगा। हम भी तो एक ठो महाराज हैं। डरो मत।'' महात्माजी ने मुस्कराते हुए कहा।

''यह क्या पागलपन है, किसी भी समय महाराज आ जाएँगे, तो क्या तुम हमारी रक्षा कर सकोगे?''

इसी बीच टिहरीनरेश अपने दल-बल के साथ आ गए। मन्दिर के पुजारी रावल साहब राजा की अभ्यर्थना करने के बाद उन्हें लिये आ रहे थे। साथ में रानी साहिबा और दास-दासियों का समूह था। राजा साहब के वहाँ पहुँचते ही रक्षकों ने सारी कथा कह सुनाई। यह सुनकर रावल गुस्से से तमतमा उठे।

लेकिन टिहरीनरेश ने इशारे से उन्हें शान्त कर दिया। वे अपने दल-बल के साथ बरामदे में जाकर खड़े हो गए। उन्होंने हाथ जोड़कर महात्माजी को प्रणाम किया। इसके बाद पूछा, ''महाराज, कहाँ से आपका आगमन हुआ है? क्या मैं आपका परिचय जान सकता हूँ?''

''परिव्राजन करता हुआ सतोपंथ से उतर रहा हूँ'', महात्माजी ने मधुर वाणी में कहा, ''एक दिन यहाँ रुकने की इच्छा है। रही मेरे परिचय की बात, उसे तो आपने मुझे सम्बोधित कर ही दिया राजा साहब। आपने मुझे महाराज कहा है। फिर मैं एक महाराज के अलावा और क्या हो सकता हूँ।''

''यदि आप सचमुच महाराज हैं तो आपका राज्य कहाँ है?''

''ऊपर आकाश और नीचे जनपद, अरण्य, पहाड़, सागर सभी जो परमात्मा ने रचा है। वे सभी मेरे राज्य हैं।''

राजा चतुर थे। क्षणभर में ही वे महात्माजी की बातों में अंतर्निहित तथ्य समझ गए। फिर भी मुस्कराते हुए प्रश्न किया, ''मैं राजा हूँ और मेरे साथ फौज भी है। आपने अपनी फौज कहाँ रख छोड़ी है?''

''मेरी फौज तो सारी पृथ्वी में फैली हुई है'', महात्माजी ने कहा, ''जहाँ मनुष्य के हृदय में परमात्मा के लिए भक्ति और प्रेम का आलोक है, वे सभी हमारी फौज में हैं।''

''किन्तु राज-ऐश्वर्य? वह कहाँ से दिखाएँगे महाराज?''

''अब आप ही से एक प्रश्न करूँगा राजा साहब।'' महात्माजी ने मुस्कराते हुए कहा।

''अवश्य प्रश्न करें।'' राजा ने कहा।

''ऐश्वर्यवान आप किसे कहते हैं?'' महात्माजी ने पूछा, ''जिसे इस संसार में कोई अभाव नहीं है, उसे ही तो।''

''जी हाँ।''

''फिर देखिए। मुझे किसी वस्तु के अभाव का बोध नहीं होता, इसीलिए अभाव नहीं है। इसके अलावा, परमात्माजी की सृष्टि के अनन्त ऐश्वर्य को मैं अपना ही मानता हूँ। इसीलिए राजा साहब, मैं आप से ज्यादा ऐश्वर्यवान हूँ।''

''यह तो स्वीकार करना ही होगा, मुझसे बहुत अधिक ऐश्वर्य है आपके पास।'' टिहरीनरेश ने सिर झुका कर हार मान ली।

अब तक भीड़ काफी हो गई थी। चारों और तीर्थयात्री जमा हो गए थे।

सुन्दरनाथजी ने मुस्कराते हुए कहा, ''राजा साहब, असली बात यदि मैं कहूँ तो आप एक अभावग्रस्त व्यक्ति हैं। तभी तो आप तमाम तरह के झमेलों से ग्रस्त रहते हैं। आपकी जो राजमहिषी हैं, उन्हें कोई संतान आज तक नहीं नहीं हुई। इस कारण आपके और रानीजी के दुःख की कोई सीमा नहीं है। यह बात सत्य है या नहीं?''

''जी हाँ, यह बिल्कुल सत्य हैं। रानीजी असाध्य हत्पिंड के वातरोग से ग्रस्त हैं। आजकल प्रायः वह बिस्तर पकड़ लेती हैं। उनके जीवन में कोई रस नहीं है।'' महात्माजी ने कहा।

अब टिहरीनरेश धूनी के पास बैठ गए और कातर स्वरों में निवेदन किया, ''मैं समझ गया कि भगवान ने कृपा करके आपको मेरे लिए ही यहाँ भेजा है। आप प्रसन्न हों और मेरी तथा रानीजी की व्याधि से रक्षा करें। हम दोनों आपके सेवक और सेविका के रूप में रहेंगे।''

''परमात्मा आप पर प्रसन्न हों, यही आशीर्वाद देता हूँ आपको राजा साहब'', महात्माजी ने कहा, ''विश्राम एवं स्नान-तर्पण करके आप लोग बदरी-विशाल की पूजा समाप्त करें, उसके बाद मेरे साथ आगे बातचीत होगी। आप लोगों के दुःख-निवारण की दिशा में चेष्टा करूँगा, सम्भव है, परमात्मा की इच्छा से इसीलिए मेरा यहाँ आगमन हुआ है।''

मन्दिर से वापस आने पर राजा दम्पति ने सुन्दरनाथजी को प्रणाम किया। उसी समय ज्वलंत धूनी से एक चिमटा भस्म उठाते हुए योगेश्वर ने कहा, ''राजा साहब, आप और रानी साहिबा इस पवित्र धूनी की भस्म खा डालें। रानीजी व्याधि-मुक्त हो जाएँगी और दो वर्ष बाद आपको पुत्र-लाभ होगा।''

राजा और रानी साहिबा ने भस्म गले से नीचे उतारी और भाव-विह्वल होकर महात्माजी के चरणों में अपना सिर रख दिए।

फिर शान्त और गम्भीर स्वर में सुन्दरनाथजी ने कहा, "परमात्मा की कृपा आपने पाई है राजा साहब, यह आपका सौभाग्य है। लेकिन दो जरूरी बातों का मैं आपको सदा स्मरण रखने को कहूँगा।"

"आदेश करें महाराज।"

"आप इस अंचल के राजा हैं," महात्माजी ने कहा, "केवल यही नहीं, पवित्र बदरीनाथ धाम के रख-रखाव का गुरुतर दायित्व भी आपके ऊपर है। आपके किए हुए पुण्य और पाप का प्रभाव स्वभावतः क्षेत्र पर पड़ेगा। इसलिए व्यक्तिगत जीवन में जो भी इंद्रियगत अनाचार करते रहे हैं उससे निवृत्त हो जायँ। एक और गुरुतर कर्तव्य में भी आपसे त्रुटि होती रही है। इस पुण्य पीठ में परमात्मा की पूजा अनुष्ठित होती रहती है तथा सैकड़ों तीर्थयात्री यहाँ अपना भक्ति-अर्घ्य प्रदान करते हैं। परन्तु इस पवित्र स्थान की रक्षा यथायोग्य नहीं हो पा रही है। इसके परिचालन में नाना प्रकार की त्रुटियाँ और अनाचार दिखाई पड़ रहे हैं। इन सभी को दूर करने की कोशिश आप द्वारा होनी चाहिए।"

टिहरीनरेश ने आश्वासन दिया कि वे महात्मा के आदेश का पालन करेंगे।

दूसरे दिन प्रभात होने से पहले ही सुन्दरनाथजी उस स्थान से अंतर्ध्यान हो गए। इसके बाद वे काफी दिनों तक इस अंचल में नहीं देखे गए।

लगभग पाँच वर्षों बाद जब वे अपनी प्रिय पुण्यभूमि शतोपंथ का परिव्राजन करके जिस दिन बदरीधाम में उनका आगमन हुआ, उस दिन मन्दिर के रावल एवं राजपुरुषगण ने समारोह में उनकी अभ्यर्थना की।

पिछली बार बदरीधाम आगमन के समय टिहरीनरेश और रानी साहिबा को जो आशीर्वाद महात्माजी ने दिया था, वे फलीभूत हो गए थे। रानी साहिबा की व्याधि ठीक हो गई थी और उन्होंने एक पुत्ररत्न को भी जन्म दिया था।

योगेश्वर के आगमन की सूचना मिलते ही टिहरीनरेश अपनी रानी साहिबा के साथ उनके दर्शन के लिए पधारे। मन्दिर के पुजारी रावल भी महात्माजी के भक्त हो गए थे।

सुन्दरनाथजी का एक खूबसूरत चित्र आज भी बदरीनाथ के कार्यालय में टँगा हुआ है। उसे रावल ने एक कलाकार द्वारा तैयार कराया था।

एक बार बदरीनाथ धाम से थोड़ी दूर ऋषि गंगा के पार एक निर्जन कुटिया में सुन्दरनाथजी अपने नव संकल्पित तपस्या का उद्यापन कर रहे थे। यहाँ की कुटिया के साधु लोग दिन-रात का अधिकांश भाग ध्यान, भजन तथा योग में ही काट देते थे। आहार के लिए भी वे बाहर नहीं जाते थे। इसीलिए काली-कमलीवाले सदाव्रत के कर्मचारी प्रतिदिन इन साधकों को भोजन दे जाते थे। परन्तु सुन्दरनाथजी उस भोजन को ग्रहण नहीं करते थे। लगभग एक माह

बाद यह बात बदरीनाथ के पुजारी और महात्माजी के भक्त रावल के पास तक पहुँची। इसके तुरन्त बाद वे प्रचुर मात्रा में खाद्य-सामग्री लेकर सुन्दरनाथजी की कुटिया में पहुँचे। दोनों हाथ जोड़ कर निवेदन किया, "बाबा, सुना कि सदाव्रत द्वारा प्रदत्त आहार आप ग्रहण नहीं कर रहे हैं। इसलिए अपनी सेवा की अनुमति मुझे दीजिए। मैं अपने आदमियों से रोज खाद्य-पदार्थ भेज दिया करूँगा।"

"नहीं बेटा, इसकी जरूरत नहीं है।" महात्माजी ने मधुर वाणी में कहा, "कुछ दिनों पूर्व परमात्मा का आदेश हुआ है, उसी समय से केवल कच्चा दूध और फल ले रहा हूँ।"

"ठीक है, वही मैं प्रतिदिन आपके लिए भेज दिया करूँगा।" रावल ने भक्तिपूर्वक अनुनय किया।

इसी समय एक वृद्धा अपने किशोर पुत्र के साथ वहाँ आ गई। उसके हाथ में एक छोटा-सा लोटा था जिसमें दूध भरा था। दूसरे हाथ में केले थे। सुन्दर-नाथजी को प्रणाम करने के बाद उसने साथ लाई हुई खाद्य-सामग्री धूनी के पास रख दी। योगेश्वर ने माँ-बेटे को आशीर्वाद दिया। फिर रावल की तरफ देखते हुए मुस्कराकर बोले, "इस माई का नाम रुक्मिणी और उसके पुत्र का नाम रामभजन है। ये दोनों बड़े पवित्रात्मा हैं। इन लोगों ने बहुत दुःख झेला है। परमात्मा की कृपा से अब ठीक हैं। इनका दिया हुआ आहार बहुत शुद्ध है। जब तक इस क्षेत्र में हूँ, इन्हीं के दूध और फल पर समय कट जाएगा, यही निश्चय किया है।"

रावल के मन में जिज्ञासा हुई कि इस वृद्धा के ऊपर महात्माजी की कृपा का रहस्य जाना जाय। वे लौटते समय रुक्मिणी से मिले और उससे कारण पूछा। रुक्मिणी का मुखमण्डल तेजोदीप्त हो उठा। उसने रास्ता चलते-चलते सुन्दर-नाथजी की कृपा की आश्चर्यजनक कहानी बयान करना शुरू किया—

"मैं बदरीनाथ धाम से लगभग १२ मील दूर पाण्डुकेश्वर गाँव में रहती हूँ। उसके स्वामी के पास पहाड़ के ढलान पर दो बीघा जमीन थी, जिससे उसके परिवार का गुजारा होता था। कुछ वर्ष पूर्व उसके स्वामी बुधन सिंह आय में थोड़ी वृद्धि करने के लिए माना दर्रे के पार तिब्बत में व्यवसाय करने चले गए। पहाड़ धँस जाने से उनका प्राणांत हो गया। हम लोग बिल्कुल बेसहारा हो गए।

"इन्हीं विपत्ति के दिनों में एक दिन सुन्दरनाथ बाबा हमारे घर आए। उन्होंने मुझे आश्वासन दिया, "माई, विपत्ति के कारण दिग्भ्रमित मत होना। स्वामी की पवित्र स्मृति हृदय में सँजोकर इस बालक का भरण-पोषण करना। परमात्मा अवश्य सहायता करेंगे।"

सुन्दरनाथजी ने निर्देश दिया, "माई, तुम इस बालक के साथ खेत में कार्य किस तरह करोगी? अपनी जमीन बेच डालो और इस पैसे से मोदी की

दुकान खोल लो। गर्मी के दिनों में दुकान बदरीनाथ में रखना और दूसरे मौसम में अपने गाँव में। इस कार्य में तुम्हारा पुत्र रामभजन भी कुछ सहायता करेगा।

"महात्माजी के इस आदेश को मैंने शिरोधार्य कर लिया। बच्चे को साथ लेकर दुकान खोल ली। पुत्र भी धीरे-धीरे बड़ा होकर व्यवसाय में दक्ष हो गया।"

रुक्मिणी ने अपनी कहानी सुनाना जारी रखा—

"दो वर्षों पूर्व महात्माजी इसी कुटिया में आए थे। रुक्मिणी एक दिन अकेले ही महात्माजी की सेवा में उपस्थित हुई। उन्होंने पूछा, "माई, रामभजन को आज कहाँ छोड़ आई?"

"बाबा, दुकान के लिए कुछ सामान लेने जोशीमठ गया है। बदरीनाथ में इस साल यात्रियों की बहुत भीड़ है। किसी वस्तु की आपूर्ति करना सम्भव नहीं हो पा रहा है।" रुक्मिणी ने कहा।

क्षणभर में ही योगेश्वर की मुद्रा गम्भीर हो गई। दाहिना हाथ उठा कर अस्वाभाविक रूप से गरजे, "ठहर जाओ, ठहर जाओ, डरो मत बेटा। बस, बस"। ऐसा लगा जैसे किसी अदृश्यलोक में विपदाग्रस्त भक्त को अभय दे रहे हों। इसके बाद चुप हो गए। पास पड़े चिमटे से धूनी की आग को कुरेदा। इससे आग की गर्मी तेज हो गई। महात्माजी की आक्रोशित मुद्रा धीरे-धीरे शान्त हो गई।

धूनी से थोड़ी दूर रुक्मिणी विस्मित बैठी हुई थी। बाबा का यह रूप उसने पहली बार देखा था।

रुक्मिणी की ओर देखते हुए सुन्दरनाथजी ने कहा, "माई, तुम्हारा पुत्र रामभजन बड़ी मुश्किल में पड़ गया था। मैंने देखा कि जोशीमठ में भेड़े पर माल लादते समय उसका पैर फिसल गया। वह अलकनन्दा में गिर पड़ा। अलकनन्दा की तीव्र धारा उसे डुबोए हुए चली जा रही थी। उस भीषण धारा से उबर पाना मनुष्य के बस की बात नहीं है। परमात्मा की कृपा से वह किनारे आने में सफल हो गया है। फिर भी वह धारा के साथ लगभग तीन मील दक्षिण बहता हुआ चला गया है। एक देहाती आदमी के घर में उसने आश्रय पाया है। अच्छी तरह है। माई, तुम अभी रवाना हो जाओ और तुम उसे बदरीनाथ धाम ले आओ।"

पुत्र पर विपत्ति की बात सुनकर रुक्मिणी अधीर हो उठीं। वह जोर-जोर से रोने लगीं और वहीं कुटिया में जमीन पर लेट गईं।

महात्माजी ने कहा, "तुम्हारा पुत्र बिल्कुल स्वस्थ है माई। जिस व्यक्ति ने उसे आश्रय दिया है, वह उसकी सेवा कर रहा है। उसके पास आग जला दी है। उसे पीने के लिए गरम दूध दे रहा है।"

रुक्मिणी उठीं और जोशीमठ की तरफ रवाना हो गईं। रामभजन के पास पहुँचीं। वह स्वस्थ था। उसने माँ को जो कहानी सुनाई, उससे उन्हें विस्मय और आश्चर्य दोनों हुआ। रामभजन ने कहा—

"पहाड़ से नदी में गिरकर वह असहाय अवस्था में बहता जा रहा था। वह निराश हो चुका था। समझ रहा था कि अब जान नहीं बचेगी। या तो धारा के भँवर में फँसकर नीचे चला जाएगा या किसी चट्टान से टकराकर चूर हो जाएगा। इसी बीच उसने सुन्दरनाथजी की वाणी सुनी—'ठहर जाओ।' क्षण भर में ही रामभजन के सम्मुख योगेश्वर का जटाजूट-मण्डित मुख-मण्डल प्रकट हो गया। अवाक् होकर उसने देखा कि उसके डूबते हुए शरीर को दो सबल हाथों ने उठा लिया और किनारे की मिट्टी पर लाकर लिटा दिया। इसके बाद क्या हुआ, उसे स्मरण नहीं क्योंकि वह बेहोश हो गया था। होश में आने पर उसने देखा कि एक परिवार में उसे आश्रय मिला है। लोग आग जलाकर उसे सेंक रहे हैं। सामने एक कटोरा गरम दूध रखा हुआ है।"

महात्माजी की कृपा-लीला का रावल के समक्ष वर्णन करते हुए रुक्मिणी बीच-बीच में अपने आँसू पोंछती जा रही थीं। फिर कहा, "रावल साहब, कोई कहता है ये बड़े योगी हैं, कोई कहता है ये मनुष्य नहीं देवता हैं। मैं केवल पिता ही मानती हूँ। उन्होंने मुझे पिता के समान स्नेह दिया है।"

महायोगेश्वर, परमसिद्ध, महात्माजी का अंतर प्रेम से भरा हुआ था। जो भी भक्ति-भाव से इनके समीप आता, स्नेह और प्रेम का भागी होता।

एक बार विनायक मुखुज्ये महाशय एक उच्च कोटि के साधु की सलाह पर सुन्दरनाथजी के दर्शन को पधारे। महात्माजी उस समय उत्तरकाशी से थोड़ी दूर एक निर्जन स्थान में वास कर रहे थे।

मुखुज्ये महाराज ईश्वर-अनुसंधानी व्यक्ति थे। बहुत से मतावलम्बी साधु-संन्यासियों के सम्पर्क में आ चुके थे। सुन्दरनाथजी के पास पहुँचकर उन्होंने प्रणाम किया और बैठ गए। उन्होंने बताया कि किस-किस साधु-महात्माओं का आशीर्वाद उन्हें मिला है।

इस बीच एक गृहस्थ ने चकमक घिसकर कुटिया के भीतर पड़ी लकड़ियों को जला दिया। सुन्दरनाथजी आनन्दपूर्वक उसके द्वारा लाई हुई वस्तुओं से खीर तैयार करने में लग गए। खीर तैयार हो जाने पर उन्होंने स्नेहमयी माता की तरह सबका सब मुखुज्ये महाशय को भोजन करा दिया। अप्रत्याशित स्नेह और आदर पाकर मुखुज्ये महाशय कृतार्थ हो उठे। उन्होंने अपने सम्पर्क में आए साधु-सन्तों के जीवन-दर्शन के बारे में तर्क-वितर्क करना शुरू कर दिया।

अर्धनिमीलित नेत्रों से दो मिनट तक मुखुज्ये की बातें सुनने के बाद सुन्दरनाथजी बोल उठे—"बस, बस, ठहर जाओ।" मुखुज्ये महाशय चुप हो गए।

महात्माजी ने जो कुछ कहा उसका सारांश इस प्रकार है—

"बेटा, इतनी कहानी और इतना तर्क-वितर्क करके तुम अपना दिमाग क्यों खराब कर रहे हो। मानव-जीवन अमूल्य है। कितने संचित पुण्यों के कारण तुमने यह जन्म पाया है। क्यों, परमात्मा का लाभ करूँगा, ऐसा कह कर नहीं पाया है। फिर व्यर्थ समय क्यों गँवा रहे हो? अब एक भी क्षण व्यर्थ मत जाने दो बेटा। आज ही और अभी ही तुम इस कुटिया में एक तरफ बैठ जाओ। प्राण की चिन्ता छोड़ कर ध्यान और जप करो। अब कलकत्ते के कोलाहल और अविद्या के संसार में वापस जाने का कोई प्रयोजन नहीं है।"

"यह तो बाबा आप ठीक ही कहते हैं लेकिन कलकत्ते में अभी कुछ कार्य शेष है। अबकी बार जाकर सारे कार्य निपटा कर फिर आपके चरणों में बैठूँगा।" मुखुज्ये ने निवेदन किया।

"नहीं, नहीं बेटा! मानव-जीवन का एक क्षण भी व्यर्थ मत करो। यह वस्त्र पहने ही गंगा में स्नान कर आओ और उसके बाद दृढ़ता से जप और ध्यान लगाओ। जो तुम्हारे कदम पीछे खींच रहा है, उसका सर्वदा के लिए त्याग कर दो। जिसके ज्ञान से जीवन सफल होता है, उसी परमात्मा के ध्यान में डूब जाओ।"

मुखुज्ये महाशय को घर-बार और सांसारिकता का स्मरण बार-बार हो रहा था। इसके साथ ही महात्माजी भी लगातार छड़ते जा रहे थे।

अंततः मुखुज्ये महाशय महात्माजी से पिण्ड छुड़ा कर कुटिया से बाहर आए और राहत की साँस ली। उस समय महात्माजी के असली मकसद को समझ नहीं पाए। जीवन की संध्या में योगेश्वर सुन्दरनाथजी के इस आंतरिक आमंत्रण की चर्चा छिड़ते ही मुखुज्ये महाशय के दोनों नेत्र सजल हो आते।

मुखुज्ये के पूर्व परिचित मनीष मजूमदार नामक कलकत्ते के ही एक शिक्षित व्यक्ति एक बार सुन्दरनाथजी का महात्म्य सुनकर उनके पास गए। साष्टांग दण्डवत करने के बाद कहा, "बाबा, मेरे ऊपर कृपा कीजिए। आपके चरणों में आश्रय की भिक्षा माँगता हूँ।"

उस समय योगेश्वर ध्यानस्थ थे। ध्यान भंग होने पर बोले, "तुम इधर काहे आया? हिमालय में तुम्हारा क्या काम है?"

मजूमदार महाशय महात्माजी की बेरुखी पर रो पड़े। उन्होंने दोनों हाथ जोड़कर निवेदन किया, "बाबा, मैं बड़ा दुःखी हूँ, इसीलिए आपका आश्रय चाहता हूँ।"

योगेश्वर बोले, "दुःखी और अभागे तो तुम निश्चय ही हो। किन्तु तुम्हारा दुर्भाग्य लाम्पट्य और इंद्रियजन्य दोषों के कारण हुआ है।"

"बाबा, आपकी सारी बातें सत्य हैं किन्तु क्या मेरे उद्धार का कोई उपाय नहीं है? आप जैसे महात्मा भी क्या मेरा उद्धार नहीं कर सकते? फिर मैं कहाँ जाऊँ?" मजूमदार फूट-फूट कर रोने लगे।

मनीष मजूमदार कलकत्ता के एक धनी स्वर्णकार परिवार में शिक्षक थे। गृहस्वामिनी कुछ वर्ष पूर्व विधवा हो गई थीं। इस समय घर की अपार घर-सम्पदा एवं परिवार के परिचालन का भार उन्हीं पर था। उम्र लगभग ४० वर्ष की थी। लेकिन रूप और यौवन आकर्षक था। गृहस्वामिनी सुदर्शन मनीष के प्रति आकर्षित हो गईं। मनीष भी उनकी ओर झुक गए। इसके बाद एक रात में इन्दुमती अपने एक लाख के जेवरों के साथ मनीष के साथ कलकत्ते से भाग निकलीं। काफी जगहों घूमने-फिरने के बाद दोनों लोग हरिद्वार के एक घनी आबादी वाले इलाके में किराया का मकान लेकर रहने लगे।

कुछ वर्षों में दोनों के बीच शारीरिक आकर्षण कम होने लगा। खासतौर पर इन्दुमती अपने बाल-बच्चों के पास वापस कलकत्ता लौटने के लिए परेशान हो उठीं। इसके लिए अचानक ही उन्हें अवसर भी मिल गया। एक दिन वह हरिद्वार के बाजार में गई थीं। वहीं एक आत्मीय व्यक्ति से उनकी मुलाकात हो गई। बाल-बच्चों का समाचार सुनकर पुरानी स्मृतियाँ उनके दिमाग में कौंध गईं। मन व्याकुल हो उठा। उन्होंने यह भी सुना कि उनकी लड़की अब सयानी हो गई है। घर के लोगों ने उसका विवाह भी तय कर दिया है। इसके बाद इन्दुमती मनीष को छोड़कर कलकत्ता वापस लौट गईं। घर पर यही प्रचार किया कि कुछ वर्षों के लिए वह भारत में पर्यटन के लिए गई थीं। अब कन्या के विवाह में योगदान के लिए घर वापस लौट आई हैं। बंधु-बांधवों और परिवारीजनों को इन्दुमती की इस बात पर विश्वास नहीं हुआ लेकिन वह अपने कारोबार में जुट गईं थीं।

इन्दुमती के जाने से मनीष का मन व्यग्र हो उठा। कलकत्ता के रास्ते हमेशा के लिए बन्द हो चुके थे। हरिद्वार में रहने पर आर्थिक समस्या उठ खड़ी हुई थी। इन्दुमती के बचेखुचे गहनों से दो-चार माह का ही खर्च चल सकता था। मनीष जब भविष्य के बारे में सोचते थे तब दिल मुँह को आ जाता था।

परेशान मजूमदार नाना प्रकार की चारित्रिक बुराइयों के शिकार हो चुके थे।

सब तरह से हताश होने के बाद मनीष ने गेरुआ वस्त्र धारण कर लिया और हिमालय के तीर्थाटन पर निकल पड़े। सदाव्रत में मिले भोजन पर जी रहे थे। इन्हीं दिनों अचानक अपने पुराने मित्र मुखुर्ज्ये से उनकी मुलाकात हो गई। मुखुर्ज्ये ने उन्हें महात्मा सुन्दरनाथजी से मिलने की सलाह दी और मनीष सीधे सुन्दरनाथजी के पास आकर उनका आश्रय चाहने लगे।

मनीष का विलाप देखकर सुन्दरनाथजी का हृदय कुछ पसीजा। उन्होंने कहा, ''बेटा तुम्हारे लम्पटपने से मुझे घृणा है, तुमसे नहीं। मैं चाहता हूँ तुम अपने पूर्व आचरण का त्याग करके परमात्मा की तपस्या में लीन हो जाओ। किन्तु बेटा, तुम्हारा पूर्वजन्म का संस्कार बार-बार तुम्हारे मार्ग में बाधक हो रहा है।''

"तो आप इसे मिटाने का विधान कर दें।" मनीष गिड़गिड़ाए।

"बेटा, मेरा कोई स्थायी स्थान तो है नहीं। अपनी इच्छानुसार हिमालय की कंदराओं में घूमता-फिरता हूँ और तपस्या करता हूँ। तुम्हारा भार वहन करने का समय कहाँ है मेरे पास?"

"तो क्या मेरा उद्धार नहीं होगा?"

"तुम्हें मैं दो निर्देश दे रहा हूँ", महात्माजी ने कहा, "तुम उनका पालन करने का प्रयास करो। प्रतिदिन एक लाख बार शिवजी का जप करने के बाद ही तुम भिक्षाटन के लिए निकलोगे। दूसरी बात यह है कि कभी भी हिमालय की गोद छोड़कर नीचे के अंचलों में या मैदान में नहीं उतरोगे। तुम्हारी इन्द्रिय-लालसा का पुंजीभूत संस्कार अभी भी रह गया है। देवात्मा हिमालय की गोद छोड़कर नीचे उतरते ही तुम फँस जाओगे। उसके बाद तुम्हारे उद्धार की कोई आशा नहीं रह जाएगी।"

लेकिन मनीष मजूमदार के पूर्व संस्कारों ने उन्हें महात्माजी के इन निर्देशों का पालन नहीं करने दिया। किसी कार्यवश उन्हें हरिद्वार जाना पड़ा। वापस आते समय वे देहरादून में कई दिनों तक रुक गए। इसी समय वे एक खूबसूरत पर्वतीय रमणी के प्रति आकर्षित हो गए। उनका पतन हो गया। कई माह तक लकवाग्रस्त रहने के बाद कनखल के अस्पताल में उनकी मृत्यु हो गई।

एक बार एक जिज्ञासु भक्त ने महात्माजी से प्रश्न किया, "बाबा, आप लोगों का परमात्मा बहुत ही निष्ठुर प्रकृति का है। व्यावहारिक जीवन में मैंने पाया है कि कितने निरपराध व्यक्ति दैवविधान से पीड़ित होते हैं और कितने दुष्ट और पापी व्यक्ति जीवन का सुखोपभोग करते हैं। इस विधान में न्याय-नीति और निरपेक्षता कहाँ है?"

"तुम इस दर्शन को उलट कर देखो, तुम्हें जवाब मिल जाएगा।"

"आपकी बात का गूढ़ार्थ नहीं समझ पा रहा हूँ, कृपया समझाएँ।"

बाबा ने जो व्याख्या दी उसका सारांश इस प्रकार है—

जीवन में सभी कुछ तुमने भ्रान्तभाव से ही देखा है। खण्ड-खण्ड करके। अपनी दृष्टि भंगी को तुम उलट दो और जीवन का अखण्ड भाव से दर्शन करना सीखो। ऐसा होने पर तुम क्या कर पाओगे? जो एक और अखण्ड वस्तु है, जो भूमा है, जो सत्-चित्-आनन्द है, वह ही जीव के हृदय में वास कर रहा है। सुख-दुःख सब कुछ अंततः वे ही तो भोग रहे हैं। तुम्हारा हृदय का दुःख और ताप वास्तव में वही तो अपने को वहीं स्थापित करके स्वयं ले रहे हैं।

एक बार एक भक्त ने बाबा से प्रश्न किया, "बाबा, योग विभूतियों की अनेक लीलाएँ मैंने स्वयं देखी हैं तथा अनेक सुनी भी हैं। इन सब अलौकिक और अस्वाभाविक शक्तियों का असल रहस्य क्या है बताएँ।"

योगेश्वर ने मुस्कराते हुए उत्तर दिया, ''बेटा, योगशक्ति को अस्वाभाविक और रहस्य क्यों समझ रहे हो? दरअसल योग-मुक्त होना ही तो स्वाभाविक बात है। परमात्मा के साथ योग—वही तो असल है, वियोग अथवा विच्युति नकली होती है। वह लोगों का बनाया हुआ होता है। तुम निर्मोह हो, योगमुक्त हो तो देखोगे कि तुम्हारा जीवन स्वभाव में अवस्थित है। तब योग विभूति या योगैश्वर्य को वस्तु या अस्वाभाविक और अलौकिक तुम नहीं समझोगे।''

1955 के बाद सुन्दरनाथजी नहीं देखे गए। कुछ लोगों की धारणा है कि शतोपंथ के पास ही किसी गुफा में साधनारत हैं तो कुछ लोग सोचते हैं कि इस योगेश्वर महात्मा ने स्वयं को परमात्मा में लीन कर लिया।

योगेश्वर सुन्दरनाथजी को एक बार दर्शन करने के बाद उन्हें विस्मृत कर पाना कठिन है। सुन्दर, लम्बा, पंजाबी शरीर, गौर वर्ण, बड़ी-बड़ी आँखें, खड़ी लम्बी नाक—ऐसा था उनका गम्भीर व्यक्तित्व। शरीर पर लम्बी जटाजूट। जब वे आसन पर ध्यानस्थ होते तो उनके शरीर का बहुत बड़ा भाग उनकी लम्बी जटा से ढँक जाता। वे एक कठोर साधक थे। उनका अधिकांश समय हिमालय की दुर्गम पहाड़ियों एवं कंदराओं में व्यतीत हुआ। वे मैदान में बहुत कम रहे जंगलों और पर्वत की चोटियों पर ज्यादा।

नाथयोग पंथ के शिखर साधक थे सुन्दरनाथजी। उनका ज्यादा समय गुरुस्थल, गोरखपुर में व्यतीत हुआ। योगसिद्धि प्राप्त करने के बाद वे कठोरतम तपस्या के लिए बाहर निकल पड़े। फिर केदारखण्ड से लगी गुफाओं, बदरीनाथ धाम के अंचल में ऋषिगंगा के ऊपरी किनारों पर कुटिया में लम्बे समय तक तपस्या करते रहे। उनका प्रिय परिव्राजन क्षेत्र शतोपंथ था। हर दो-एक वर्ष बाद वे यहाँ जरूर आते थे।

मैदानों में उनका भ्रमण बहुत कम था, इसलिए उनके बारे में ज्यादा जानकारी नहीं सुलभ हो सकी।

●

मौनी दिगम्बरजी

बाल्यकाल से ही पुरन्दर साधु-जीवन के प्रति आकर्षित थे। युवा अवस्था आते-आते उनके भीतर आध्यात्मिक चेतना और प्रबल हो उठी। एक दिन वे कॉलेज से लापता हो गए। बाद में उन्होंने इलाहाबाद में एक सिद्ध योगी त्रयम्बक बाबा से दीक्षा ले ली। गुरु के आदेश से कलकत्ता के काली क्षेत्र में गंगा नदी के किनारे एकांत स्थान में साधना करते रहे। योगेश्वर त्रयम्बक बाबा से दीक्षा लेने के उपरांत साधना-पथ पर अग्रसर पुरन्दर के भीतर की आध्यात्मिक चेतना आलोकित हो रही थी। वे प्रतिदिन डायरी लिखा करते थे जिसमें अपने आध्यात्मिक संसार के अनुभवों और तत्त्व-चिंतन का लेखा-जोखा होता था। उनकी डायरी के पृष्ठ उनके साधक-जीवन के आलोक-पथ से हमें परिचय कराते हैं। यहाँ प्रस्तुत है इस महान साधक की दैनन्दिनी में अंकित तत्त्व-चिंतन के कुछ आयाम—

सभी वस्तुओं की शुरुआत का एक आरम्भ होता है, जैसे अंकुर के उद्‌गम से पूर्व मिट्टी के नीचे बीज की उपस्थिति है। मौनी दिगम्बरजी के इस विवरण के मूल में भी वैसी ही एक अन्तरालचारी स्रोत धारा गोपन है उसका प्रकाश एक दिव्य कृपाभिषिक्त घटना के माध्यम से हुआ था। लौकिक और अलौकिक सीमा रेखा पर इसे अपने चक्षुओं के सामने घटते हुए देखा था।

माघ मास था तथा पवित्र शिव चतुर्दशी की अंधकारमय रात्रि थी। निविड़ अंधकार मानो तीव्र शीत में अमरकंटक पर्वत के अंचल में और तीव्रतर हो उठा है।

इस पर्वत के हृदय को चीरती हुई निकलती है नर्मदा की पवित्र जल-धारा का स्रोत। इसी उद्‌गम-स्रोत के कुण्ड के किनारे नर्मदा माई की प्रतिमा एवं स्वयंभू लिंग विराजित है। सहस्त्रों पुण्य-लोभातुर नर-नारी प्रति वर्ष इन दिनों एकत्रित होते हैं। अबकी बार भी अनेक दलों में यहाँ एकत्रित हैं। कुण्ड-जल में स्नान एवं तर्पण के उपरान्त सभी नर्मदा माई को श्रद्धा-निवेदन कर रहे हैं तथा अपने अन्तर के उद्‌गार प्रकट कर रहे हैं।

साधु-महात्माओं की विराट जमात इस महापुण्यमय तीर्थ पर जमी हुई है। इस जमात में आप विशाल भारत के नाना साधु-समाजों को देख सकते हैं। आप

देखेंगे धूनी जमाए हुए योगी, वेदान्तिक एवं परमहंस से आरम्भ करके उदासी, नागा, नाथपंथी, वैष्णव और अघोरियों के दल बैठे हुए हैं।

तामसी रात्रि ने दिग-दिगन्त में अपना आँचल फैला दिया है। विन्ध्य गिरि की उपत्यका, अरण्य एवं विस्तीर्ण प्रदेश सूचीभेद्य अंधकार में ढक गया है। ऊपर आकाश में ताराओं का मण्डल टिमटिमा रहा है। दूर पहाड़ पर पेन्ड्रा रोड नामक पहाड़ी कस्बे में जगह-जगह जलती हुई रोशनी से दीपावली का भान होता है। यह दीपावली मानो नर्मदा माई का अर्घ्य हो।

रात्रि अभी नहीं हुई है। धूनी की अग्नि को घेरकर साधु-संन्यासियों का ध्यान एवं जप चल रहा है। गाँजा, भाँग, चरस का धुआँ अविराम उड़ रहा है। हजारों तंद्रिक नयनों में भोर के प्रकाश की प्रतीक्षा दृष्टिगोचर हो रही है। प्रभात होते ही सभी देवी के चरणों में पुष्पांजलि-अर्पण करके नर्मदा की परिक्रमा में निकल पड़ेंगे।

परिक्रमा के उपरान्त साधु-सन्त एवं गृहस्थ नर-नारी, अभी अपने आश्रमों, घरों को अपने चिर अभ्यस्त जीवन के बीच वापस चले जाएँगे।

सहसा सिद्धनाथजी के उच्च एवं उत्फुल्ल कण्ठ से सुनाई दिया, ''माईजी की पूजा समाप्त हो गई। अभी परिक्रमा शुरू होगी। जल्दी से डेरा-डंडा उठाओ, डेरा-डंडा उठाओ।''

सबसे अधिक शोर-गुल कर रहे हैं बाबा के चेला, प्रौढ़ एवं सदा हास्योज्वल सिद्धनाथजी।

त्रयम्बक बाबा का ध्यान तथा जप समाप्त हो गया है। धूनी छोड़कर वे खड़े हो गए हैं। सेवक सिद्धनाथजी के पास एक मुहूर्त का भी समय नहीं है। चटपट उन्होंने गुरुजी का व्याघ्राम्बर एवं झोली उठा लिया है। नर्मदाजी के विग्रह एवं कुण्ड के स्पर्श के उपरान्त बहुप्रतीक्षित पदयात्रा का आरम्भ हुआ।

नर्मदा-तट की यात्रा करने के बाद सभी को यहाँ के विग्रह के चरणों में पुनः वापस आना होगा।

किसी समय इलाहाबाद के उस पार झूँसी के बालुकामय तट पर त्रयम्बक बाबा पर्णकुटी बनाकर निवास करते थे। शिक्षित एवं अशिक्षित बहुत से लोग इन्हें एक शक्तिमान महापुरुष समझते थे तथा श्रद्धापूर्वक इनके पास आते-जाते थे। मेरे साथ भी इनका बहुत पहले परिचय हुआ था। कैसे उनके स्नेह-स्पर्श का लाभ प्राप्त हुआ था, यह ध्यान नहीं, किन्तु अवसर मिलते ही उनके पास चला आता था। अबकी बार वे नर्मदा की परिक्रमा में निकले हैं, सुनते ही साथ हो जाने का लोभ हो गया। विलासपुर में एक कार्य था, इस कारण व्यवस्था भी

आसानी से हो गई। रीवाँ राज्य एवं अमरकंटक काफी पास ही हैं। कुछ दिनों के अन्दर ही मैं इस जमात के साथ हो गया।

नर्मदा के उद्गम से क्षीण धारा नीचे बहती हुई चलती है। सर्दियों में यह जलधारा लुप्त ही रहती है। और इसको खोज निकालना बड़ा कठिन है। इसी के साथ पहाड़ के वक्ष-स्थल से उतर कर मील-पर-मील स्निग्ध हरित क्षेत्र का प्रसार है। नर्मदा की अंत:सलिला धारा इसको स्निग्ध प्राणरसों से पुष्ट करती है। हरी घास का एक सुन्दर गलीचा बिछा कर मानो अबोध बालकों का निरन्तर आह्वान करती है।

अमरकंटक से उतरता जा रहा हूँ। इसी समय गंगाधर चटर्जी से सहसा साक्षात हुआ। ऐसे समय में तथा इस परिवेश में मुलाकात होने पर आश्चर्यचकित हो उठा। पास के एक बड़े वृक्ष के पास खड़े हैं। साहेबी सूट पहने हुए हैं तथा शरीर पर आभिजात्य वर्ग की स्पष्ट छाप है। मुँह में तिरछी पकड़ी हुई टोबैको पाइप पड़ी है।

कौतूहलपूर्वक वे चिमटाधारी, नग्न, अर्धनग्न एवं भस्म-भभूत रमाए हुए साधु-संन्यासियों के दल को देख रहे हैं। पहले जैसे आज भी उनके पतले ओठों पर वक्र हँसी है। नाम लेकर पुकारते ही दौड़ आए।

गंगाधर बाल्यकाल के मेरे घनिष्ठ बंधु हैं। प्रवासी बंगालियों के बीच उनके परिवार की काफी प्रतिष्ठा है एवं गणमान्य पुरुषों से परिचय भी काफी है।

काफी दिनों से उनसे साक्षात नहीं हुआ था। सुना है, विलायत से बैरिस्टर होकर वापस आए हैं और इलाहाबाद हाईकोर्ट में काफी अच्छी तरह धाक जमा ली है।

दोनों हाथ बढ़ाकर गंगाधर ने मुझे सस्नेह पकड़ लिया।

विस्मयपूर्वक उसने स्मरण दिलाया—"कितने दिनों के बाद मुलाकात हुई, बता तो! तुम्हारी कोई खबर भी नहीं पा सका। सोचा था, बिल्कुल कलकतिया हो गए होंगे। फिर, यहाँ इस वेश में क्या कर रहे हो? कंधे पर एक झोला झुलाते हुए तथा हाथ में इतना बड़ा चिमटा और शबल लिये ठक-ठक करते हुए कहाँ जा रहे हो?"

हँस कर कहा, "नर्मदा की परिक्रमा में। हाथ का चिमटा, यह मेरा नहीं है, त्रयम्बक बाबा महाराज का है। चिमटा छोड़ कर चलने का कोई उपाय नहीं है, कारण रात में धूनी की अग्नि इसी से प्रज्वलित करनी होती है एवं दिन में शिष्य तथा सेवक लोग चिमटा तथा शबल से ही कंद-मूल खोज कर निकालते हैं तथा खोद कर बाहर करते हैं।"

"वे करें, इसमें मुझे कोई आपत्ति नहीं है, किन्तु तुम किस तरह इन लोगों के साथ जुट गए हो? साधु होओगे क्या?"

"भाई ऐसा भाग्य तो मेरा नहीं हुआ है। फिर भी अबकी बार इस तीर्थ-यात्रा का लोभ नहीं छोड़ पाया। इसके अलावा, पता नहीं कैसे नर्मदा माई ने इस बार बहुत अधिक आकर्षण किया है। किन्तु अमरकंटक के इस कंटकवन में तू कौन-सी बैरिस्टरी कर रहा है, बताओ?"

"एक बन्धु अस्वस्थ है, पेन्ड्रा रोड के सैनेटोरियम में रह रहा है। उसे ही देखने इधर आया था। सुना परिक्रमा के लिए अमरकंटक में साधुओं की विशाल जमात इकट्ठी हुई है तथा मेला लगा हुआ है। कौतूहल जाग्रत हुआ, इसी कारण एक जीप लेकर निकल पड़ा। पहाड़ के नीचे तक काम करने के लिए एक गाड़ी का रास्ता इन दिनों तैयार हुआ है, उसी से तो आ सका।"

"समझता हूँ कि अब पेन्ड्रा रोड वापस चले जाओगे?"

"बात तो ऐसी ही थी। फिर भी यहाँ की सारी बातें देख-सुनकर सहसा एक विचार मन में उठा है। इन सभी के साथ पर्यटन में निकल पड़ने में क्या बुराई है?"

"ऐसा कैसे सम्भव है रे? सुनता हूँ तुम्हारी प्रैक्टिस काफी बढ़ी हुई है। इतने दिनों की परिक्रमा से क्या क्षति नहीं होगी? इसके अलावा बिना सूचना दिए सहसा दो-तीन मास के लिए निकल पड़ोगे? घर में स्त्री, पुत्र भी तो रहते हैं? वे तो आशंका में मर जाएँगे। नहीं भाई, यह बात उचित नहीं है। देखता हूँ, बाल्यकाल की लापरवाही तुम्हारे अन्दर रह गई है। संसार की बाधा, संसारी लोगों को माननी पड़ती है रे।"

"नहीं रे, ये सब कोई बाधाएँ मेरे साथ नहीं हैं। है तो केवल अपने मन की ही बाधा। देखो, व्यवसाय के प्रसार पर मैंने कोई ध्यान नहीं दिया—वह तो अपने आप ही बढ़ गया। तुम तो जानते ही हो, मेरे पिता तथा पितामह काफी दूरदर्शी थे। अपने खा-पी कर भी मेरे लिए काफी कुछ छोड़ गए हैं। मुझे परिश्रम करने की बहुत आवश्यकता नहीं है। इसके अलावा मैं भी कम बुद्धिमान नहीं हूँ, इसका प्रमाण भी है—अर्थात विवाह भी अब तक नहीं किया है।"

"कुछ भी हो, इतना कष्ट क्यों सहेगा, बता तो?"

"नहीं भाई, मैंने निश्चय कर ही लिया है। तुम्हारे साथ ही निकल पड़ूँगा। एक नवीन प्रेरणा से कौतूहल जग पड़ा है, शुद्ध मात्र कौतूहल। तुम्हारे लाइन की बात इसमें कुछ भी नहीं है। भाग अरण्य जीवन का स्वाद एक बार देखूँगा। अपने बाबा महाराज से चटपट अनुमति ले ले भाई।"

गंगाधर हमलोगों के साथ ही पदयात्रा में मस्त था। रास्ता चलने के दुस्सह नशे ने मानो उसे ग्रस लिया है तथा उसके ही नर्मदा के बालुकामय तट तथा जलधारा के प्रति भी उसका एक अहैतुकी अनुराग भी बढ़ गया है।

चलते-चलते उस दिन मण्डली के सभी चन्दोनी के विख्यात मन्दिर के सामने उपस्थित हुए। श्वेत संगमरमर का एक विशाल शिवलिंग वहाँ स्थापित है। इस स्थान के साथ बहुत से सिद्ध-साधकों की स्मृतियाँ जुड़ी हुई हैं। नर्मदा के घाट पर स्नान करके बिल्वपत्र लेकर सभी पूजा-अर्चना समाप्त कर रहे हैं।

अकस्मात गंगाधर के मन में न जाने क्या विचार आया, मुझसे कहा, ''अच्छा नर्मदा के जल के ऊपर मन में बहुत लोभ क्यों हो रहा है, बता तो? इच्छा हो रही है कि किनारा पकड़कर परिक्रमा न करके जलधारा में ही शरीर भिंगाता चलूँ। आज से रास्ते में जब भी इच्छा होगी, बार-बार स्नान करूँगा।''

विज्ञ अभिभावक के रूप से मैंने उसे जवाब दिया, ''ऐसा तो करोगे—मैंने समझा, परन्तु इतने कपड़े तुम्हारे पास कहाँ हैं? देख रहा हूँ, काट-शर्ट ट्राउजर ही तुम्हारे एकमात्र संबल हैं। केवल पथ चलना तथा स्थान परिवर्तन ही तो करना है। यह सब सुखाओगे कब?''

''उसका डर नहीं है—शरीर पर ही सुखा लूँगा।'' गंगाधर ने अनायास ही कह दिया।

''अरे, इतनी वीरता दिखाने की आवश्यकता नहीं है। एकदम से इतना सह नहीं पाओगे। मैं तो यही कहूँगा पेन्ड्रा रोड के अपने होटल में वापस चला जा। अभी भी हम लोग बहुत दूर नहीं आए हैं।''

जैसी उसने बात की वैसा ही कार्य भी किया। नित्य रास्ता चलते हुए बीच-बीच में विश्राम के समय गंगाधर नर्मदा की गोद में डुबकी लगा लेता था। उल्लासपूर्वक तैरता तथा दुष्ट बालक के सदृश अपने साथियों के छींटे देता। जल से निकल कर पक्षियों की तरह मात्र शरीर को फटकार देता। वस्त्रों का थोड़ा जल मिट्टी में गिर पड़ता बाकी उसके शरीर पर सूखता रहता, केवल धूप और हवा में।

इस स्नान से उसके हृदय में अपूर्व आनन्द था। चेहरे से ही खुशी टपकती थी। हाथ के 'टुबैको पाइप' को उसने अवहेलनापूर्वक जल में ही विसर्जित कर दिया है।

साधुओं की जपध्वनि में अब तक गंगाधर को योगदान देते हुए नहीं देखा था। कब सुयोग पाते ही परम उत्साहपूर्वक चिल्ला उठता है—''नर्मदा माई की जय।''

ऐसी ही दशा में काफी दिन बीत चुके हैं तथा गंगाधर में अद्भुत रूपान्तर हो गया है। गले की नेकटाई पता नहीं कब की गायब हो चुकी है। शरीर के

ऊपर पड़ा कीमती कोट पता नहीं कब जलधारा में विसर्जित हो गया है—उसे कोई सुध नहीं है। मात्र गंदा ट्राउजर पहने वह महाआनन्द में परिक्रमा में चल रहा है।

खंभात की खाड़ी में पहुँच कर नर्मदा ने अपनी पवित्र जलधारा, सागर में विसर्जित कर दी है। नदी के मुहाने पर स्नान तथा तर्पण समाप्त करके, उस पार जाकर साधुओं की जमात फिर अमरकंटक के उद्‌गम स्थान की ओर वापस चली।

इतना लम्बा रास्ता इन लोगों के साथ पैदल ही तय करता चला जा रहा हूँ। मन में उत्साह के उद्दीपन में लेशमात्र भी कमी नहीं है, फिर शरीर कुछ क्लान्त-सा हो गया है।

किन्तु, सभी गंगाधर को देखकर विस्मित हो रहे हैं। धनी घर का लड़का है, जिसका सारा जीवन ऐश्वर्य में बीता है। संभवतः उसने अपने सारे जीवन से भी इस पद-परिक्रमा जितना रास्ता तय नहीं किया होगा। उसके शरीर तथा मन में एक अपूर्व भाव का उद्दीपन एवं अपूर्व शक्ति दृष्टिगोचर हो रही है। नर्मदा के घाट-घाट पर वह स्नान करता जा रहा है; तथा मुख से अविराम भजन तथा स्तुति गाता चल रहा है। धूसर केश तथा बढ़ी हुई दाढ़ी। शरीर पर मात्र एक ट्राउजर ही सहारा था परन्तु वह भी स्नान करते-करते सड़कर क्षत-विक्षत हो गया है, जिससे लज्ज निवारण भी सम्भव नहीं है। उसकी ऐसी अद्‌भुत अवस्था क्यों? इसे क्या कहा जायगा? दिव्य भाव का आवेश या वायुरोग? परिक्रमारत सभी साधु-सन्तों ने उसका नवीन नामकरण किया है—दिगम्बरजी। वस्त्रों की दृष्टि से—एकदम नंगा।

त्रयम्बक बाबा से कुछ भी कहने का साहस नहीं हुआ। सिद्धनाथजी को बुलाकर मैंने कहा, "क्यों आपके साधु जमात के साथ के कारण गंगाधर अब पागल हो जायगा?"

"मारूँगा एक चिमटा!" सिद्धनाथजी ने कृत्रिम कोप दर्शाते हुए कहा—"अरे पागल तो तुम हो। जैसा आनन्द गंगाधरजी के जीवन में आया है वह किसी को मिलना बड़ा कठिन है। सब हमारी नर्मदा माई की कृपा और लीला है। बड़ा भाग्य है तुम्हारे दोस्त का। पवित्र धारा में स्नान करते-करते ही देवी की कृपा मिल गई।"

सिद्धनाथजी का यही सबसे बड़ा दोष है कि वकालत के अलावा अन्य कोई बात कभी नहीं बोलते। उनका कण्ठ स्वर त्रयम्बक बाबा के कानों में पड़ा। आगे बढ़कर उन्होंने हमारी बातचीत सुनी। हँसते हुए उन्होंने कहा, "बाबा, सिद्धनाथ की बात अक्षरशः सत्य है। गंगाधर के जीवन में नर्मदा माई की कृपा

का अवतरण हो गया है। उसका सारा अन्तर ध्यानावस्थित हो गया है। ऐसा लगता है कि अपने इस मित्र को केन्द्र करके और भी बहुत सी बातें देखोगे। बाबा, सभी परमात्मा की इच्छा है।''

अमरकंटक पहाड़ के शिखर पर वह साधु जमात वापस आ गई है। उनकी यह पुण्य परिक्रमा पूर्ण हो चुकी है। नर्मदा माई के छोटे तुषार शुभ्र मन्दिर के चतुर्दिक एक आनन्द का पारावार है। उस दिन धर्मप्राण, धनकुबेर सेठ बृजलाल का भण्डारा मध्याह्न में चल रहा है। पूरी, कचौड़ी, लड्डू, मालपूआ के भोजन से साधुओं की मण्डली में सरगर्मी है।

अपराह्न में त्रयम्बक बाबा ने मुझे पास बुलाया। मन्दिर के पिछवाड़े आँवले के वन में उन्होंने डेरा डाल रखा है। पास ही कम्बल पर गंगाधर अर्धबाह्य अवस्था में सोया हुआ है।

उसकी ओर अँगुली से इशारा करते हुए त्रयम्बक बाबा ने कहा, ''बाबा, अपने मित्र को साथ लेकर तुम उसे यथास्थान उसके घर पहुँचा आओ। चिन्ता की कोई बात नहीं है, उसे उन्माद नहीं हुआ है। फिर भी, वह बिल्कुल ही बदल गया है, यह कथन सत्य है। संसारी मनुष्यों के साथ अब उसका निर्वाह नहीं हो सकेगा। अब वह बिल्कुल मौनी है, सदा ध्यान के गम्भीर सागर में डूबा रहेगा।''

''ऐसा क्यों बाबा? क्या पुराना गंगाधर हमें वापस नहीं मिल पाएगा? वह अपने आत्मीय परिजन एवं बंधु-बांधवों के बीच क्या अब से वह अपरिचित तथा दुरूह ही बना रहेगा?''

''इसमें ग्लानि की क्या बात है बाबा? मनुष्य को जब अपने स्वरूप का बोध हो जाता है, तब उसके लिए अन्य सारी वस्तुएँ निरर्थक हो जाती हैं। याद रखो गंगाधर दिव्य आनन्द का स्वाद ले रहा है। अगर यह सत्य है तुम्हें उसके लिए दुःख क्यों है?'' सहज भाव से त्रयम्बक बाबा ने उत्तर दिया।

''फिर उसे इलाहाबाद तक पहुँचा देना होगा?''

''नहीं वहाँ का वातावरण इन दिनों उसके लिए सह्य नहीं होगा। उसे गाँव वाले घर पर ही छोड़ आओ।''

''वह तो गाजीपुर अंचल के पौड़ी ग्राम में है। उसी काफी दिनों से परित्यक्तघर में?''

''हाँ, एकांत तथा शान्त वातावरण न होने से तो इस समय उसका काम नहीं चलेगा। उसे वहीं छोड़ आओ, बाबा।''

गंगाधर को साथ लेकर सिद्धनाथ तथा मैं पौड़ी ग्राम पहुँचे। पहले से ही तार दे दिया था। स्टेट के मुनीम एवं दूर के एक रिश्तेदार के हवाले कर हम लोग वापस आए, उस समय भी वह अर्धोन्माद की अवस्था में ही था। शरीर पर मात्र

ट्राउजर का ही एक हिस्सा था, वह भी कुछ दिन पहले उसने छोड़ दिया था, अब एकदम नंगा ही था।

सिद्धनाथजी का आदेश था, इसलिए उसी दिन वापस आना पड़ा। साधु नयनों से मैंने अपने बाल्यबंधु गंगाधर से बिदा ली। किन्तु वह स्वयं मौन था। इसके अलावा उसके चेहरे से भी कोई भाव प्रकट नहीं हुआ। निर्मोह जीवन के एक उत्तुंग शिखर पर आसीन है। विस्फारित नयन द्वय से वह निर्निमेष देखता ही जा रहा है। उज्ज्वल एवं प्रदीप्त दो नेत्र ही मानों उसके सारे शरीर पर छा गए हैं। किसका प्रकाश उस दृष्टि में अलोकित हो रहा है ? कौन जानता है ?

कलकत्ता वापस आकर मैं अपने व्यक्तिगत कार्यों में व्यस्त हो गया। इच्छा होने पर भी गंगाधर को देख आने का सुयोग नहीं पा रहा था। फिर भी, उसके घर के मुनीम से बीच-बीच में समाचार लेता रहता था।

गाँव के पैतृक निवास पर जाने के बाद से गंगाधर ने फिर स्थान त्याग नहीं किया। घर के पास स्थित बेल के पेड़ के नीचे ही उसका आसन था। उसी आसन पर बैठ कर सारा दिन तथा रात ध्यान में ही व्यतीत करता था। शीतकाल तथा ग्रीष्म दोनों समय में नंगा ही रहता था। मुँह से कोई शब्द नहीं निकलता था, बिल्कुल मौनी। गाँव के नर-नारियों में वह दिगम्बरजी के नाम से ही परिचित हो उठा था। स्टेट के मुनीम ने और भी लिखा था, उसके जीवन में विस्मयकर विभूतियों का प्रकाश भी अवतरित हो गया था। उसके आशीर्वाद से बहुत लोगों के कठिन रोगों का भी निवारण हो रहा है। घर के प्रांगण में तथा आस-पास आर्त भक्तों की भीड़ का अंत नहीं है।

बहुत वर्षों से गंगाधर से साक्षात्कार नहीं हुआ है, परन्तु क्या भूल पा रहा हूँ ? उसकी स्मृति मेरे मानस-पट पर दिन प्रतिदिन और भी उज्वल होती जा रही है। वह मुख तथा नेत्र तथा नाटकीय रूपान्तर की स्मृति क्या भूल पाना सहज है ?

अकस्मात कलकत्ता में ही सिद्धनाथजी का एक जरूरी तार मिला। गौहाटी से भेजा गया था। त्रयम्बक बाबा का एक जरूरी आदेश था—अविलम्ब मुझे गंगाधर के गाजीपुर जिला स्थित गाँव में जाना होगा। वहाँ से उसे लेकर बाबा के अनन्य भक्त हिरण्य सरखेल के गौहाटी वाले बँगले पर पहुँचाना होगा।

नंगे भावाविष्ट साधक गंगाधर के शरीर पर चादर ओढ़ाकर किसी तरह उसे साथ लेकर गौहाटी पहुँचा।

बँगले पर पहुँच कर विश्राम या देरी करने का आदेश नहीं था। सिद्धनाथ पहले से नदी के घाट पर नाव लेकर प्रस्तुत थे। थोड़ा हँस कर उन्होंने मेरी अभ्यर्थना की।

तरंग विक्षुब्ध ब्रह्मपुत्र नदी के बीच में अपरूप महिमा के साथ स्थित है— शैलतीर्थ उमानन्द भैरव का स्थान। नौका छूटने के कुछ देर बाद उस स्थान पर ज़ा लगी। त्रयम्बक बाबा अपनी आनन्दघन मूर्ति लिये पहले से ही घाट के सामने उपस्थित थे। परम स्नेह से उन्होंने हाथ बढ़ा कर गंगाधर के भावकम्पित शरीर को पकड़ लिया।

पहाड़ के ऊपर क्षुद्रायतन मन्दिर है। कुछ कदम आगे जाने के बाद मन्दिर के गर्भ में स्थित अंधेरी कोठरी में उतरना पड़ता है। त्रयम्बक बाबा गंगाधर का हाथ पकड़ कर चल रहे हैं। वह भी निर्वाक मंत्रमुग्ध जैसे चला जा रहा है।

गर्भ मन्दिर में प्रवेश करने के साथ-साथ गंगाधर के कण्ठ से एक भीम भैरव हुंकार सुनाई पड़ा। मौनी ने मानो अपनी अनुभूति की भाषा खोज ली है। दोनों हाथ ऊपर की ओर उठा कर वह स्तम्भिक खड़ा है। दोनों नेत्र जैसे उदीप्त हैं तथा सारे शरीर में प्रबल स्पन्दन है। मुँह से 'बम-बम्' का गम्भीर घोष निकल रहा है। सामने ही एक व्याघ्र-चर्मासन बिछाया हुआ है। त्रयम्बक बाबा ने उसे आसन पर बिठा दिया।

कुछ ही क्षणों में मन्दिर के गर्भ में एक परम प्रशान्ति का वातावरण छा गया। गंगाधर धीरे-धीरे ध्यान के अतल सागर में निमग्न हो गया। उसके चेहरे से दिव्य ज्योति की आभा फूट रही है। मानो समग्र चेतना भास्वर होकर निष्कल दीपशिखा जैसी जल उठी है।

मेरे मनोलोक पर एक के बाद एक विस्मय का धक्का पड़ रहा है। कितने आश्चर्य की बात है कि सारी दैवी घटनाएँ मेरे बंधुवर गंगाधर को केन्द्र कर के चल रही हैं।

मन्दिर से बाहर आकर मैंने सिद्धनाथजी की शरण ली। प्रश्न किया, "भाई मामला क्या है, सारी बातें खोलकर बताइए। अकस्मात यह आपका टेलीग्राम कैसे? क्यों इतनी जल्दीबाजी करके इतनी दूर से गंगाधर को ले आया गया? वह आकर इस तरह समाधिस्थ क्यों हुआ? इसका रहस्य क्या है?"

सिद्धनाथजी सबल प्राण तथा सदानन्दमय पुरुष हैं। आधा बँगला तथा आधी हिन्दी में उन्होंने अबतक की सारी बातें विस्तारपूर्वक खोलकर बताईं।

पूर्वी हिमालय के नाना अंचलों में घूमकर कुछ दिन हुए, सभी उमानन्द भैरव पहुँचे। यहाँ के मन्दिर-गर्भ में घुसते ही त्रयम्बक बाबा ध्यानस्थ हो गए। महापुरुष की दृष्टि के समक्ष एक अलौकिक दृश्यपट का अनावरण हो उठा। उन्होंने अपने गंगाधर की ज्योतिर्मण्डित मूर्ति को देखा—उसकी पीठ दीर्घ जटाओं से लदी हुई है तथा दोनों चक्षुओं से योगसिद्धि की दिव्य द्युति निकल रही है, तथा पूरे स्थान के अस्फुट ओंकार नाद ध्वनित हो रहा है। आकाश में, हवा में

तथा ब्रह्मपुत्र के उर्मिकल्लोल में भी निरन्तर गंगाधर के कण्ठ से अपरूप ध्वनि ॐ ॐ ॐ निरन्तर तरंगित हो रही है।

शक्तिधर योगी त्रयम्बक बाबा की दृष्टि निमेष मात्र में गंगाधर के अपने ग्रामस्थित साधन आसन की ओर प्रसारित हो गई—इस दृष्टि ने उसके वर्तमान एवं पूर्वजन्म के जीवन क्षेत्र का भी भेदन कर दिया।

गम्भीर स्वर में महापुरुष ने कहा, ''अरे, यहीं इसी स्थान पर—इसी आनन्द भैरव मन्दिर में ही गंगाधर की साधना (अतीत की) का अपना स्थान है। यहीं की भूमि में, आकाश में तथा वायु में उसने अपने पूर्वजन्म की अष्ट सिद्धियों का ऐश्वर्य रख छोड़ा है। पूर्व जन्म के सिद्ध आसन पर वह सदा ही प्रणव मंत्र का उच्चारण करता था। वही मंत्र, वही स्पन्दन अभी भी यहाँ अविरक्त तरंगित होता रहा है। अबकी शीघ्र ही उसे बुला लो। यहीं बैठ कर उसके इस जीवन के सारे अभीष्ट का लाभ हो।''

कमण्डल से थोड़ा जल लेकर घर-घर करते हुए गले को सिंचित करने के बाद सिद्धनाथजी ने हँसकर कहा, ''अरे बाबा, इसलिए ही तो हमने तुमको तार भेजा और इतना काण्ड यहाँ हो रहा है।''

गंगाधर की यह गम्भीर ध्यानावस्था एवं समाधि, महासमाधि के रूप में परिणत हो गई। ब्रह्मरंध्र के पथ के प्राणवायु का उत्क्रमण हो गया।

प्रभात सूर्य के स्वर्णालोक में ब्रह्मपुत्र उस दिन झिलमिला रही थी, परन्तु उसके हृदय में यह कैसा विक्षोभ है? यह किस अशान्ति का आलोड़न है? एक के बाद एक तरंग शैल द्वीप उमानन्द भैरव के कठिन शिलास्तूप पर उन्मत्तता की अवस्था बार-बार टकरा रही है।

नीरव तथा नतशिर कई आदमियों ने मिलकर गंगाधर की देह को नीचे उतार लिया है। उसे पुष्प तथा चंदन से सजाकर नदी की धार में विसर्जित कर दिया।

फेनिल जलधारा के आवर्त में एक मुहूर्त में ही न जाने शव देह कहाँ अदृश्य हो गया।

मेरे दोनों नेत्र अश्रु-सजल हो उठे हैं। मानस में एक मर्मांतक पीड़ा उमड़ आई है तथा एक के बाद एक प्रश्न मन से उठ रहे हैं।

गम्भीर रात्रि में निःशब्द धीरे-धीरे त्रयम्बक बाबा के पास आकर बैठ गया। आशादण्ड का सहारा लेकर महापुरुष बैठे हुए हैं। वे तन्द्राच्छन्न हैं या घनाविष्ट, समझ नहीं पाया। मेरी ओर न देखते हुए धीमे स्वर में उन्होंने कहा, ''बैठो, कोई प्रश्न है?''

जल्दी से पास बैठते हुए मैंने कहा, ''जी, है।''

कुछ समय नीरवता में ही कट गया। बात आगे बढ़ाते हुए मैंने कहा, "गंगाधर का मामला जितना दुखान्त है, उतना ही रहस्यमय है।"

"नहीं, बाबा, उसका यह तिरोधान विषाद का विषय तो है नहीं, वरन् महाआनन्द का है।"

चौंक कर प्रश्नसूचक दृष्टि से मैंने उनकी ओर देखा।

त्रयम्बक बाबा कहते रहे, "थोड़ा शान्तिपूर्वक विचार करो, वित्तवान बैरिस्टर का जीवन यापन करते हुए तथा अपने को सदा भोग-विलास में डुबाए रखने से क्या उसका सचमुच कोई काम होता? आत्मिक जीवन की पूर्णता तो नहीं घटती। यही होता कि यह जन्म एक पालतू विलायती कुत्ते जैसे आराम से बिताता। यह क्या काम्य है?"

उत्तर में मैंने संक्षेप में कहा, "ऐसा तो नहीं ही है।"

"मानव साधना का श्रेष्ठ फल है, आत्मज्ञान लाभ तथा ब्रह्मानन्द की प्राप्ति होती है। इस फल की प्राप्ति न होने पर मानव-जीवन वन्ध्या एवं निष्फल होकर ही रहेगा। बाबा, जीव को शिवत्व प्राप्त करना होगा—ब्रह्मज्ञान का अधिकारी होना होगा। यह परम सौभाग्य प्रत्येक मनुष्य के भाग्यलेख में लिखा है। जन्म-जंन्मान्तर की त्याग-तितिक्षा एवं तपस्या की भित्ति पर वह इस भाग्य लेख को रूपान्तरित करने के सतत प्रयास में है। गंगाधर के जीवन में इसी साफल्य का प्रकटन हुआ। इसी कारण परमानन्दपूर्वक ब्रह्म में विलीन हो गया। फिर इसमें दुःख का क्या प्रयोजन है, बता दो बाबा? विगत जीवन की साधना से जो कुछ प्राप्ति हुई थी इस बार वह पूर्ण हो उठी।"

मैंने जिज्ञासा की, "एक बात बार-बार मन में आती है! नर्मदा के जल में किस अलौकिक शक्ति का बीज है, यह तो मैं नहीं जानता, परन्तु यह बात तो सत्य ही है कि उसी का पवित्र स्पर्श पाकर ही गंगाधर का यह अद्‌भुत रूपान्तर हुआ था। सोच रहा हूँ, यह अदभुत काण्ड किस तरह सम्भव हुआ?"

"असल बात क्या है, जानते हो बाबा? मनुष्य की मुक्ति प्रधानतः उसके प्रारब्ध के खण्डन के ऊपर निर्भर करती है। पुण्य लग्न एवं पुण्य स्थान का प्रभाव भी कुछ कम नहीं है। गंगाधर के सम्बन्ध में देखा गया, उसका प्रारम्भ शेष हो आया था। पुण्य सलिका नर्मदा के स्नान तथा तर्पण से उसके जीवन में मानो एक सहारा मात्र मिल गया। तामसी निद्रा शेष हो गई। उसका जीवन एक आत्मिक ज्योति से उद्‌भासित हो गया। उसके बाद उसका सारा अभीष्ट सिद्ध हो गया।"

मैंने प्रश्न किया, "फिर क्या समझूँ, इस तीर्थ के स्पर्श से ही गंगाधर के अन्दर यह आश्‍चर्यजनक रूपान्तर हुआ?"

"बाबा, यह बात तो माननी ही पड़ेगी कि मनुष्य के अध्यात्म-रूपान्तर का सबसे बड़ा कारण उसके पूर्वजन्म की साधना और संस्कार तथा इस जन्म की

गुरुकृपा है। किन्तु यह संस्कार और गुरुकृपा एक विशेष लग्न तथा एक विशेष भूमि पर ही सक्रिय हो उठता है। अमरकंटक तथा नर्मदा तट पर उस दिन इसे प्रत्यक्ष देखा गया।''

''अब तक यही सोचता था कि तीर्थ महात्म्य शुद्ध भावुक भक्तों की कल्पनामात्र है। देव स्थान या कोई भूमि विशेष ऐसी जाग्रत हो सकती है या ऐसे इन्द्रजाल की सृष्टि कर सकता है, ऐसा मैंने कभी विश्वास नहीं किया था। अब भी यह आश्चर्यजनक ही लग रहा है कि किस तरह यह सम्भव होता है।''

आशादण्ड को आसन पर रख कर मेरी ओर उन्मुख होकर त्रयम्बक बाबा बैठ गए। शान्त स्वर में उन्होंने कहा, ''इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है। तीर्थभूमि मात्र भूमि नहीं है, वह तो जाग्रत तपस्या-लोक है। युग-युगान्तर से बहुत से सिद्ध-साधक इस भूमि पर मंत्रों का उच्चारण करते रहे हैं। इससे प्रत्येक धूलिकण, आकाश तथा वायु चैतन्यमय हो उठता है। ब्रह्मज्ञ पुरुष का स्पन्दन तथा उनकी तपस्या द्वारा प्रदीप्त ताप वहाँ बराबर रहता है। जो स्थान स्वयं ही चैतन्यमय है, वह मुक्तिकामी मनुष्यों का चैतन्य क्यों नहीं जगा सकेगा? उन्मुक्त मन से एवं श्रद्धापूर्वक मुमुक्षु होकर वहाँ तपस्या पर बैठो। स्वयं अनुभव करोगे कि सारी सत्ता पर दिव्य आनन्द की तरंग खेलती मिलेगी।''

मैंने प्रश्न किया, ''मंत्रों की वह शक्ति, वह गूँज, तपस्या का वह स्पन्दन तथा ताप किस तरह युग-युग से अव्याहत रहता है?''

''क्यों, क्या तुम्हारे आधुनिक पदार्थ विज्ञान में क्या यह नहीं बताया कि सृष्टि के किसी भी उपकरण का पूर्णतया लय कभी नहीं होता? वस्तु का रूपान्तर होता है, सूक्ष्म से सूक्ष्मतर हो जाता है, परन्तु उसका अस्तित्व तो रह ही जाता है।''

''जी हाँ, यह बात तो ठीक है।''

''तपस्या का ताप भी इस प्रकार चिर अक्षय रहता है। इस देश के तीर्थ तथा सिद्धपीठों में यह ताप चिर विराजमान है। तुम्हारे भीतर की प्रस्तुति ठीक होने पर इसका प्रभाव सक्रिय हो उठता है। तुमने स्वयं भी तो नर्मदा के पीठ स्थान, अमरकंटक का प्रभाव देख लिया है। गंगाधर के जीवन में चैतन्य के प्रकाश का अवतरण हो गया—जैव जीवन से निकल कर वह एक मुहूर्त में शैव जीवन के द्वार पर आ उपस्थित हुआ। यहाँ आकर भी तुमने प्रत्यक्ष देखा है, किस तरह गंगाधर ने अपने पूर्व जीवन की साधना के सूक्ष्म स्पन्दन को ढूँढ़ लिया—इतनी लम्बी अवधि के बाद, उमानन्द भैरव की जाग्रत पीठ पर उसकी पूर्वसंचित साधना, उसके लिए ही, उसकी अपेक्षा में थी। यहाँ पहुँचते ही गंगाधर को अपना

ताप एवं स्पन्दन पहचान लेने में एक मुहूर्त का भी विलम्ब नहीं हुआ। उसके भीतर ही डूब कर उसने अपनी परम मुक्ति का वह साधन कर लिया।''

सहज भाव से त्रयम्बक बाबा ने सूक्ष्म लोक के इस अपूर्व तथ्य की प्रस्तुति की और उसके बाद बिल्कुल मौन हो गए।

पहाड़ पर तथा नदी के तट पर स्थित वन में अंधकार फैल गया है। भीम भैरव गर्जन के साथ उत्ताल ब्रह्मपुत्र इस शेषपीठ पर बार-बार थपेड़े दे रही है। सिर के ऊपर का आकाश मानो एक सीमाहीन अतलस्पर्शी पारावार बना हुआ है।

नीरवता भंग करते हुए मैंने निवेदन किया, ''आपके मुख से जन्मान्तर के संस्कार, गुरुकृपा तथा सिद्धपीठ की महिमा सुनकर आज मैंने एक नवीन दिगन्त का संधान पा लिया है। सोच रहा हूँ, अब देरी न करके परिव्राजन के लिए बाहर निकल पड़ूँ।''

''अभी नहीं। दो वर्ष बाद ही हरिद्वार में पूर्ण कुम्भ का पर्व आ रहा है। उस अवधि तक प्रतीक्षा करो।''

●

गोस्वामी श्यामानन्द

श्रीकृष्ण मण्डल जाति के सद्गोप थे। बंगाल के दण्डेश्वर गाँव के रहने वाले थे। लेकिन कालक्रम में उड़ीसा में आकर घारेन्दा-बहादुरपुर अंचल में बस गए है। श्रीकृष्ण मण्डल के कई संतानें हुईं परन्तु सभी काल-कवलित हो गईं। श्री मण्डल और उनकी पत्नी दुरिका इससे काफी दु:खी रहने लगे। अंतत: एक सन्तान जीवित रही। चूँकि इसका जन्म दु:ख के समय हुआ, इसलिए इसका नाम दु:खी रख दिया गया। गाँव के लोग इसे दुखी नाम से ही पुकारते थे। कालांतर में यही बालक गोस्वामी श्यामानन्द के नाम से विख्यात हुआ।

माता-पिता चाहते थे दुखीराम एक महापण्डित के रूप में समाज में प्रतिष्ठित हों। फलस्वरूप इन्हें गाँव के संस्कृत टोल में भेजा गया। दुखीराम की प्रतिभा को देखकर भी शिक्षक हैरत में थे। दुखीराम न केवल अपना पाठ शीघ्र याद कर लेते वरन कठिन से कठिन शास्त्र-ग्रन्थों को भी यथाशीघ्र ही समझ लेते।

जब दुखीराम किशोरावस्था में पहुँचे तो इनके भीतर सांसारिक विषयों के प्रति उदासीनता जाग उठी। बड़ा ही अद्भुत स्वभाव था इनका। लगता था भाव-भाव जन्मजात इन्हें प्राप्त था और अपने समस्त जीवन को भक्तिपथ पर ही अग्रसर कर देना चाहते थे।

उस समय निताई गौरांग का प्रभाव समस्त बंगाल और उड़ीसा में व्याप्त था। बालक दुखीराम भी उनसे प्रभावित हुए बिना नहीं रह सके। निताई गौरांग के प्रभाव में आकर ही किशोर दुखीराम ने संकल्प कर लिया कि वह सांसारिक माया-मोह त्याग कर वैष्णव-साधना मार्ग ग्रहण करेंगे। कालना के परम भागवत हृदय चैतन्य का नाम उसने पहले से ही सुन रखा था। उन्हीं से दीक्षा लेने का निश्चय कर लिया।

जब किशोर दुखीराम ने अपनी भावना से माता-पिता को अवगत कराया तो उनके आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा और वे बेहद दुखी हुए। एक ही तो बेटा था बुढ़ावे का सहारा, वह भी वैराग्य ग्रहण करने को कह रहा है। उन्होंने बेटे को लाख समझाया पर बेटे ने कहा, ''मैं समझता हूँ कि दीक्षा और साधना से रहित जीवन पशु के समान होता है। अम्बिका-कालना के वैष्णवाचार्य हृदय-चैतन्यदेव के सान्निध्य में उन्हीं से दीक्षा लेकर मैं साधना करूँगा। आप लोग मुझे आज्ञा दें।''

दुखीराम के माता-पिता के ऊपर तो मानों आकाश टूट पड़ा। वे जड़ हो गये। उनके सारे सपने बिखर गए। वे बेटे के भविष्य को लेकर भी चिन्तित हुए। अभी उम्र क्या थी दुखीराम की। वह कहाँ भटकेंगे।

माता-पिता के आँसू और घर छोड़कर न जाने का आग्रह भी दुखीराम को अपने संकल्प से नहीं डिगा सका। वह अविचलित रहे। सांसारिक माया से विमुक्त हो चुके थे। माता-पिता की चरणधूलि माथे लगायी और निर्विकार भाव से साधना-पथ पर चल पड़े।

आज वही दिन था जब किशोर दुखीराम की मनोकामना पूरी होने वाली थी। महावैष्णव गौरीदास पण्डित के प्रिय शिष्य ठाकुर हृदय चैतन्य के गौर-विग्रह मन्दिर में सदा की भाँति कीर्तन होने के बाद सांध्यकालीन आरती भी समाप्त हो गई थी। ठाकुर हृदय चैतन्य प्रांगण में बैठकर अपने भक्तों को महाप्रभु की लीला-कथा सुना रहे थे। इतने में ही एक किशोर ने आकर साष्टांग दण्डवत किया। इसके बाद अश्रुरुद्ध कण्ठ से उसने निवेदन किया, ''प्रभु, मैं बहुत दूर से आकर आपके चरणों में उपस्थित हुआ हूँ। आपसे शिष्यत्व ग्रहण कर अपने जीवन को धन्य करना चाहता हूँ। कृपा करके मुझे दीक्षा देकर अपने चरणों में आश्रय देने की कृपा करें।''

इस किशोर के विनम्र निवेदन और हृदय की व्याकुलता हृदय चैतन्य की दृष्टि से छिपी न रह सकी। उन्होंने उसे उठा कर गले लगा लिया। अपने पास बैठाया। फिर स्नेह से पूछा, ''वत्स, तुम्हारा परिचय क्या है? तुम कहाँ के रहने वाले हो? तुम्हारे मन में मेरा आश्रय प्राप्त करने की भावना कैसे जगी?''

दुखीराम ने बताया, ''महामुनि, मैं उड़ीसा के धारेन्दा-बहादुरपुर का रहने वाला हूँ। अम्बिका-कालना तक पैदल ही आया हूँ। जाने किस दिन किस शुभ मुहूर्त में हृदय चैतन्यदेव का नाम मेरे कानों में प्रवृष्टि हुआ और मैंने उन्हें अपने दीक्षागुरु के रूप में वरण कर लिया।''

चैतन्य स्वामी किशोर का उत्तर सुनकर विस्मय से भर उठे। सोचने लगे, उड़ीसा से बंगाल तक का बीहड़ रास्ता इस किशोर ने पैदल तय किया है। घने जंगलों से गुजरा है। लगातार चलते-चलते उसके पैरों में फफोले पड़ गए हैं। शरीर थक गया है। किन्तु इस किशोर के नेत्रों में वैराग्य की अग्नि-शिखा प्रज्वलित है। उसके हृदय में कृष्णनाथ का मधुर गुंजन निरन्तर चल रहा है।

''वत्स, तुमने अपना नाम तो बताया नहीं।'' आचार्य ने कहा।

''मेरा नाम दुखी है आचार्य।'' किशोर ने विनम्रतापूर्वक उत्तर दिया।

''नहीं वत्स, तुम केवल दुखी नहीं हो, दुखी कृष्णदास हो,'' आचार्य ने अध्यात्म-जीवन के परम अधिकारी इस किशोर की ओर प्रदीप्त नेत्रों से देखते

हुए कहा, "तुम जन्म-जन्मान्तर से दुखी कृष्णदास हो। प्रभु की चिरन्तन वियोग-व्यथा को तुम अपने हृदय में छिपाए हुए दुखी बने हो। आज से तुम्हारा नाम यही रहेगा—दुखी कृष्णदास। मैं इस गौर-विग्रह के सामने खड़ा होकर तुम्हें दीक्षा दूँगा। मेरे पास जो भी शक्ति है, तुम्हें अवश्य प्राप्त होगी।"

यही दुखी अम्बिका-कालना के वैष्णव समाज में दुखी कृष्णदास के रूप में जाना गया। गौड़ीय वैष्णव साधना के द्वारा अमृतमय महाजीवन की दिशा में उसने कदम बढ़ाया और सोलहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में बंगाल और उड़ीसा के जन-जीवन में ज़ो अध्यात्म और भक्ति की बाढ़ आ गई थी उसमें निर्बाध-से तैरने लगा। श्री चैतन्य के भाव-तरंगों में रम गया।

हृदय चैतन्य के मन्दिर में स्थापित और विग्रह के समक्ष इस किशोर का दीक्षा दान देकर इसी विग्रह की सेवा में नियुक्त कर दिया गया। इस नए साधक के आनन्द की कोई सीमा न रही। उसने अपनी साधना शुरू कर दी।

विग्रह को स्नान कराने के लिए दुखी कृष्णदास को गंगाजल लाना पड़ता था। नदी का घाट काफी दूर था जबकि जलपात्र बड़ा। प्रतिदिन गंगाजल कई बार लाना पड़ता था। जलपान होते-होते माथे पर एक घाव हो गया, पर गौर की सेवा में अपूर्व आनन्द और उत्साह का बोध हो रहा था। घाव के बारे में सोचने का समय ही कहाँ था दुखी कृष्णदास के पास।

एक दिन दुखी कृष्णदास गुरुजी को प्रणाम कर रहे थे। गुरु की निगाह जब कृष्णदास के माथे पर बन गए घाव की ओर गई तो वे चौंके। ज्ञात हुआ कि यह घाव गंगाजल से भरे भारी-भरकम पात्र को ढोते-ढोते बन गया है। प्रभु की सेवा में बाधा होगी, यह सोचकर नित्य कर्म का परित्याग नहीं किया। हृदय चैतन्यदेव कृष्णदास की इस सेवा-भाव के प्रति समर्पण को देखकर मुग्ध हो गए। उन्होंने किशोर वीतरागी को गले लगा लिया। वे बोले, "वत्स, मैं जानता हूँ कि तुम्हारे निकट आ रही है प्रेम-भक्ति साधना की एक बड़ी सम्भावना। मेरी इच्छा है कि तुम तुरन्त वृन्दावन चले जाओ। वहाँ श्री जीव गोस्वामी के आश्रम में रहकर गौड़ीय वैष्णव शास्त्र का अध्ययन करो। बंगाल के वैष्णव समाज में तुम जैसे आचार्य की आवश्यकता है।"

वृंदावन जाने के आदेश से कृष्णदास दुखी हो गए। उनकी आँखों से आँसू बहने लगे। वह गुरु का सान्निध्य छोड़कर जाना नहीं चाहते थे। लेकिन उन्हें बाध्य कर रहे थे। उन्होंने कृष्णदास से कहा, "वत्स, गुरु-सेवा का अर्थ है गुरु को सुख देना। तुम्हें वही करना चाहिए जिससे गुरु को सुख मिले। मेरा मत है कि तुम वृन्दावन जाओ, तभी तुम्हें सुख मिलेगा।" कृष्णदास के समक्ष गुरु के आदेश का पालन करने के सिवा कोई दूसरा चारा नहीं रहा।

कृष्णदास वृन्दावन के लिए चल पड़े। मार्ग में नवद्वीप तथा कई अन्य तीर्थों से होते हुए वे वृन्दावन पहुँचे। उस समय व्रजमण्डल में श्री जीव गोस्वामी थे। उनके नाम हृदय चैतन्य ने एक पत्र दिया था।

रघुनाथदास गोस्वामी का साधन प्रभाव उस समय समस्त ब्रजमण्डल में परिव्याप्त था। पवित्र राधाकुण्ड के तट पर प्रेमभक्ति के ये साधक एक नव वृन्दावन की सृष्टि कर चुके थे। कुण्ड तट पर स्थित उनके भजन कुटीर को केन्द्र कर चारों ओर बहुत से साधन स्थल बन गए थे।

कृष्णदास ने रघुनाथदास गोस्वामी की कुटीर में पहुँचकर साष्टांग दण्डवत किया। उन पर स्वामीजी की स्नेह-वर्षा होने लगी। स्वामीजी ने कृष्णदास से कहा—''वत्स, तुम्हारे गुरु का निर्देश है कि श्रीजीव के पास ही रहो। अतः तुम अविलम्ब वहीं चले जाओ और शास्त्र-ज्ञान एवं साधना को मजबूत करो।'' यह कहकर उन्होंने एक भक्त के साथ कृष्णदास को श्रीजीव गोस्वामी के पास भेज दिया।

असामान्य वैराग्य और भक्ति की प्रतिमूर्ति कृष्णदास को देखते ही श्रीजीव का हृदय प्यार से भर गया। हृदय चैतन्य का अनुरोध-पत्र पढ़ने के बाद उन्होंने कृष्णदास को तुरन्त आश्रय प्रदान किया।

वैष्णव समाज के एकपत्री पण्डित श्रीजीव के शिष्य के रूप में दुखी कृष्णदास के जीवन का नया अध्याय शुरू हुआ। शीघ्र ही उन्होंने साधक मण्डल में असामान्य मर्यादा प्राप्त की। उनका वैष्णव शास्त्र का अध्ययन सुचारु रूप से शुरू हो गया। श्रीजीव गोस्वामी का कुशल निर्देशन मिल रहा था।

कृष्णदास के अलावा दो अन्य प्रतिभाशाली शिष्य थे—श्रीनिवास तथा श्रीनरोत्तम। ये दोनों लोग कृष्णदास के पूर्व से ही शास्त्र-ज्ञान में पारंगत हो रहे थे। धीरे-धीरे इन तीनों लोगों में गहरी दोस्ती हो गई। बंगाल और उड़ीसा के धर्म एवं संस्कृति के इतिहास को इन तीनों महापुरुषों ने गहराई तक प्रभावित किया।

कृष्णदास कविराज द्वारा 'चैतन्य चरितामृत' की रचना हो चुकी थी। वृन्दावन के गोस्वामी गण ने निश्चय किया कि इस अपूर्व अमृत को बंगाल में भेजा जाय। श्रीरूप सनातन तथा श्रीजीव शास्त्र ग्रन्थों की संख्या भी पर्याप्त थी। आचार्य श्रीजीव ने इन शास्त्र ग्रन्थों के साथ श्रीनिवास को बंगाल भेजा। उनके साथ नरोत्तम ठाकुर और कृष्णदास भी गए। कृष्णदास बाद में श्यामानन्द के नाम से विख्यात हुए।

विष्णुपुर पहुँचने से पूर्व ही रास्ते में डाकुओं ने शास्त्र ग्रन्थों की पेटी लूट ली। इस घटना से तीनों वैष्णव संत काफी दुखी हुए। श्यामानन्द उड़ीसा चले गए और वहाँ वैष्णव धर्म के प्रचार का दायित्व अपने हाथों में लिया।

उड़ीसा में श्यामानन्द (कृष्णदास) ने वैष्णव धर्म का काफी विस्तार किया। वे कभी-कभी वृन्दावन भी आ जाते थे। श्रीजीव के चरणों में बैठकर वैष्णव शास्त्र एवं साधन के निगूढ़ तत्त्वों का ज्ञान प्राप्त कर लौट जाते थे।

श्रीजीव की कुटीर में कृष्णदास नियमित भक्तिशास्त्र का पाठ किया करते थे। इसके साथ ही वे विग्रह-सेवा भी करते थे। इस दौरान उन्होंने अनुभव किया था कि सेवा ही भक्तिशास्त्र का मूल सिद्धान्त है। इसीलिए वे सेवा में ही ज्यादा मन लगाते थे। वृन्दावन निकुंज मन्दिर में दुखी कृष्णदास झाड़ू देने का कार्य करते थे। उनकी एकमात्र अभिलाषा थी कि राधा के चरण-दर्शन कर अपने जन्म को सार्थक बनाया जाय। वे हर समय राधागोविन्द की आनन्द लीला के स्मरण में डूबे रहते थे। कब श्री राधा देवी की कृपा होगी, कब अपनी सखियों के साथ निकुंज-विहार दर्शन करने के लिए वे आयेंगी इसी चिन्ता में वे दिन गिनते रहते थे।

एक दिन भोर में कृष्णदास मन्दिर की सफाई कर रहे थे। अचानक उनकी निगाह आँगन के कोने में एक चमकती हुई वस्तु पर पड़ी। वे करीब पहुँचे तथा देखा कि एक स्वर्ण नूपुर पड़ा हुआ है। इस नूपुर को देखकर दुखी कृष्णदास प्रेम विह्वल हो उठे। अश्रु, कम्पन, पुलक आदि अष्ट सात्विक भाव-विकार उनके शरीर से उद्‌गत हो रहे थे और वे जमीन पर लोट-पोट रहे थे।

कुछ देर बाद सचेतन हुए। उठकर बैठे। स्वर्ण नूपुर को उन्होंने भक्तिभाव से अपने हाथ में लिया। दूसरा आश्चर्य यह था कि उस दिव्य वस्तु से सुगन्ध भी निकल रही थी।

दुखी कृष्णदास के हृदय में अचानक एक परम उपलब्धि-भाव जाग्रत हुआ। सोने का नूपुर तो कोई प्राकृतिक वस्तु हो नहीं सकता। अंतरात्मा में जैसे कोई बोल रहा हो—"अहो, परम भाग्यवान, तूने प्रियाजी का चरण नूपुर प्राप्त किया है।"

दुखी कृष्णदास ने नेत्रों से निरन्तर अश्रुधारा बह रही थी और वे कह रहे थे—"कृपामयी राधे! इस कंगाल पर यदि तूने कपा ही की, तो केवल नूपुर ही देकर भुलाया क्यों? अपने चरण कमलों के दर्शन मुझे दो।"

इसी बीच दस-ग्यारह वर्ष की एक परम सुन्दरी बालिका चंचल पैरों से चलते हुए निकुंज मन्दिर के द्वार पर उपस्थित हुई। उसने दुखी कृष्णदास से मधुर स्वर में पूछा—"भैया, एक सोने का नूपुर तुमको मिला है?" कृष्णदास विस्मय में डूब गए।

"हाँ बेटी, एक नूपुर मुझे मिला है। पर यह किसका है, बता सकती हो?" कृष्णदास ने पुलकित होकर कहा।

किशोरी ने बताया कि उसकी सहेली का एक स्वर्ण नूपुर कल रात खो गया है। वह तरुणी राजनन्दिनी है। लोगों के समक्ष आने में उसे बहुत संकोच होता है। इसलिए उसे उसने नूपुर की तलाश के लिए भेजा है।

''किन्तु तुम्हारा कथन सत्य है अथवा नहीं, यह मैं कैसे समझूँ?'' कृष्णदास ने कौशलपूर्वक कहा, ''इसलिए जिसका नूपुर है, उसे मेरे पास ले आओ। इस नूपुर के साथ उसके चरणों को मिलाकर ही मैं तुम्हारी बातों पर विश्वास करूँगा। यदि यह तुम्हारी सहेली का ही होगा तो उसके चरणों में पहना दूँगा। अन्यथा यह नूपुर तुम्हें नहीं मिल सकता।''

कृष्णदास की बात सुनकर वह बालिका वापस चली गई और थोड़ी देर बाद ही वह अपनी राजनन्दिनी सहेली के साथ वापस लौटी।

कृष्णदासजी का रोम-रोम पुलकित हो उठा। राजनन्दिनी के सम्पूर्ण शरीर में रूपमाधुरी छलक रही थी। कृष्णदास उसे अपलक निहारते ही रहे।

''तुम दोनों गत रात्रि में क्यों आई थी इस मन्दिर में?'' कृष्णदास ने प्रश्न किया।

''मैं ज्यादा क्या कहूँ,'' राजनन्दिनी ने मधुर शब्दों में जवाब दिया, ''यह मेरा निकुंज मन्दिर है। तुम समझ लो। ज्यादा हठ न करो। देखो सुबह होने को आई। मेरा नूपुर लौटा दो।''

साधक कृष्णदास के नेत्रों का आवरण न जाने कौन धीरे-धीरे खोलने लगा था। सर्वसत्ता के माध्यम से उन्हें यह समझते देर नहीं लगी कि सामने खड़ी राजनन्दिनी कोई और नहीं स्वयं कृष्णप्रिया राधारानी हैं। साथ ही किशोरी उनकी सहेली ललिता है। आज वृषभानुनंदिनी ने उन्हें कृपापूर्वक दर्शन दिया है। खो गए नूपुर को वापस कराने की छलना में आज दुखी कृष्णदास के उद्धार के लिए देवी की यह सम्पूर्ण कारुण्य लीला है।

कृष्णदास ने अश्रुपूर्ण स्वरों में हाथ जोड़ कर प्रार्थना की—''राधारानी, यदि इस अधम पर इतनी कृपा है तो एक बार अपना वास्तविक स्वरूप दिखाकर कृतार्थ कर दो।''

राजनन्दिनी ने मुस्कराकर कहा, ''इन आँखों से सत्य रूप देख सकोगे?''

दुखी कृष्णदास के आँसुओं को देखकर ललिता का दिल पसीज गया। उसने अपनी सहेली से कहा—''प्यारी जी, अब तुम्हारी कृपा हुई है, तो थोड़ी शक्ति भी दान कर दो।''

राधारानीजी ने अपना कृपा-भण्डार खोल दिया और कृष्णदास की आँखों के सामने खुल गया पूरा अतीन्द्रिय लोक। श्री गोविन्द की प्रिया के दर्शन कृष्णदास को हो गए।

इस क्षणभर के दर्शन से उनकी सर्वसत्ता दिव्य आनन्द से भर गई। प्यारीजी ने उन्हें आशीर्वाद दिया—"कृष्णदास, तुम्हारी एकनिष्ठ सेवा और भक्ति से मैं प्रसन्न हुई। मेरी कृपा के चिह्न स्वरूप यह नूपुर चिह्नित तिलक तुम आज से अपने ललाट में धारण करो।" ऐसा कहते हुए वृन्दावन का रजलिप्त नूपुर कृष्णदास के ललाट से स्पर्श कराकर राधारानी अपनी सखी के साथ अदृश्य हो गईं। इसके साथ ही भक्त कृष्णदास चेतनाशून्य होकर जमीन पर गिर पड़े।

कृष्णदासजी की चेतना लौटी तो रोते हुए श्रीजीव गोस्वामी के पास आए। राधारानी के अलौकिक दर्शन और उनकी कृपा प्राप्त करने की बात से उन्हें अवगत कराया। पूरा विवरण सुनकर श्रीजीव के नयनों से खुशी और भक्ति के आँसू बहने लगे। उन्होंने कृष्णदास को आशीर्वाद देते हुए कहा—"वत्स, आज से तुम्हारा नाम दुखी कृष्णदास नहीं रहा। अब तुम गोस्वामी श्यामानन्द हो गए। श्रीमतीजी का नूपुर लांछित तिलक चिह्न तुम अपने ललाट पर आज से तिलक भूषण के रूप में धारण करोगे।"

इसके बाद तो केवल ब्रज मण्डल में ही नहीं, सम्पूर्ण गौड़ीय वैष्णव समाज में श्यामानन्द का नाम प्रचारित हो गया।

श्यामानन्द के बारे में तरह-तरह की बातें ठाकुर हृदय चैतन्य के कानों में पहुँचीं। एक बार एक वैष्णव पण्डित ने वृन्दावन से लौटकर उनसे कहा—"ठाकुर, दुखी कृष्णदास ने आपको त्याग कर दूसरे गुरु को ग्रहण कर लिया है। यही नहीं, आपके दिए हुए नाम और तिलक भी उसने बदल लिए हैं।"

हृदय चैतन्य ने क्रुद्ध होकर श्रीजीव गोस्वामी को पत्र लिखा जिसमें दुखी कृष्णदास को अविलम्ब वापस भेजने को कहा।

वृन्दावन से श्यामानन्द वापस कालना आए और गुरुदेव को प्रणाम कर हाथ जोड़ कर खड़े हो गए। हृदय चैतन्य काफी उत्तेजित थे। उन्होंने आवेश में आकर पूछा, "क्यों तुमने गुरु प्रदत्त वेश का नाम बदला? चिराचरित गौड़ीय वैष्णवों का तिलक त्याग करने का साहस कैसे हुआ तुम्हें?"

"प्रभु आप ही की कृपा से यह सब सम्भव हो सका है।" श्यामानन्द ने सविनय निवेदन किया।

लेकिन हृदय चैतन्य इस उत्तर से सन्तुष्ट और शान्त नहीं हुए। वे बोले, "ऐसी चालाकी नहीं चलेगी। यदि मैं ही तुम्हारे इन परिवर्तनों का कारण हूँ तो फिर मैं तुम्हारा गुरु, आज्ञा देता हूँ कि यह नाम और तिलक बदल कर तुम फिर पहले जैसे हो जाओ।"

श्यामानन्द शान्त और आत्म समाहित होकर खड़े थे। उन्होंने निवेदन किया, "प्रभु यह नया तिलक गुरु-कृपा का ही प्रसाद है। यदि परिवर्तन करना है तो आप स्वयं कर दीजिए। यह तिलक मेरे ललाट से मिटा दीजिए।"

आवेशित ठाकुर महाराज अपने वस्त्र से घिस-घिस तिलक मिटाने लगे। परन्तु वह तिलक जस का तस बना रहा। तभी गुरु की समझ में आ गया कि वास्तविकता क्या है। वास्तव में यह तिलक असाधारण है। राधारानी के नूपुर से चिह्नित यह दिव्य तिलक वास्तव में अनुपम है तथा उनका शिष्य अब भक्ति-सिद्ध हो उठा है। दिव्य शक्ति से शक्तिमान है। गुरु को अपनी भूल समझ में आ गई।

गुरु की आँखें आसुओं से भर गईं। उन्होंने अपने प्रिय शिष्य को गले से लगा लिया। वृन्दावन से प्राप्त राधा-गोविन्द का एक जाग्रत विग्रह उनके पास था। श्यामानन्द को उन्होंने उस विग्रह की सेवा का उत्तरदायित्व सौंप दिया। इस विग्रह को प्राप्त कर श्यामानन्द आनन्दित हो उठे। उन्होंने उड़ीसा के भीप वल्लभपुर मठ में इस विग्रह की स्थापना की।

इसी समय गुरु के निर्देशानुसार उन्हें विवाह करना पड़ा और उनका आचार्य जीवन शुरू हुआ।

राधा-गोविन्द के विग्रह की सेवा करते हुए उन्होंने वैष्णवीय आधारों को उड़ीसा के जन-जन में फैला दिया। लाखों उड़िया भक्तों ने दीक्षा ली। पूरा उड़ीसा भक्तमय हो गया। सभी वर्णों के लोग इन वैष्णव चूड़ामणि का आश्रय ग्रहण कर धन्य हुए।

श्यामानन्द ने दीर्घ कर्ममय जीवन बिताया। अपने शिष्यों और भक्तों के बीच गौरतत्व की व्याख्या करते रहे। अंत में नित्य लीला में प्रवेश किया। इस तरह इनका आचार्य जीवन समाप्त हुआ।

आपके बारह विशिष्ट शिष्य थे। इन्हीं से बारह वैष्णव शाखाओं ने जन्म लिया। इन शिष्यों में सर्वश्रेष्ठ थे—रयनी के रसिक मुरारी। ठाकुर गोसाईं अथवा रसिकानन्द के नाम से प्रसिद्ध हुए। सुवर्ण रेखा के तट पर गोपी वल्लभपुर में श्यामानन्दी सम्प्रदाय का प्रधान केन्द्र स्थापित हुआ। इस केन्द्र ने उड़ीसा के धर्म और संस्कृति को लम्बे समय तक प्रभावित एवं प्रसारित किया।

●

फरसी बाबा

परमसिद्ध, योगी पीताम्बरदास फरसी बाबा के नाम से कैसे प्रसिद्ध हुए इसकी एक रोचक और अलौकिक घटना है।

पीताम्बरदास भीमगोड़ा और सप्तधारा के बीच एक निर्जन स्थान पर कुटिया बनाकर साधना कर रहे थे। दिन में दो-एक बार वे हरिद्वार भी आकर अपने भक्तों को दर्शन दे जाते।

रोज की तरह उस दिन भी बाबा हरिद्वार आए थे। बाजार के समीप ही लाला मोतीचन्द की गद्दी थी। गद्दी के लोगों ने बाबा को लाकर गद्दी पर बैठा दिया। बाबा तम्बाकू का सेवन आनन्दपूर्वक करते थे। इसीलिए गद्दी के परिचालक ने हाथ जोड़कर निवेदन किया, "बाबा, कल दिल्ली से शुद्ध सुगन्धित अंबरी तम्बाकू आया है। आज उसी को हुक्के में चढ़ाकर आपको पिलाऊँगा। थोड़ी देर बैठिए।"

बाबा इस बात से प्रसन्न हुए कि उन्हें आज अंबरी तम्बाकू पीने को मिलेगा। वह गद्दी के एक ओर आराम से बैठ गए। धीरे-धीरे आसपास की दुकानों के लोग भी आ गए।

दिल्ली के लाला मोतीचन्द बाबा के पुराने भक्त थे। उनसे भी अधिक श्रद्धालु उनकी पत्नी यमुनाबाई थीं। उन्हें कोई सन्तान नहीं थी, इसलिए ज्यादा समय पूजा-पाठ और तीर्थाटन में ही बीतता था। उन्हीं की इच्छा और प्रेरणा से लाला मोतीचन्द प्रतिवर्ष लाखों रुपए विग्रह, साधु-सन्तों तथा जन-कल्याण में खर्च कर देते थे।

श्रीमती यमुनाबाई ने बहुत दिनों पूर्व ही बाबा से कृष्ण मंत्र की दीक्षा ली थी। लाला मोतीचन्द भी बाबा से बहुत प्रभावित थे और उन्हें अपना अभिभावक मानते थे। हरिद्वार में उनकी गद्दी व्यापार में मुनाफे के उद्देश्य से स्थापित नहीं की गई थी। इसके माध्यम से यमुनाबाई का एक सदाव्रत चलता रहता था। यहीं साधु-सन्तों तथा गरीबों को राह खर्च, खाद्य-पदार्थ, कम्बल, लोटा, कमण्डल आदि आवश्यक वस्तुएँ दान की जाती थीं। गद्दी के परिचालक ने बाबा के लिए फरसी में जल भर कर रख दिया। चिलम में अंबरी तम्बाकू चढ़ाई और उसमें आग रखकर फरसी की निगाली बाबा के हाथ में पकड़ा दी।

गद्दी के एक किनारे मसनद के सहारे लेटे हुए बाबा अर्धनिमीलित नेत्रों से निश्चिंततापूर्वक तम्बाकू का आनन्द ले रहे थे।

बाबा बड़ी मौज में थे। तभी साधुओं और गरीब गृहस्थों का एक दल उनके पास आया और निवेदन करने लगा, ''बाबा, हरिद्वार में चैत्र संक्रान्ति का स्नान आ रहा है। किन्तु गद्दी के मुनीमजी ने बताया है कि हम लोगों को लोटा, कम्बल आदि के वितरण की कोई व्यवस्था अभी तक नहीं हुई है। कृपया आप हम लोगों की तरफ से इन लोगों को ताकीद कीजिए।''

''हम क्या जानें, पकड़ो यमुनाबाई को।''

''समस्या तो यही है बाबा कि यमुना बहिन अभी तक यहाँ नहीं आ सकी हैं।''

बाबा लेट कर तम्बाकू पी रहे थे लेकिन एकाएक चौकन्ने हो गए। हाथ से फरसी की निगाली गिर पड़ी। वे बड़बड़ा रहे थे, ''नहीं-नहीं, मोतीचन्द आगे मत बढ़ो, मत बढ़ो......आह, यह क्या किया?'' फिर देखते ही देखते अंतर्ध्यान हो गए। उनकी प्रिय फरसी भी गायब हो गई। लोग इस दृश्य को आश्चर्य एवं विस्मय से देख रहे थे। साधु-सन्त तथा अन्य दर्शनार्थी हतबुद्धि और जड़ हो गए थे। उनके मन में एक ही सवाल था—बाबा, फरसी के साथ कहाँ चले गए? किसी ने देखा भी नहीं उन्हें जाते हुए।

लगभग दस मिनट बाद बाबा अपने स्थान पर पूर्ववत दिखाई पड़े। परन्तु उनकी प्रिय फरसी नहीं दिखाई पड़ी।

बाबा गम्भीर थे। वे कह रहे थे, ''मोतीचन्द बेवकूफ जैसे चलेंगे। नाहक ही मुझे दिल्ली तक दौड़ना पड़ा।''

बाबा की इस अलौकिक क्रिया से सभी अवाक् थे। गद्दी का मुनीम समझ रहा था कि लाला मोतीचन्द की किसी भूल, भ्रान्ति या विपत्ति से उद्धार के लिए ही बाबा को दिल्ली तक जाना पड़ा है।

''बाबा, आपने फरसी कहाँ गायब कर दी? वह फरसी कहाँ गई?'' मुनीम ने पूछा।

''हम तो गृहस्थ नहीं, हर चीज सम्हालना हमारा काम नहीं है।''

''नहीं बाबा, वह तो आपकी निजी फरसी थी। आप उसे कहाँ फेंक आए। मुझे चिन्ता हो रही है।''

''उसके लिए चिन्ता मत करो,'' बाबा ने मुस्कराते हुए कहा, ''यमुनाबाई खुद आएगी फरसी लेकर।''

लोग सोच नहीं पा रहे थे कि उस फरसी को बाबा ने इंद्रजाल की तरह गायब कर दिया। अब वह दिल्ली में यमुनाबाई के पास कैसे पहुँच गई।

शाम होने के बाद बाबा अपनी कुटिया के लिए चल पड़े।

इस घटना के लगभग एक सप्ताह बाद लाला मोतीचन्द और यमुनाबाई हरिद्वार आए। साथ में सदाव्रत के लिए प्रचुर मात्रा में घी, आटा, चीनी और साधुओं के लिए वस्त्र, लोटा और कमण्डल आदि लेते आए। साधु-जन यमुनाबाई को घेर कर खड़े हो गए और यमुनाबाई अपने साथ लाई गई वस्तुओं का दान करने लगीं।

''सभी को देख रही हूँ, लेकिन हमारे बाबा महाराज कहाँ हैं?'' यमुनाबाई ने मुनीम से आग्रहपूर्वक पूछा।

''बाबा तो सात दिनों पूर्व इस गद्दी पर बैठे हुए एक अद्भुत अलौकिक कार्य कर गए। इसके बाद से उनका कुछ पता नहीं है।'' मुनीम ने कहा, ''यहाँ बैठे फरसी से तम्बाकू पी रहे थे। स्वयं ही लालाजी के सम्बन्ध में कुछ बातें कीं और अचानक फरसी सहित गायब हो गए। दस मिनट बाद आए तो फरसी उनके हाथ में नहीं थी।''

''बाबा की वह फरसी अब तुम लोग नहीं पा सकोगे। उसे मैंने सम्हाल कर पूजा-घर में रख दिया है।''

इसके बाद यमुनाबाई साधु और गरीबजनों के समक्ष अश्रपूरित नेत्रों से बाबा की योग-विभूति और कृपालीला की कथा का वर्णन करने लगीं—

दिल्ली में सेठ मोतीचन्द के महल के पास ही स्थित एक बाग है। सात दिनों पूर्व यमुनाबाई और मोतीचन्दजी बगीचे में टहल रहे थे। मोतीचन्दजी बगीचे में टहलते-टहलते झाड़ी की तरफ बढ़ गए। एक गुच्छा फूल खिला हुआ था, जिसे वे तोड़ना चाह रहे थे। उसी समय आकाशवाणी हुई, ''मत जाओ, वहाँ खतरा है।''

मोतीचन्द ने अपने कान में पड़ी इस वाणी पर विश्वास नहीं किया। उन्होंने इसे भ्रम समझा। जब वे झाड़ी के समीप खड़े होकर फूल तोड़ रहे थे, तभी एक गेहुअन साँप ने उनके हाथ में डँस लिया। इस घटना के थोड़ी ही देर पूर्व साँप के ऊपर पेड़ की एक सूखी डाल गिर पड़ी थी। वह क्रुद्ध था। इसीलिए जैसे ही मोतीचन्द उसके पास गए उसने डँस लिया।

मोतीचन्द की चीख सुनकर यमुनाबाई आगे बढ़ आईं। उन्होंने देखा कि एक उग्र गेहुअन साँप उनके बगल से ही बाहर निकल रहा है। उसके दंश से पीड़ित मोतीचन्द जमीन पर गिरकर छटपटा रहे हैं।

भय और शोक से व्याकुल यमुनाबाई जोर-जोर से क्रंदन करने लगीं। इसी समीप बगीचे की दीवार से एक जलती हुई फरसी, चिलम के साथ वहाँ गिरी। दूसरे क्षण योगेश्वर बाबाजी मोतीचन्द के पास आकर बैठ गए। उन्होंने कोई

वनौषधि मोतीचन्द के हाथ में उस स्थान पर मली जहाँ साँप ने डँसा था। इसके बाद उन्होंने यमुनाबाई से कहा, ''माई, अब तुमको चिन्ता नहीं करनी। इन्हें घर ले जाओ और थोड़ा गरम दूध पिलाओ।'' इतना कहने के बाद बाबा अंतर्ध्यान हो गए। दीवार के पास पड़ी उनकी फरसी रह गई।

लगभग आधे घण्टे बाद मोतीचन्द की चेतना लौटी और वे आँखें खोलकर देखने लगे।

इस घटना की जानकारी जब घर के लोगों को हुई तो दरबान और नौकर-चाकर सभी हाथ में लाठी-बल्लम लेकर साँप की तलाश में निकल पड़े। थोड़ी देर बाद साँप उन्हें दिखाई पड़ा और वह मारा गया।

यमुनाबाई जब इस घटना का वर्णन कर रही थीं तो उनकी आँखों से लगातार आँसू निकल रहे थे।

इसके बाद उन्होंने मुनीम से मुस्कराते हुए कहा, ''तुम लोगों ने जो फरसी बाबा के इस्तेमाल के लिए रखी थी, वह दिल्ली स्थानान्तरित हो गई है। उस फरसी का स्थान हमारे पूजाघर में है। आज ही बाबा के लिए एक सुन्दर फरसी खरीद लाओ। मैं दिल्ली से प्रचुर मात्रा में अंबरी तम्बाकू ले आई हूँ। उसे बाबा के लिए सुरक्षित रख दो।''

इस घटना के बाद से बाबा सारे हरिद्वार और ऋषिकेश क्षेत्र में महात्मा पीताम्बरदासजी फरसी बाबा के नाम से विख्यात हो गए।

पीताम्बरदासजी बीसवीं सदी के प्रथम चरण में वृन्दावन से हरिद्वार आए और कुछ ही वर्षों में अपने दिव्य प्रेम, आनन्द और कृपा से सारे साधुओं, अखाड़ों और भक्त समाज का हृदय जीत लिया।

बाबा का मुखमण्डल सर्वदा हास्य से दीप्त रहता। जहाँ रहते, आनन्द की गंगा प्रवाहित हो उठती। रसः वै सः। परब्रह्म रस या आनन्दस्वरूप हैं। इसी परम तत्त्व के धारक तथा वाहक थे पीताम्बरदास।

भक्तों और साधु-संतों को देखते ही फरसी बाबा हाथ उठा कर चीख पड़ते—''वाह, वाह! कितनी प्रिय और मोहक सृष्टि है भगवान की!'' उनके चारो ओर उल्लास से मतवाले मनुष्यों की भीड़ जमा हो जाती।

भक्त सेठ बाबा को अपनी गद्दी पर बुलाते। तम्बाकू पीने के लिए आमंत्रित करते। कुछ लोग उलाहना देते। बाबा, आप तो गद्दी वाले सेठों को ही स्नेह देते हो, गरीबों के लिए आपके हृदय में कोई स्थान नहीं है। आपको हम लोगों के साथ पेड़ के नीचे बैठना होगा। चिलम चढ़ाना होगा। हम लोग आपके साथ आनन्द मनाएँगे और आपके मुखारबिन्दु से श्रीकृष्णजी की कथा सुनेंगे।

एक-एक दिन, एक-एक दल का आमंत्रण स्वीकार करते महाराजजी। रास्ते के किनारे वट-वृक्ष के नीचे आनन्द की महफिल जम जाती। फिर

स्वेच्छाचारी पक्षी की तरह बाबाजी कब यहाँ से छूट कर गायब हो जाएँगे, कोई नहीं जानता था।

बाबा फरसी की नली मुँह में दबाए-दबाए ही नाना प्रकार के गूढ़ तत्त्वों का वर्णन कर डालते। तरह-तरह के अलौकिक कार्य सम्पन्न कर देते।

फरसी बाबा के शिष्यों और भक्तों की संख्या हजारों में थी। इनमें सेठ-साहूकार और राजे-रजवाड़े भी थे। कई लोगों ने बाबा से मठ या कोई भव्य आश्रम बनवाने का प्रस्ताव किया किन्तु बाबा हरिद्वार से कुछ मील दूर स्थित सुनसान जगह में निर्मित अपनी साधारण सी कुटिया में त्याग, साधना और तितिक्षा की धूनी रमाए प्रेम और आनन्द का सन्देश देते रहते थे। धनी, निर्धन, शूद्र और ब्राह्मण सभी के लिए बाबा प्रियतम, सखा और रहस्यमय व्यक्ति के रूप में ही थे। बाबा समदर्शी थे। सिद्ध महापुरुष थे। कभी अरण्य, कभी गंगातट और कभी पर्वतीय अंचलों में घूमते रहते थे। भक्तों को देखकर सोल्लास बोल पड़ते, ''वाह, वाह, वाह वा, देख लो मेरे गिरिधारी किशनजी की चतुराई, और देख लो मेरे परमात्मा की लीला।'' हँसते-गाते, नाचते सभी को अंक में भर लेते थे, आशीर्वाद देते थे और मन के द्वार खुले रहने पर अध्यात्म जीवन का पथ-निर्देश भी कर देते थे।

हरिद्वार और कनखल में स्थायी और अस्थायी रूप से तमाम मठ-मण्डलियाँ हैं। प्रमुख हैं—निर्वाणी, निरंजनी, जूना अखाड़ा, वैरागी, रामाइत, निम्बार्क, उदासी आदि। लेकिन इन सभी अखाड़ों के साधु-संन्यासी पीताम्बरदास के प्रति समान रूप से आदर एवं श्रद्धा का भाव रखते थे। बाबा एक ब्रह्मविद् और जीवन-मुक्त महात्मा थे, इसी कारण उनमें समदर्शिता थी, प्रेम था और आनन्द-भाव था। उनके वास्तविक परमसिद्ध स्वरूप से सभी भिज्ञ थे। साधुगण बाबा से फरियाद करते, ''बाबा, तुम यमुना बाई को मेरी सिफारिश कर दो।'' लोग जानते थे कि यमुनाबाई बाबा की परम भक्त हैं। बाबा कहेंगे तो हमें ज्यादा दान मिल जाएगा। लेकिन बाबा का उत्तर होता, ''ये गृहस्थी के बारे में हम क्या जानें? तुम्हारे सेठ और राजा-रानी की हम क्यों परवाह करें? हट जाओ हमारे सामने से।'' बाबा माया-मोह से मुक्त हो चुके थे। उन्हें इन सब सांसारिक चीजों से क्या लेना-देना था।

कोई भक्त बाबा की आसक्ति के वश में होकर कहता, ''बाबा, इस समय काफी जाड़ा पड़ रहा है। देखता हूँ आपके शरीर पर गरम अँगरखा नहीं है। भरतपुर के राजा यहाँ आए हुए हैं। उन्हें आपकी कृपा की आवश्यकता है। वे आपकी तलाश कर रहे हैं। आपको निश्चित रूप से सुन्दर कश्मीरी शाल भेंट करेंगे।''

फरसी बाबा सहज भाव से उत्तर देते, ''राजा आया, सेठ आया, बहुत अच्छा। ब्रह्मकुण्ड में स्नान करो और अपने घर लौट जाओ। मेरे साथ भेंट करने

की क्या जरूरत है। वे सब यदि मेरे पास आएँगे तो मारेंगे एक चिमटा।'' फिर बाबा फरसी छोड़कर अचानक उठते और किसी ओर निकल पड़ते। अंतरंग साधुगण कहने से नहीं चूकते, ''बाबा, आप कुछ भी कहें लेकिन जब राजा लोग कीमती शाल देंगे तो आपको लेना ही होगा।''

दरअसल साधु-संत बाबा की इस खासियत को जानते थे कि जब सेठ-साहूकार या राजा-रजवाड़े बाबा को गरम कपड़े भेंट करते तो बाबा के पास वह नहीं टिक पाते। बाबा उसे रास्ते में खड़े किसी गरीब व्यक्ति या साधु को दे देते। बाबा के लिए साधु-संन्यासी और साधारण व्यक्ति में कोई भेद नहीं होता। जो जिस लायक होता, उसे वैसा ही मार्ग-दर्शन मिलता। किसी को तात्विक, गूढ़ और दार्शनिक विवेचन तो किसी को उत्तम जीवन के लिए उचित मार्गदर्शन।

एक बार वैरागी अखाड़े के कुछ साधुओं ने बाबा को तम्बाकू भेंट की थी। बाबा उसी को फरसी पर रख कर गुड़गुड़ा रहे थे। विविध प्रसंगों पर चर्चा चल रही थी। बाबा भक्तों से घिरे थे। एक भक्त ने पूछा, ''साधन-भजन के लिए चेष्टा करता हूँ। इष्ट को चाहे जितना पुकारता हूँ किन्तु मन वश में नहीं आता है। फिर मेरा कुछ भी नहीं होगा?''

''गीता पढ़े हो?''

''जी हाँ।''

''कृष्णजी ने स्वयं ही अर्जुन से कहा है—अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गुह्यते। मन तो सर्वदा ही चंचल है, आसानी से वश में नहीं आता। इसे वश में लाने के लिए वैराग्य तथा नियमित अभ्यास की आवश्यकता है।'' बाबा ने कहा।

''इन दोनों के लिए प्रयास करता हूँ, परन्तु मेरी चेष्टाएँ व्यर्थ जा रही हैं। सफलता नहीं मिल रही है। जब भी ध्यान लगाने की कोशिश करता हूँ, मन में निरर्थक बातें आ जाती हैं। इसके बाद प्रभुजी का स्मरण एवं ध्यान सम्भव नहीं हो पाता।''

''बेटा, मन इन्द्रियों का अधिपति है। इसका स्वभाव ही यही है। इसका कार्य है संकल्प और विकल्प। सुख और भोग के लिए केवल यह एक-एक विषय का ग्रहण और त्याग करता रहा है।'' बाबा ने मधुर वाणी में कहा।

''इस संकल्प और विकल्प से छुटकारा पाने का मार्ग क्या है?''

''जब तक भोग की आकांक्षा नहीं जाएगी, संकल्प और विकल्प दूर नहीं होगा। सुख प्राप्त करने की कल्पना मनुष्य के भोग की आकांक्षा को बढ़ाती है। सुख प्राप्त करने की कल्पना के मूल पर ही आघात करना होगा।''

''इसका उपाय क्या है?''

''कृष्ण ने गीता में इसका उपाय भी तो बताया है। उन्होंने फल की आकांक्षा का त्याग करने को कहा। सभी कार्य तुम करोगे, भोग भी करोगे किन्तु

सदा अनासक्त होकर ही करोगे। भोजन-शयन, संसार के सब कर्तव्य ठीक से करोगे, परन्तु प्रत्येक कार्य करते हुए आंतरिक रूप से यही सोचते रहोगे—यह सभी कार्य मैं ईश्वर की प्रीति के लिए ही कर रहा हूँ। उनका ही होकर मैं यह कार्य कर रहा हूँ—मेरा कोई अधिकार नहीं है। तुम अपने सारे कार्यों का उत्सर्ग भगवत् सेवा के रूप में ही करो। तुम देखोगे कि कार्यों का बंधन क्रमशः ढीला पड़ता जा रहा है और परम प्रभु कृष्ण की ज्योतिर्मय छटा तुम्हारी तरफ बढ़ती चली आ रही है।''

गृहस्थ भक्त ने मुस्कराते हुए कहा, ''बाबा, आप जो भी कहें, मेरे जैसे क्षुद्र मनुष्य की क्षुद्र चेष्टाओं द्वारा सफलता प्राप्त करना कठिन है।'' भक्त ने अपना मस्तक बाबा के समीप किया और बोला, ''बाबा, आप माथे पर स्पर्श करके आशीर्वाद दें तभी सम्भव है कि प्रभु की कृपा मुझे प्राप्त हो जाय।''

बाबा ने फरसी की निगाली एक ओर रख दी और हँसते हुए बोले, ''अपने को चतुर समझ कर माथा तो खूब बढ़ा रहे हो, किन्तु पूछता हूँ कि यदि संकल्प करके ब्रह्मरंध्र स्पर्श कर दूँ, तब यह स्त्री, पुत्र, कन्या और संसार कहाँ रह पाएगा? नंगे होकर उन्मत्ततापूर्वक थेई-थेई करते हुए नाचने लगोगे तब?'' इसके बाद प्रसन्न हृदय से सिर हिलाते हुए फरसी बाबा ने कहा, ''बेटा, त्याग और वैराग्य का अभ्यास करते हुए धीरे-धीरे एक-एक संकल्प और सुख-भोग की आकांक्षा छोड़ो और प्रभुजी की ओर बढ़ो। मन में दुविधा या अनुताप को स्थान मत दो। वे तो तुम्हारी बाँट जोह रहे हैं। इसके अलावा उनका और कार्य ही क्या है?''

फरसी बाबा की मजलिस एक दिन ब्रह्मकुण्ड के पास चौड़ी सीढ़ी पर लगी थी। वह अपने भक्तों से घिरे थे। तम्बाकू का धुआँ छोड़ते जा रहे थे। इसी बीच एक भक्त ने प्रश्न किया—''बाबा, अभी हाल ही में हरिद्वार में कुम्भ मेला समाप्त हुआ। इस कुम्भ में बड़े-बड़े महात्मा आए थे जो लय-प्रलय में सक्षम हैं, क्या यह सत्य है?''

''हाँ, हाँ, वे लोग अवश्य आए थे।''

''परन्तु बाबा, हम तो ऐसे लोगों को पहचानने में असमर्थ थे।''

बाबा ने इस प्रश्न का जो उत्तर दिया उसका सारांश इस प्रकार है—

ब्रह्मविदों को छोड़ कर कोई भी ऐसे महात्माओं को नहीं पहचान सकता। यदि स्वेच्छा से तुम्हारी पकड़ में ना आएँ तो तुम जैसे गलीज में पड़े विषय-कीट उन्हें कैसे पहचान सकते थे?

सुशिक्षित बंगाली भक्त ने कहा, ''बाबा, सूर्य क्या कभी अपना तेज छिपा सकता है? जो ब्रह्मज्ञानी है, उसके भीतर से ब्रह्मतेज फूट पड़ेगा।''

बाबा ने गम्भीर स्वर में कहा, ''ऐसे भी महात्मा हैं जो अनायास ही ब्रह्म-ज्योति तथा ब्रह्मशक्ति करने की शक्ति रखते हैं। तब भी कोई उन्हें नहीं पहचान सकता जब सहज और साधारण भाव से समाज में रहें।''

''आपकी बात मैं पूरी तरह मानने के लिए तैयार नहीं हूँ,'' भक्त ने कहा, ''ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति। उनके तेज अच्छादन करने पर भी जिज्ञासु मनुष्य की दृष्टि में कुछ तो अवश्य दिखाई पड़ेगा।'' भक्त ने आत्मविश्वास के साथ कहा।

फरसी बाबा विरक्त हो उठे। गम्भीर मुद्रा में उन्होंने कहा, ''सारा जीवन तुमने अविद्या का ही अर्जन किया है। जो विद्या मनुष्य को ज्योतिर्मान करती है, उसका तुमने स्पर्श नहीं किया है। प्रकृत ब्रह्मविद् को पहचानने की शक्ति तुम पाओगे कहाँ से?''

तम्बाकू का एक लम्बा कश खींच कर जोरदार धुआँ छोड़ते हुए बाबा ने करवट बदल ली। फिर इस भक्त से प्रश्न करने लगे—

''बेटा, तुम तो सिपाहियों के हिसाब वाले दफ्तर में काम करते हो?''

''हाँ बाबा, मैं सैनिक एकाउण्ट्स में कार्य करता हूँ।''

''दो साल पूर्व तुम मेरठ बदली होकर आए हो।''

''हाँ बाबा।''

''जब तुम कलकत्ता में थे तब सोच भी नहीं सकते थे कि तुम्हारा तबादला यहाँ हो जाएगा। तुम्हें यह भी नहीं मालूम था कि तुम्हारे कार्यालय में तुम्हारा एक विरोधी गुट भी है और जिसने तुम्हें मेरठ भिजवाया है। यहाँ एक बदमिजाज अफसर के हाथ में पड़कर परेशान हो रहे हो। ऐसा है न।''

''जी, ऐसा है।''

''देखो, तुमने ख्याति के साथ अपना कार्य किया है। तुम कार्य में दक्ष हो। फिर भी इतने सारे तथ्य तुम अपनी विद्या-बुद्धि से समझ भी नहीं पाए।''

बाबा ने तम्बाकू का एक कश और खींचा। हवा में धुआँ छोड़ने के बाद फिर प्रश्न करने लगे—

''बेटा, तुम्हारी पत्नी की मृत्यु पाँच वर्ष पूर्व हुई है। उससे पहले दो वर्ष तक उसने रोगग्रस्त होकर अपार कष्ट झेला, क्या यह सत्य है?''

''हाँ बाबा, आपकी बात अक्षरशः सत्य है। मैं तो अंत तक इस रोग का थाह नहीं लगा सका। कलकत्ता के बड़े-बड़े डॉक्टर भी नहीं समझ पाए।''

''बेटा, तुमने इस जीवन में बड़ा कष्ट उठाया है। तुम्हारी एक शिक्षित कन्या भी तो थी?''

''जी।''

''पिछले साल वह भी अपने पुराने सहपाठी के साथ कहीं भाग गई है न?''

"हाँ, बाबा।"

"यह बात भी सच है कि इस कन्या ने कुछ वर्ष पहले से ही लड़के से घनिष्ठता स्थापित कर ली थी। तुम्हें संदेह तो हुआ था किन्तु तुमने इस बात को महत्त्व नहीं दिया था। पिता की तरह सतर्क भी नहीं हुए।"

"बाबा, आप अंतर्यामी हैं, भगवान स्वरूप हैं। आपसे कुछ भी नहीं छिपा है।"

अब कोमल और स्नेहपूर्ण स्वर में फरसी बाबा ने बोलना शुरू किया, "बेटा, तुम देख तो रहे हो कि तुमने जो विद्या प्राप्त की है वह सारी की सारी अविद्या है। तुम कभी भी ज्ञान के आलोक का स्पर्श भी नहीं कर सके। इसीलिए तुम्हारे आसपास जो घटता रहा है, उसे तुम समझ नहीं पाए, जान नहीं पाए। बता बेटा, तू किस तरह ब्रह्मज्ञानियों को पहचान सकेगा? जो सच्चिदानन्द परम सत्ता के स्वरूप हैं, उन्हें पहचानना क्या सहज है?"

भक्त महोदय ने फिर जिज्ञासा प्रकट की, "फिर बाबा, वे लोग किस तरह और किस रूप में आते हैं और किस तरह मनुष्य का कल्याण करते हैं?"

बाबा उठकर बैठ गए। उन्होंने कहना शुरू किया—

"सुरापान किए हुए तुमने अनेक लोगों को देखा होगा। वे सभी एक-दो पात्र पीने के बाद अपना होश खो बैठते हैं। निरर्थक बकझक करते हैं। फिर उल्टी कर डालते हैं। कुछ मदिरासेवी ऐसे हैं जो पाँच-दस पात्र पीने के बाद भी स्थिर रहते हैं। ईश्वर का प्रेम, शक्ति या ज्ञानप्राप्त करने के बाद भी यही क्रम देखा जाता है। कोई थोड़ा-सा भगवत रस पाने के बाद ही अत्यधिक अधीर हो उठता है। आँखें चढ़ जाती हैं और बाह्य ज्ञान नहीं रह जाता। इसके अलावा ऐसे भी ईश्वर-प्रेम में मतवाले महापुरुष हैं जो हमेशा सहज समाधि में रहते हैं। ईश्वरीय प्रेमशक्ति, प्रज्ञा को सहज रूप से धारण करने की क्षमता रखते हैं। इससे भी उच्च कोटि के लोग हैं, जो ब्रह्मस्वरूप होकर ब्रह्म जैसे ही हो जाते हैं। उनके लिए सभी सहज और स्वाभाविक है। ऐसे समर्थ हैं वे लोग—'स्वाभाविकी ज्ञान बलं क्रिया च' बाकी बात ऐसे ही ब्रह्मविदों के विषय में है।"

दो-एक भक्तों ने हाथ जोड़कर निवेदन किया—"फिर बाबा, यदि हम ऐसे लोगों को पहचान पाएँ तथा इनका पुण्यमय सान्निध्य प्राप्त कर लें तो इससे ही अपना जीवन सार्थक कर सकते हैं।"

"यह तुम लोगों से सम्भव नहीं हो सकता," फरसी बाबा ने मुस्कराते हुए कहा, "केवल ब्रह्मविद ही ब्रह्मविद को पहचान सकता है। वे लोग साधारण मनुष्य के बाद अनेक बार उन्मादग्रस्त रूप में रहते हैं। किसी-किसी महात्मा को पिशाचवत् आचरण करते भी पाया जाता है। ये लोग स्वैच्छिक और स्वतन्त्र हैं।

कुछ भिखारी, मोची या अन्य रूपों में रह लेते हैं। इनका सान्निध्य तभी पाया जा सकता है, जब ये स्वयं कृपा करें।''

''बाबा, इनके इस तरह रहने से मानव समाज का क्या कल्याण हो सकता है?'' एक भक्त ने पूछा।

''परदे के पीछे से विश्व का कल्याण यही लोग तो करते हैं। परम प्रभु का अमृतकुण्ड इन्हीं लोगों के हाथों में तो सुरक्षित है। प्रयोजन के अनुसार यही तो उसके वितरण के अधिकारी हैं।''

सन् १९४२ तक इस महान् तपस्वी, सिद्ध और सरस हृदय महात्मा को हरिद्वार तथा उत्तर प्रदेश के उत्तराखण्ड में विचरण करते देखा गया। भक्त, गृहस्थ, साधु-संत सदा प्रसन्नमूर्ति, ब्रह्मस्वरूप एवं दिव्यानंद फरसी बाबा अमृतरस की वर्षा करते रहे। इसके बाद कब अंतर्ध्यान हो गए, किसी को पता नहीं चला। कब अपनी सत्ता ईश्वर की सत्ता में विलीन कर दी, कोई नहीं जान पाया।

●

भक्त लाला बाबू

लाला बाबू का वास्तविक नाम कृष्णचन्द्र सिंह था। अनुमानित तौर पर उनका जन्म १७७५ ई० में एक बहुत बड़े जमींदार परिवार में हुआ था। अठारहवीं सदी के अन्त में इतिहासप्रसिद्ध गंगागोविन्द सिंह के एकमात्र पुत्र प्राणकृष्ण सिंह की प्रिय संतान थे कृष्णचंद्र सिंह। कृष्णचंद्र सिंह का अन्नप्राशन इतनी धूमधाम से मनाया गया कि आज तक उस क्षेत्र में किंवदन्ती बना हुआ है। स्वर्णपत्र पर खुदे हुए अक्षरों में निमंत्रणपत्र भेजे गए थे। कांथी का सिंह भवन उल्लास, उत्साह और भीड़-भाड़ से जगमगा रहा था। बंगाल, बिहार और उड़ीसा के बड़े-बड़े पण्डित तथा सारे प्रतिष्ठित व्यक्ति इस उत्सव में आमंत्रित थे। लेकिन गंगागोविंद सिंह ज्यादा दिनों तक पौत्र-सुख नहीं प्राप्त कर सके। कृष्णचन्द्र सिंह के जन्म के कुछ सालों बाद ही परलोक सिधार गए।

गंगागोविन्द सिंह के भाई राधागोविन्द सिंह भी प्रचुर सम्पत्ति के मालिक थे। चूँकि उन्हें कोई संतान नहीं थी, इसलिए उनकी सम्पत्ति भी कृष्णचन्द्र सिंह को मिल गई। इसलिए कृष्णचन्द्र सिंह बंगाल, बिहार और उड़ीसा में अत्यन्त वैभवशाली और ऐश्वर्यवान व्यक्ति के रूप में प्रतिष्ठित हुए।

गंगागोविन्द सिंह अंग्रेज गवर्नर वारेन हेस्टिंग्स के दीवान थे और लम्बे समय तक बंगाल, बिहार और उड़ीसा की दीवानी उनके पास रही क्योंकि वे असाधारण रूप से योग्य थे। उन्होंने अपने कुल-परिवार के लिए बहुत बड़ी जमींदारी हासिल की। अकूत दौलत के स्वामी बने।

गंगागोविन्द सिंह अपने पौत्र को प्यार से लाला कहते थे। बाद में वह लाल बाबू के नाम से चर्चित हुए।

बालक लाला जब बड़े हुए तो उनकी शिक्षा के लिए उचित व्यवस्था की गई। संस्कृत, बँगला, अंग्रेजी, फारसी, अरबी के नामी-गिरामी विद्वानों द्वारा उन्हें शिक्षा दी जाने लगी। असाधारण प्रतिभा के धनी लाला को इन सभी भाषाओं पर अधिकार हो गया। लेकिन फारसी पर उनका विशेष अधिकार हो गया था। इसी भाषा के विद्वान के रूप में वे सम्मानित हुए। संस्कृत के कठिन से कठिन श्लोकों की सरल व्याख्या सुनकर विद्वान लोग दाँतों तले उँगली दबा लेते।

बाल्यकाल से लाला बाबू में सत्य के प्रति निष्ठा और ईश्वर के प्रति भक्ति के अंकुर फूट चुके थे। घर के देवमन्दिर में जब कभी पुराणों का पाठ होता था,

धर्मसभा बैठती थी, तब लाला बाबू एक अदृश्य आकर्षण में बँधे वहाँ मौजूद रहते। कभी-कभी वह अकेले ही इष्टदेव की प्रतिमा के समक्ष ध्यानमग्न बैठे देखे जाते।

लाला बाबू के चरित्र की एक और विशेषता थी, उनकी परोपकारी वृत्ति। दीन-दु:खियों को देखकर अधीर हो उठते और खुले दिल से उनकी मदद करते।

लाला बाबू की किशोरावस्था थी। एक गरीब ब्राह्मण को अपनी कन्या की शादी की चिन्ता सता रही थी। वह इस आशय से उनके दरवाजे का प्राय: चक्कर लगाया करता था कि कुछ मदद मिल जाएंगी तो वह कन्यादान कर सकेगा। लेकिन प्राणकृष्ण सिंह की हवेली के अंदर घुसने का मौका हाथ नहीं लग पा रहा था। जैसे वह अंदर घुसने की कोशिश करता, दरबान भगा देते। एक दिन हठात् लाला बाबू की दृष्टि उस पर पड़ गई। उन्होंने उससे आने का कारण पूछा तो उसने अपनी करुण गाथा विस्तार से कह सुनाई। लाला बाबू का हृदय द्रवित हो उठा। उसी समय खजाने में जाकर आदेश दिया, ''इस ब्राह्मण को आज ही एक हजार रुपए मिल जाने चाहिए।'' बूढ़े खजांची मुसीबत में पड़ गए। मालिक के हुक्म के बिना तहसील से इतने रुपए कैसे निकाले जा सकते थे। खजांची दौड़े-दौड़े प्राणकृष्ण के पास गए और सारा किस्सा उनसे बयान किया।

प्राणकृष्ण गम्भीर हो गए। थोड़ी देर तक सोचने के बाद बोले, ''देखो, लाला ने जब वचन दे दिया है तो रुपए दे दो। इसके सद्व्यय होने में तो कुछ संदेह है नहीं। किन्तु सावधान रहो, ऐसी घटना फिर न दुहराई जाय। लाला को समझा देना कि भविष्य में ऐसा आदेश न दिया करें। आगे उनके आदेश नहीं माने जाएँगे। उनसे यह भी कह देना कि अपनी सामर्थ्य से कोई रोजगार करें, जमींदारी की आमदनी बढ़ाएँ, फिर उसके बाद ही दान-पुण्य करें।''

दरिद्र ब्राह्मण को रुपए तत्काल दे दिए गए। उसके बाद ही खजांची ने लाला को उनके पिता के आदेश से अवगत करा दिया।

लाला के दिल में पिताजी की बातें तीर की तरह चुभ गईं। इतनी बड़ी सम्पत्ति का एकमात्र वारिस फिर भी एक पैसा दान करने का अधिकार नहीं। कैसी विचित्र विडम्बना है।

किशोर लाला बाबू ने आत्मनिर्भर बनने का दृढ़ निश्चय कर लिया। उन्होंने अविलम्ब महल छोड़ दिया। न तो माँ के नेत्रों के आँसू की परवाह की और न ही पिता की चिन्ता और उदासी की। वे वर्धमान जा पहुँचे। फारसी के अच्छे जानकार रहने के कारण काम मिलने में विलम्ब नहीं हुआ। वर्धमान कलक्टरी में सिरिस्तेदार के रूप में उनका कर्ममय जीवन शुरू हुआ। उनकी कार्य-कुशलता के कारण उत्तरोत्तर पदोन्नति होती गई।

इस बीच उनका विवाह भी हो गया और पुत्ररत्न की प्राप्ति भी हुई।

१८०३ ई० में उड़ीसा प्रान्त अंग्रेजों के अधीन हुआ। लाला बाबू की नियुक्ति 'जरीप' (पैमाइशी) के पद पर हुई। इसके कुछ सालों बाद दीवान के सर्वोच्च पद पर आसीन हुए। इस कार्य के दौरान उनका परिचय उड़ीसा के राजा से हो गया और यह घनिष्ठता में बदल गया।

उड़ीसा के पुरी मन्दिर को सरकार से जो वार्षिक सहायता मिलती थी, वह कुछ समय से बन्द हो गई थी। राज्य सरकार ने इसके लिए श्री मन्दिर को नीलाम पर चढ़ाने का निश्चय किया। नीलामी की तिथि के ठीक एक दिन पूर्व इसकी भनक लाला बाबू को लग गई। उन्हें बेहद पीड़ा हुई। यह पवित्र मन्दिर जनता-जनार्दन की आस्था का केन्द्र था। देश का गौरव था। सरकारी कानून के जाल में फँसकर इसकी मर्यादा नष्ट होने जा रही थी। यह हिन्दू समाज के लिए कलंक की बात थी।

लाला बाबू ने तत्काल नीलामी रोक दी। इसका नतीजा यह हुआ कि मन्दिर के कर्ता-धर्ता हरकत में आए और दूसरे ही दिन बकाया राशि का भुगतान मन्दिर को कर दिया गया। धर्मप्राण जनता लाला बाबू की जय-जयकार करने लगी। लोग उनके प्रति कृतज्ञता अर्पित करने लगे। राजा भी काफी प्रसन्न हुए और इसके लिए लाला बाबू को धन्यवाद ज्ञापित किया।

इस कार्य के एवज में राजा ने लाला बाबू को अपने राज्य में कुछ अचल सम्पत्ति अर्पित की। श्री जगन्नाथजी का कलेवर आज तक उसी स्थान से लायी गई नीम की लकड़ी से परिवर्तित किया जाता है। इस नव कलेवर का अनुष्ठान हर बारह वर्ष पर पुरुधाम में होता है।

जगन्नाथजी के विग्रह का दर्शन लाला बाबू के हृदय में प्रेम और भक्ति का संचार करते गए। प्रेमावतार श्री चैतन्य महाप्रभु के लीलास्थल का महात्म्य दिन प्रतिदिन उनके अंतर में स्फुरित होता गया। इस बीच वे तीर्थाटन के लिए वृन्दावन गए। श्रीकृष्ण के लीलास्थल के दर्शन से प्रफुल्लित हो उठे। ब्रज-मण्डल के गहन वनांचल में तितिक्षावान और साधन-भजन परायण वैष्णवों की भजन-गुफाएँ और कुटिया देखने के लिए वे प्राय: पहुँच जाया करते। वैराग्य की भावना बलवती होती गई। जीवन की नश्वरता, भोग-विलास, ऐश्वर्य, वैभव की निस्सारता का बोध होने लगा। सांसारिक जीवन से वितृष्णा होने लगी। लेकिन वे कर्म-पथ को बीच धारा में कैसे छोड़ सकते थे?

जब वे उड़ीसा में थे तभी उन्हें खबर मिली कि पिता का स्वर्गवास हो गया। पिता से बिछुड़ने का घाव सालने लगा। याद आया जब गरीब ब्राह्मण को दान देने के प्रकरण पर लाला बाबू ने घर छोड़ दिया था। पिता के इस अनुरोध

को ठुकराते चले गए थे कि एक बार आकर दर्शन दे दे उनका प्रिय पुत्र। अंततः उनके स्वाभिमान का अंत हुआ। कलकत्ता लौट कर पिता का श्राद्ध-कार्य सम्पन्न किया। पिता का उत्तराधिकार सम्हालने के लिए लाला बाबू ने अब कलकत्ता में ही रहने का निश्चय किया।

एक तरफ बाहर का वैभव, ऐश्वर्य और विलासितापूर्ण जीवन और दूसरी ओर उसी के समानान्तर अंतर में बह रही भक्ति की अमृत धारा। वे भक्तिरस के स्रोत की तलाश में लगे रहते।

कचहरी के कार्य से निवृत्त होकर लाला बाबू पालकी में बैठकर घर लौट रहेथे। उनका मन हुआ कि क्यों न थोड़ी देर तक माँ गंगा के तट पर गुजारा जाय। गंगा-तट पर पेड़ की छाया में पालकी उतार दी गई। शाम हो चली थी। गंगा की पवित्र लहरें कल-कल करती सूर्य की सुनहली किरणों से अठखेलियाँ कर रही थीं। तट पर बैठे-बैठे लाला बाबू की आँखें गंगा पर जमी थीं और उसके साथ ही अम्बरी तम्बाकू का गड़गड़ा धुआँ छोड़ रहा था। लाला बाबू दुहरे आनन्द में आकण्ठ डूबे थे।

गंगा-तट पर स्थित मल्लाह की झोपड़ी से आवाज आई—''बाबू, बेला बीत रही है, अब तो उठो। दिन तो अभी शेष होने को है।''

धीवर बाला की यह आवाज लाला बाबू के हृदय के आर-पार हो गई। ''बेला बीत रही है......दिन शेष होने को है। बेला बीत......।'' यह आवाज अनुगूँज बनकर उनके भीतर घुमड़ने लगी। इस यथार्थ को अस्वीकार कैसे कर सकते थे लाला बाबू। एक तरफ संध्या का अँधेरा सघन होता जा रहा है, दूसरी तरफ उनकी जीवन-मंच पर वैराग्य की यवनिका धीरे-धीरे गिरती जा रही है। उनके हृदय में एक संकल्प जागृत हो उठा। नहीं, नहीं, उन्हें अपना शेष जीवन भोग-विलास में नहीं बिताना है। ईश्वर को समर्पित कर देना है। उनकी प्रवृत्ति एक महायोगी के रूप में रूपान्तरित होने लगी।

लाला बाबू तामदान छोड़कर धीवर बाला के पास गए। बोले, माँ! तुम्हारा यह ऋण मैं कभी चुका नहीं पाऊँगा। तुम्हारी पुकार ने मुझे बन्धन-मुक्त कर दिया। मुझे आज महसूस हुआ कि बेला सचमुच बीतती जा रही है, उसी के साथ ही मेरे जीवन के शेष क्षण भी खत्म होते जा रहे हैं। जीवन-दीप बुझने के निकट आ गया है। सामने अंधकार फैलता दिखाई दे रहा है। तुम्हारे मुख से आज राधारानी ने ही मुझे वृन्दावन जाने के लिए पुकारा है। मैं वहीं जा रहा हूँ। तुम्हें मेरा आशीर्वाद है, तुम चिरसुखी रहो।

महल को लौटते ही लाला बाबू बिल्कुल बदल गए। उनका विलासी जीवन अचानक लुप्त हो गया। सर्वस्व त्याग कर, दीन-हीन के वेश में वे

वृन्दावन जाने के लिए तैयार हो गए। अश्रु-सागर में डूबे परिजनों से उन्होंने कहा, "श्री राधारानी ने कृपा करके मुझे पुकारा है। उन्होंने याद दिलाया कि बेला बीत रही है। मुझे साफ दिखाई दे रहा है कि जीवन मन्दिर के दीप एक-एक कर बुझते जा रहे हैं। मैं अपना शेष जीवन कृच्छ साधन, राधा-कृष्ण की सेवा-पूजा, भजन-कीर्तन में व्यतीत करूँ, यही आशीर्वाद आप लोग दें मुझे।"

लाला बाबू दूसरे ही दिन भिखारी के वेश में घर से निकल गए वृन्दावन के लिए। कृष्ण नाम जपते-जपते पहुँच गए वृन्दावन।

लाला बाबू को वृन्दावन के कण-कण में रमी राधा-माधव की अलौकिक लीलाएँ आकर्षित कर रही थीं। उनके मन-प्राणों में वृन्दावन की आध्यात्मिकता इस कदर रची-बसी थी कि न उन्हें पत्नी कात्यायनी के प्रेम-पाश और प्रेम-अश्रु बाँध पाए और न ही पुत्र नारायणचन्द्र का वात्सल्य। परिजन और क्षेत्रीय वृन्दावन के कृष्णधाम में आ-आकर समझाने के यत्न करते, "इष्टदेव की सेवा में आप सारा जीवन बिता देना चाहते हैं, यह तो अच्छी बात है, लेकिन प्रभु की सेवा-अर्चना के लिए सुव्यवस्था करना भी तो जरूरी है।"

"मैं तो ठहरा अकिंचन। प्रभु की सेवा के लिए उपयुक्त व्यवस्था मेरे बस की बात नहीं। भिक्षा में मिले अन्न पर निर्भर रहूँगा और उसी में से भोग-प्रसाद की व्यवस्था करूँगा।" परम कृष्णभक्त लाला बाबू का टका-सा जवाब होता।

दीवानजी समझाने की कोशिश करते, "हुजूर यह कैसे हो सकता है? आप लोगों का तीन पीढ़ियों से धन-वैभव संचित होता आ रहा है, यह सब तो परम प्रभु का ही दिया हुआ है न। उन्होंने कृपा करके, स्वयं अपने सेवक का चयन किया है। पूजन-अर्चन की जिम्मेदारी सौंप चुके हैं। यह सब व्यवस्था आप क्यों तोड़ रहे हैं? ईश्वर के सेवक के रूप में आपको जो धन-सम्पत्ति मिली है, उसे क्यों नहीं सेवा-कार्य में लगाते?"

"प्रभु का दिया हुआ धन उन्हीं की सेवा में लगे, इसमें भला मुझे क्या आपत्ति हो सकती है।" लाला बाबू ने मधुर स्वर में शान्त भाव से कहा और जब उनके ध्यान में वृन्दावन के मन्दिरों की दुर्दशा आई तो रोने लगे। श्री विग्रह की पूजा-अर्चना भी ठीक से नहीं हो रही थी। उनके मन में आया, पुत्र और पत्नी को उनका हिस्सा देने के बाद उनके हिस्से में जो सम्पत्ति आएगी उसका उपयोग वह भग्न मन्दिरों के उद्धार में करेंगे। वृन्दावन का सेवानुष्ठान भी हो सकेगा। इससे सम्पूर्ण देश के साधु-सन्तों में सेवा-पूजा का उत्साह बढ़ेगा। क्या इस कल्याणकारी कार्य के लिए प्रभु उन्हें ही निमित्त बनाना चाहते हैं?

तय हुआ कि लाला बाबू अपने जीवन का निर्वाह तो भिक्षाटन से करेंगे, किन्तु स्टेट से होने वाली आय को प्रभु-सेवा में खर्च किया जाएगा। केवल

मन्दिर-निर्माण और विग्रह प्रतिमा की पूजा-अर्चना ही नहीं, ब्रजमण्डल में स्थित पवित्र साधनापीठों, कुण्डों और स्नान-घाटों का जीर्णोद्धार भी कराया जायेगा। लाला बाबू ने इष्टदेव के भव्य मन्दिर का निर्माण कराने का भी निर्णय किया। इस मन्दिर में ऐसी भव्य एवं जाग्रत प्रतिमा स्थापित होगी जो भक्तों के अन्दर भक्तिभाव को उद्दीप्त करे। मन्दिर में साधु-सन्त अविरल प्रसाद पाते रहें और भूखे लोगों की क्षुधा शान्त होती रहे।

थोड़े ही दिनों में बंगाल और उड़ीसा की जमींदारी से पचीस लाख रुपए उनके पास पहुँच गए। सिद्ध महात्माओं एवं शास्त्र-पुराणों के अनुसार लाला बाबू ने पहले श्री राधा-कृष्ण स्थलों को चिह्नित किया फिर इन सभी पवित्र स्थलों को स्वायत्त करने के लिए चुयोरिटी परगना एक-एक करके खरीद लिया। वृन्दावन से लेकर सेतुबंध रामेश्वर तक प्रचारित करा दिया गया कि लाला बाबू श्री राधा-कृष्ण के पवित्र स्थलों एवं उसके आसपास के स्थलों को खरीदने के इच्छुक हैं। यदि कोई इन स्थलों को हस्तांतरित करेगा तो उसे उचित मूल्य दिया जाएगा। विक्रेतागण एक-एक कर लाला बाबू से मिलते गए और उनकी सम्पत्ति वे खरीदते गए। इस प्रकार जमींदारी से प्राप्त होने वाली सारी आय श्रीविग्रह की स्थापना, मन्दिर-धर्मशाला के निर्माण और देश-सेवा के विधि-विधान में लगाई गई।

लाला बाबू की बढ़ती लोकप्रियता से कुछ लोगों को ईर्ष्या होने लगी और वे स्थानीय जंनता में यह बात फैलाने लगे कि लाला बाबू छल-बल और कपट-कौशल से ब्रजमण्डल की बहुत सारी जमीन-जायदाद हड़प रहे हैं और लोगों को उसका उचित मूल्य भी नहीं दे रहे हैं। जब इस साजिश का पता लाला बाबू को चला तो उन्होंने आदेश दिया कि यहाँ से लेकर सेतुबंध तक मुनादी करा दी जाय कि जो लोग महसूस कर रहे हों कि उन्हें उनकी जायदाद का उचित मूल्य नहीं मिला है तो वे अपनी जायदाद वापस ले सकते हैं। इस मुनादी के बाद लोगों के मन का सारा संशय दूर हो गया। एक भी विक्रेता अपनी जायदाद लौटाने के लिए नहीं आया।

लाला बाबू के वृन्दावन पहुँचने की बात का पता जब भरतपुर नरेश को लगा तो उन्होंने भरतपुर प्रासाद में उनके व्यवस्था कराई।

कुछ दिनों बाद की घटना है। वृन्दावन में इष्ट विग्रह के मन्दिर के लिए जयपुर से पत्थर मँगाए जा रहे थे। इसके लिए लाला बाबू को कभी-कभी स्वयं राजस्थान जाना पड़ता था। एक बार वे भरतपुर के महाराज से मिले। महाराज से घनिष्ठता बढ़ने पर वह एक विपत्ति में फँस गए। उस समय राजस्थान के राज-घरानों से अंग्रेजों की कोई संधि-वार्ता चल रही थी। भरतपुर के राजा उस संधि को मानने वालों में अग्रणी थे। लेकिन किसी कारणवश बाद में वे असहमत हो

गए। अंग्रेजों को यह बात बुरी लगी। उनके मन में शंका हुई कि भरतपुर के राजा द्वारा अचानक संधि से मुकर जाने के पीछे लाला बाबू का हाथ हो सकता है।

ईस्ट इण्डिया की तरफ से उन दिनों सर चार्ल्स मेटकाफ उस समय दिल्ली दरबार में रेडिजेण्ट थे। संधिपत्र पर हस्ताक्षर करवाने की जिम्मेदारी उन्हें ही सौंपी गई थी। कर्मचारियों ने उन्हें बताया कि राजा तो हस्ताक्षर करने को तैयार थे किन्तु लाला बाबू ने उन्हें भड़का दिया। मेटकाफ इस बात पर क्रोध से तमतमा उठा। इस बात की असलियत जानने के लिए उसने मथुरा के कलेक्टर को निर्देश दिया। कलक्टर खूँखार व्यक्ति था। उसने लाला बाबू को कैद कर दिल्ली भेज दिया। वहीं पर फैसला लिये जाने की व्यवस्था हुई।

लाला बाबू की गिरफ्तारी की खबर जंगल की आग की तरह सम्पूर्ण ब्रजमण्डल में फैल गई। हजारों की संख्या में नर-नारी इस त्यागव्रती वैष्णव के पीछे-पीछे चल पड़े। दिल्ली में जन सैलाब उमड़ पड़ा। लाला बाबू की इस लोकप्रियता को देख कर मेटकाफ घबड़ा गया। बहरहाल उसने लाला बाबू के खिलाफ सबूत और उनके जीवन का रिकॉर्ड जुटाने की जिम्मेदारी फारसी-लेखक शांतिपुर के देवीप्रसाद राय को सौंप दी। राय महाशय ने अपनी रिपोर्ट में लिखा कि लाला बाबू और उनके पूर्वज हमेशा से कम्पनी के उपकारी रहे हैं। उन्होंने हर क्षेत्र में कम्पनी से सहयोग किया है। इस रिपोर्ट के बाद मेटकाफ ने सारे अभियोग तुरन्त वापस ले लिये।

सम्भवतः ईश्वर ने लाला बाबू की यह प्रथम परीक्षा ली, जिसमें वे उत्तीर्ण हुए। मेटकाफ लाला बाबू का भक्त हो गया।

एक दिन मेटकाफ ने लाला बाबू को सम्मानपूर्वक अपने आवास पर आमंत्रित किया। बातचीत के दौरान उसने पूछा, "इतने दिनों तक दीवान के पद पर कार्य करते हुए आप सरकार और रियाया का उपकार करते रहे। अब सभी कुछ छोड़छाड़ कर कैसे बैठ पाएँगे।"

"मैंने तो अब नई नौकरी कर ली है।"

"कौन सी नौकरी, किसकी नौकरी?"

"जो सबसे बड़ा मालिक है, उसकी।"

"वह कौन?"

"नए मालिक का नाम है श्रीकृष्ण," लाला बाबू ने हँसते हुए कहा, "मेरे लिए अनवरत कार्य यही है कि उनका कीर्तन-भजन करते रहें।"

मेटकाफ जिज्ञासा की दृष्टि से लाला बाबू को समझाते रहे। मुंशी ने उन्हें समझाया—"श्रीकृष्ण वैसे ही भगवान हैं, जैसे ईसाई लोग ईश्वर को परमपिता 'गॉड' कह कर स्मरण करते हैं।"

ईस्ट इण्डिया के अधीन लाला बाबू बहुत दिनों तक काम कर चुके थे। उनकी निष्ठापूर्ण कार्य-दक्षता से खुश होकर ब्रिटेन के सम्राट ने उन्हें महाराजा की उपाधि देनी चाही थी लेकिन उन्होंने उसे विनम्रतापूर्वक अस्वीकार कर दिया था।

मेटकाफ से मिलकर लाला बाबू वृन्दावन लौट आए। इष्टदेव के मन्दिर का निर्माण-कार्य तेजी से शुरू हो गया और धीरे-धीरे पूरा भी हुआ। गर्भ-गृह में श्रीकृष्ण का विग्रह भव्य समारोह के साथ प्रतिष्ठित हुआ। मन्दिर का खर्च चलाने के लिए ब्रजमण्डल की जमींदारी का बहुत बड़ा भाग मन्दिर से जोड़ दिया गया। अतिथिशाला में नियमित प्रसाद-भोजन की व्यवस्था की गई। प्रतिदिन सैकड़ों की संख्या में साधु-सन्त तथा मुमुक्ष लोग भोजन ग्रहण करते। इस सदाव्रत की चर्चा पूरे ब्रजमण्डल में फैल गई। लाला बाबू स्वयं निःस्व वैष्णव की तरह रहते। श्रीविग्रह को भोग लगने के बाद कुछ प्रसाद मुँह में डालते। इसके बाद निरन्तर ठाकुरजी के भजन-कीर्तन में लीन रहते।

लाला बाबू की एकमात्र इच्छा यह थी कि उनके द्वारा प्रतिष्ठित श्री विग्रह शीघ्र ही जाग्रत उजागर हो। इसके लिए वे लगातार मन्दिर में कातर भाव से बैठकर प्रार्थना करते रहते। उनके नेत्रों से आँसू झरते रहते। वे कहते, "हे ठाकुर, अपने श्री विग्रह में तुम नित्य लीलारत हो। किन्तु यह लीला एक बार इस अधम को भी दिखाओ। इस अंधे अभागे की आँखें खोल दो। दयामय, सर्वजन-समक्ष तुम जाग्रत हो उठो। तुम्हारी कृपा की अजस्त्र धारा चतुर्दिक विस्तारित हो और यह देखकर मैं धन्य होता रहूँ।" लाला बाबू का यह करुण-क्रंदन व्यर्थ नहीं गया। शीघ्र ही ठाकुर के श्री विग्रह से प्रभु की दिव्य लीला स्फुरित होने लगी। यह लीला अलौकिक भी थी और दया-करुणा के रस से पूर्ण भी।

माघ का महीना था। ठिठुरन भरी सर्दी पड़ रही थी। सुबह से ही ठाकुर की षोडषोपचार पूजा चल रही थी। मन्दिर के एक कोने में बैठे लाला बाबू मन-प्राण से एकतन होकर श्री मूर्ति को एकटक निहार रहे थे। भावावेश के कारण सम्पूर्ण शरीर रोमांचित हो रहा था। आँखों से लगातार आँसू बह रहे थे। इसी बीच उनके मन में एक अदभुत विचार आया। इस बात की जाँच कर ली जाय कि ठाकुरजी की प्रतिमा में प्राणों का संचार हुआ है या नहीं ? उसी क्षण भोग-राग के उपकरणों में से मक्खन का गोला उन्होंने उठा लिया। पुजारी के हाथ में देकर कहा, "इस माखन को लेकर श्री मूर्ति के शीर्ष-तालु पर डाल दो तो। हमारे प्रतिष्ठित श्रीकृष्ण प्राण हो चुके हैं कि नहीं, इस बात की परीक्षा मैं आज ही कर लेना चाहता हूँ।"

पुजारी लाल बाबू के इस प्रस्ताव पर चौंके। संकोच के साथ कहा, "आपके आदेश का पालन तो मैं कर रहा हूँ लेकिन इस प्रकार की परीक्षा किसी ने की हो, ऐसा तो कभी नहीं सुना।"

"पुजारीजी, यदि श्री विग्रह चैतन्यमय हैं, उनके जड़ प्रतिमा-शरीर में भी चैतन्य-चिह्न क्यों नहीं पाया जायेगा? इस प्रतिमा काय में उत्ताप एवं प्राणों के स्पंदन क्यों नहीं होंगे?" लाला बाबू ने प्रश्नात्मक लहजे में कहा।

पुजारीजी ने मक्खन का गोला प्रतिमा पर चढ़ा दिया और पूजा चलने लगी। देखते ही देखते ठाकुरजी के ऊपर डाला गया कठोर मक्खन का गोला गलने लगा। सारी प्रतिमा मक्ख-रस से भींग उठी। इस ठिठुरन भरी ठंड में मक्खन का गोला गल जाएगा, यह असम्भव था। निश्चय ही अलौकिक कारणों से ब्रह्मताप उष्ण हो आई है तभी मक्खन इस तरह गल रहा है। वहाँ उपस्थित भक्त गण यह दृश्य देखकर आनन्द से जय जयकार कर उठे। लाला बाबू का शरीर आनन्द के रोमांच से इस कदर काँपने लगा कि वह मूर्च्छित होकर वहीं लुढ़क गए।

एक और घटना—लाला बाबू के दिमाग में एक नई बात का संचार हुआ। श्रीमूर्ति के मस्तिष्क तल में यदि ताप-उष्णता संचरित हो सकती है तो उनकी नाक से साँस क्यों नहीं चल सकती? एक बार इसकी परीक्षा भी ली जाय। मन्दिर के एक सेवक से उन्होंने रूई मँगवाई। फिर पुजारी से बोले, "आप कृपाकर श्री विग्रह की नासिका तले इस रूई के गोले को कुछ देर तक रखे रहें। श्वासोच्छ्वास चल रहा है या नहीं, इसे प्रत्यक्ष करना चाहता हूँ।"

पुजारी ने हँसते हुए कहा, "उस दिन श्रीमूर्ति के ब्रह्माण्ड पर मक्खन का गोला रखवा कर आपने परीक्षा ले ली, फिर भी कौतूहल बना हुआ है?"

"यह अधम लम्बे काल तक विषय का कीड़ा बना रहा है। इसी से संशय मिट नहीं सका है। प्रभु के चरणों में अभी तक पूरा विश्वास नहीं हो पाया है। अत: स्वभावत: बार-बार अलौकिक ऐश्वर्य देखने का कौतूहल जाग उठता है। लेकिन यह स्वत: धीरे-धीरे खत्म हो जाएगा। आप जाकर देखिए साँस सचमुच चल रही है या नहीं।" लाला बाबू ने विनम्रतापूर्वक कहा।

रूई श्री विग्रह की नासिका के नीचे रखी गई। फिर देखा गया कि श्री मूर्ति की नाक के छिद्र से साँस आ-जा रही है क्योंकि रूई का छोटा गोला रह-रहकर हिल रहा है।

श्रीमूर्ति में प्राण-संचार हुआ है, इससे आश्वस्त होकर लाला बाबू आनन्दोल्लास से भर उठे। वे मन्दिर की रंगशाला में बार-बार दण्ड प्रणाम करने लगे।

एक दिन इष्टदेव लाला बाबू को स्वप्न में दिखाई दिए। कहने लगे, "लाला, तुम्हारी सेवा स्वीकार कर मैं प्रसन्न हूँ। विशाल मन्दिर, पूजा-सेवा, भोग-राग और अन्न-सन्न सभी कुछ है। साथ ही तुम्हारी दैव्य भक्ति भी है।

किन्तु इतना सब होते हुए भी मुझे कुछ और चाहिए। तुम मुझे और कुछ भीख में दे सकते हो?"

ब्रह्माण्ड के स्वामी के श्रीमुख से यह बात सुनकर लाला बाबू चौंक उठे। बोले, "प्रभु और जो चाहे कहें लेकिन यह भीख की बात आपके मुँह से अच्छी नहीं लगती। मेरा उद्धार श्रीचरणों में है, मुझे लगा रहने दीजिए। जो बात हो, खुल कर कहिए।"

"क्यों जी, तुम जानते नहीं कि मैं शाश्वत भिखारी हूँ? जीवों के द्वार-द्वार क्या मैं प्रेम की भीख के लिए दौड़ता नहीं रहा? किन्तु रहने दो यह सब तत्त्व-कथा। मेरे लिए तुम्हें इस बार नूतन मन्दिर का निर्माण करना होगा।"

"नया मन्दिर? प्रभो, जो पचीस लाख रुपए मैं आपकी सेवा के लिए लाया था वह सारा चुक गया। सर्वस्व चढ़ा चुका हूँ। अब एक और मन्दिर कैसे बनवा सकूँगा भगवन?"

"लाला, जिस मन्दिर के निर्माण की बात मैं कर रहा हूँ, वह साधक के सर्वस्व चुकने के बाद ही तो निर्मित हो सकता है।" लाला बाबू को चिन्तामग्न देखकर श्री ठाकुर ने कहा, "लाला, सर्वस्व दान करने के बाद ही तो अपने हाथों भक्त हृदय का श्री मन्दिर गढ़ा जाता है। वही मन्दिर तो मेरा प्रिय स्थान है। इस बार तुम अपनी हृदय-वेदी पर मेरे लिए चिरस्थायी प्रेम मन्दिर की रचना करो। इसी भिक्षा के लिए तो मैं यहाँ आ खड़ा हूँ।"

"दयानिधान, तो आप स्वयं बता दें कि इस शरीर के हृदय मन्दिर में आपको किस प्रकार प्रतिष्ठित कर पाऊँगा?"

"तुम इसी क्षण गोवर्धन चले जाओ। वहाँ की महापवित्र भूमि और निर्जनता तुम्हारे भजन-भाव के सदा अनुकूल है। तुम्हें परमप्राप्ति वहीं होगी।"

लाला बाबू ने निवेदन किया, "प्रभु, कृपा कर मेरे द्वारा स्थापित इस श्रीमूर्ति में आप जाग्रत हो उठे हैं। कहिए तो, इसे छोड़कर मैं कहा जाऊँ? किस तरह जाऊँगा?" लाला बाबू का हृदय हाहाकार कर उठा था।

"मेरी लीला केवल तुम्हारे द्वारा स्थापित प्रतिमा में ही सीमित है क्या? यह लीला तो सभी विग्रह मूर्तियों, जल, थल और आकाश में रूपायित है। श्री चैतन्य के महाभाव से जो लीला तीर्थ सृजित हुए हैं। तुम ब्रजमण्डल के सभी तीर्थों में परिव्रजन करो। उसके बाद गोवर्धन जाकर अपनी तपस्या पूर्ण करो।"

लाला बाबू ने एक-एक कर ब्रजमण्डल के सभी तीर्थों का दर्शन किया, फिर गोवर्धन में आ गए। वे गोवर्धन की नित्य परिक्रमा करने लगे। उसके बाद भूगर्भ गुफा के अन्दर बैठ कर जप-ध्यान में लीन हो गए। दिन में एक बार मधुकरी के लिए बाहर निकलते। भिक्षा में जो कुछ मिलता उसी से दिन कटने लगा।

एक दिन गिरि गोवर्धन में मूसलाधार वर्षा शुरू हो गई। गिरि-परिक्रमा समाप्त करने के बाद लाला बाबू ने सोचा कि क्यों न श्री विग्रह में सायंकालीन प्रसाद पाया जाय। फिर मधुकरी के लिए बाहर जाने का क्या प्रयोजन? पूरा दिन तप और साधना में क्यों न लगाया जाय। मन्दिर के पुजारी को कहला दिया, रात में ठाकुरजी का प्रसाद उनके लिए भिजवा दिया करें।

किन्तु मन्दिर में आरती और भोग राज का समय समाप्त होते ही भारी वर्षा होने लगी। पुजारी सोच में पड़ गए। भक्त लाला बाबू प्रसाद की प्रतीक्षा कर रहे होंगे किन्तु इस वर्षा की झड़ी में क्या किया जा सकता है?

देर रात गए वर्षा मद्धिम हुई तो पुजारी ठाकुरजी के घर में दौड़े। प्रसाद लेकर जल्दी ही लाला बाबू के पास जाएँगे। लेकिन यह क्या? प्रसाद की थाल तो यहाँ है ही नहीं! कौन ले जा सकता है, प्रसाद की थाली? उनके सिवा कोई और तो नहीं था। अंततः अगत्या ठाकुरजी का जो कुछ फल-फूल प्रसाद रखा था, उसे हँडिया में रख कर पुजारीजी लाला बाबू के यहाँ उपस्थित हुए।

पुजारीजी को देखते ही विस्मय से लाला बाबू बोले, "यह क्या पुजारीजी, अभी कुछ देर पहले तो प्रभु का प्रसाद भरा थाल दे गए हैं, फिर यह क्या ले आए।"

पुजारीजी के आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा, वह बोले, "लालाजी, यह आप क्या कह रहे हैं। मैं तो सायं से ही थाल रखकर पानी बन्द होने की प्रतीक्षा करता रहा। अब बरसात थोड़ी मद्धिम हुई है तो आया हूँ।"

"उधर देखिए ठाकुरजी के भोग-प्रसाद का थाल अभी भी पड़ा हुआ है", गुफा के एक कोने में इशारा करते हुए लाला बाबू ने कहा, "आप स्वयं दे गए हैं थाल। जल्दी भोजन करने की बात भी कह गए हैं। क्या विक्षिप्त हूँ जो थोड़ी देर पहले की बात भूल जाऊँगा।"

पुजारी ने हाथ जोड़ कर कहा, "ठाकुरजी की शपथ लेकर कह रहा हूँ लाला बाबू कि मैं आज मन्दिर से बाहर निकला ही नहीं। ठाकुरजी के गृह से प्रसाद भरा हुआ थाल भी गायब हो गया था। उसे काफी खोजा, जब नहीं मिला तो जो कुछ था, इस हाँडी में लेकर आया हूँ।"

पुजारी की यह बात सुनकर लालाजी की देह में सात्विक प्रेम विकार फूट पड़े—स्तंभ, स्वेद, रोमांच, गदगद वाली, कंप, विवर्णता और अश्रु आदि। और वे चेतनाशून्य होकर जमीन पर लुढ़क गए।

चेतना लौटने के बाद आँसू भरे कण्ठ से कहने लगे, "हाय नाथ! अधम के प्रति क्यों इस प्रकार छलना दिखा गए हो। पुजारी के रूप में आए। स्वयं भोग-प्रसाद दे गए किन्तु मैं मोहाच्छन्न अंध-सा तुम्हें पहचान भी नहीं पाया! हे दयानिधान! एक बार, सिर्फ एक बार प्रकट होकर दर्शन दे दीजिए।"

गुरु की प्राप्ति के लिए लाला बाबू काफी दिनों तक भटके। साधु-संतों के यहाँ मत्था देखा। लेकिन बार-बार उन्हें एक ही बात सुनने को मिली, समय आने पर गुरु का आविर्भाव स्वयं होगा। इसके लिए परेशान होने की आवश्यकता नहीं है। लेकिन गोवर्धन पर्वत पर रह कर तपस्या करते सद्गुरु के प्रति व्यग्रता और बढ़ गई।

उस समय के सिद्ध साधुओं में मथुरा के कृष्णदास बाबा की ख्याति ज्यादा थी। भक्तमाल का बँगला में अनुवाद करने के बाद वह प्रसिद्धि के शिखर पर पहुँच गए थे। निगूढ़ वैष्णीय साधना में उन्हें सिद्धि प्राप्त थी। इस बार वे गोवर्धन की परिक्रमा के लिए पहुँचे थे। लाला बाबू ने उनके पास पहुँच कर प्रणाम किया फिर बोले, "प्रभु, गुरु के श्रीचरण में आश्रय पाने के लिए मेरी आत्मा तड़प रही है। बहुत समय से आपको ही सद्गुरु के रूप में वरण किया है। इस बार मुझे आश्रय देकर कृतार्थ कीजिए।"

कृष्णदासजी लाला बाबू को दीक्षा देने के लिए सहमत हो गए। लेकिन शर्त यह थी कि लाला बाबू को कुछ समय तक कठोर साधन-भजन करना था। विषयी जीवन के अवशेष को वैराग्य की आग में भस्म करना था। फिर समय आने पर कृष्णदासजी स्वयं उपस्थित होकर दीक्षा देंगे।

लाला बाबू ने कृष्णदासजी के निर्देशानुसार अपनी साधना शुरू कर दी। कौपीन कंथा मात्र धारण कर ब्रज के एक-एक तीर्थ में घूमते। कुछ दिन एक जगह बिताकर फिर दूसरी जगह चले जाते। दिन-ब-दिन चरम कोटि की त्याग-तितिक्षा और दैन्य उनकी आध्यात्म साधना प्रवाहित होने लगी। कुछ दिनों के लिए वृन्दावन आए। दिन श्रीकृष्ण मन्दिर में बैठकर श्रीमूर्ति विग्रह को घण्टों निहारते। शाम को गलियों में भिक्षा के लिए निकलते। जो कुछ मिलता, उसी पर गुजारा करते।

काफी दिन बीत गए श्रीकृष्णदासजी का 'उपयुक्त समय' नहीं आया। लाला बाबू को उनकी याद सताने लगी। गुरु-कृपा की संजीवनी-सुधा से अबतक वंचित रहे। वह आत्मविश्लेषण करते रहे। आखिर जीवन में कौन सी त्रुटि, कौन से संस्कार और कौन सा माया-मोह उनके मार्ग में अवरोध बन रहा है।

लाला बाबू को याद आया कि बहुत से सेठ-साहूकारों के मठ-मन्दिरों में वह अभी तक नहीं जा सके हैं। मठ-मन्दिर के निर्माण में, श्री विग्रह की सेवा में और दान-पुण्य में कितने सेठ लोग लाला बाबू के प्रतिद्वन्द्वी बने रहे हैं। कई मुद्दों को लेकर दोनों पक्षों में टकराव भी हुए थे। वे दिन लाला बाबू भूल जाना चाहते थे क्योंकि वे अब कौपीन-मेखलाधारी वैष्णव थे। क्या वही अंश अब भी हृदय में शेष नहीं बचा है? यह विचार मन में आते ही लाला बाबू ने सेठों के मठों-मन्दिरों में जाने का निश्चय कर लिए—एक वैष्णव भिखारी के रूप में।

एक दिन भिखारियों की भीड़ में लाला बाबू भी थे। आँगन में खड़े होकर, खँजड़ी बजाकर लाला बाबू मधुर-स्वरों में कृष्ण-कीर्तन में तन्मय हो गए थे। सुध-बुध खो बैठे थे। स्वर्ण-गौर वर्ण, लम्बे शरीर वाले लाला बाबू को वृन्दावन में भला कौन नहीं पहचानता था। तुरन्त ही यह खबर अधिकारी के कानों में पहुँची। लाला बाबू वैष्णव भिखारी के वेश में भिक्षा माँगने आए हैं। यह सेठ लोगों की कल्पना से परे था। मन्दिर में हलचल मच गई। वृद्ध सेठ स्वयं भिक्षा देने के लिए आए। वह थाल लिये हुए थे। थाल में चावल, दाल और फल के अलावा एक सौ एक अशर्फियाँ थीं। बहुत ही सम्मान और विनम्रता के साथ सिर झुका कर सेठ ने कहा, "बाबूजी, आपके चरण-रज से दीन की यह कुटिया धन्य हुई। कृपा कर यह थाल ग्रहण करें, हम अत्यन्त कृतार्थ होंगे।"

"मैं तो मधुकरी के लिए आया था। कृष्ण नाम स्मरण कराया। मुझे सिर्फ एक मुट्ठी चावल भिक्षा में चाहिए। थाल में जो कुछ सजाकर लाए हैं आप, उसे तो भिक्षा नहीं माना जाएगा।" लाला बाबू ने विनम्रतापूर्वक कहा।

"आप सही कह रहे हैं। लेकिन आपको भिक्षा देना मेरी शक्ति से बाहर है। यह तो भेंट-नजराना है। राजा लाला बाबू ने आज भिक्षुराज होकर हमें पराभूत कर दिया है। इसी से यह नजराना हाजिर है।"

"यह नहीं हो सकता सेठजी," लाला बाबू बोले, "वैष्णव को जीवन-पर्यन्त भिक्षुक ही रहना पड़ेगा। आपके इस स्वर्ण थाल का स्पर्श नहीं कर पाऊँगा। थाल में से एक मुट्ठी चावल मेरी झोली में डाल दीजिए। ज्ञात-अज्ञात भाव से यदि आपको मुझसे कष्ट पहुँचा हो तो मुझे क्षमा करें। सब लोग मिलकर मुझे आशीर्वाद दीजिए, जिससे मुझ जैसे अपात्र के हृदय में सहज कृष्ण भक्ति का उदय हो सके।" कहकर लाला बाबू ने दोनों हाथ उठाकर अपने पूर्व प्रतिद्वन्द्वी सेठजी को हृदय से लगा लिया। उनकी आँखों से आँसुओं की वर्षा होने लगी। भावावेश और प्रेमोच्छ्वास का यह दृश्य देखकर वहाँ खड़े तमाम लोग द्रवित हो उठे।

सेठ के मन्दिर से लाला बाबू धीरे-धीरे निकले। निकट की गली से अपनी भजन कुटी की तरफ बढ़े ही थे कि बाबा कृष्णदास अचानक प्रकट हो गए। लाला बाबू ने उन्हें साष्टांग दण्डवत किया। बाबा ने लाला बाबू को उठाकर हृदय से लगा लिया। भक्तवत्सल बाबा ने कहा, "अब समय आ गया है। देखो, इसी उद्देश्य से मैं भी यहाँ आ गया हूँ। प्रतिद्वन्द्वी धन कुबेर सेठजी के यहाँ इतने दिनों तुम मधुकरी माँगने नहीं गए। अंतर में जो अहंभाव मौजूद था, वह दूर हो गया। अब दीक्षा-बीज के आरोपण में कोई बाधा नहीं रह गई है वत्स!"

बाबा कृष्णदास ने लाला बाबू को दीक्षा दी। इसके बाद उनका जीवन और गहन हो गया।

निगूढ़ वैष्णव साधना का पथ निर्देशन करते हुए गुरु ने कहा, ''इस बार तुम्हें सर्वस्व अर्पण करना होगा। चरम कृच्छ्र व्रत का अवलम्बन कर साधना में जुट जाना होगा। अब तुम गोवर्धन पर्वत की गुफा में जाकर निवास करो। वहाँ रहकर ही तुम इष्ट दर्शन और परमप्राप्ति होगी। जब तक अभीष्ट सिद्ध न हो तब तक साधन-गुफा में एकांत जीवनयापन करोगे और तब तक मनुष्य का मुख नहीं देखोगे।''

गोवर्धन पर्वत की गुफा में लाला बाबू घोर तपस्या में लीन हो गए।

कुछ वर्षों बाद उनकी तपस्या सार्थक हुई। उन्हें इष्ट-दर्शन मिला। इष्ट के लीलारस-पान से वह पूर्ण काम हुए। ब्रजमण्डल के अन्यतम वैष्णव महापुरुष के रूप में चिर प्रतिष्ठित हुए।

इसी समय सिंधिया नरेश वृन्दावन पहुँचे। विशिष्ट तीर्थस्थलों का दर्शन करते-करते उनके अंतर में अध्यात्म-जीवन बिताने की प्रबल आकांक्षा पैदा हुई। सोचने लगे, किस महात्मा से आश्रय माँगें। लोगों ने उन्हें परमसिद्ध महापुरुष लाला बाबू का नाम बताया। अतः सदल बल गोवर्धन में पहुँच गए।

सिंधिया नरेश पारेखजी ने लाला बाबू से उनका मंतव्य बताया तो लाला बाबू ने कहा, ''महाराज, दीक्षा के सम्बन्ध में मैं अपने गुरुजी द्वारा निर्देशित मार्ग का अनुसरण करता हूँ। उसे मानकर ही आपको मेरे निकट आना होगा।''

''वह मार्ग क्या है?''

''गुरु ने मुझे तभी दीक्षा दी थी जब मैं विषय और विषय का अभिमान दोनों ही त्याग कर उनके चरणों में आत्मसमर्पण कर पाया था। श्री भगवान को पाना हो तो उन्हें दोनों हाथ से गहना होगा। एक हाथ से संसार को जकड़े रहना और दूसरे हाथ से भगवान के चरणस्पर्श करना—यह संभव नहीं है।''

''तो इसके लिए मुझे क्या करना होगा?''

''महाराज, कृष्ण-प्रेम के सागर में लीन होने के लिए आपको जीवन के इन दोनों किनारों के तटबंधों से अलग होना होगा। सर्वत्यागी, कौपीनधारी होकर इस गोवर्धन गुफा में आना होगा। क्या यह कर सकेंगे महाराज?''

''आपका कहना सत्य है, प्रभु। मैं अब समझ रहा हूँ—ऐसा कृच्छ्र साधन, ऐसा त्याग वैराग्य का मार्ग हम जैसे साधारण मनुष्य के लिए नहीं है। इसके लिए जन्म-जन्मान्तर की साधना और विपुल पुण्य-सुकृति की आवश्यकता है।'' सिंधिया नरेश ने दोनों हाथ जोड़कर कहा।

महाराज लाला बाबू की चरण वंदना करके गोवर्धन से विदा हुए।

लाला बाबू की ख्याति जैसे-जैसे बढ़ने लगी, वैसे ही वैसे वहाँ जुटने वाले भक्तों की भीड़ बढ़ने लगी। इससे उनकी साधना में व्यवधान पैदा होने लगा। वह

सोचने लगे, उन्हें गोवर्धन-गुफा छोड़ कर किसी निर्जन स्थान में चले जाना चाहिए जहाँ पूरी तरह भक्ति का सुख उठा सकें। एक रात को उन्होंने अपना स्थान छोड़ दिया। गहन अंधकार था। लेकिन उसी समय गुफा के निकट एक घटना घटित हुई। ग्वालियर से आने वाला यात्रियों का एक दल घोड़े पर सवार होकर चला आ रहा था। उन लोगों में से किसी एक के घोड़े की टाप लाला बाबू के पैर पर पड़ी और वह गिर पड़े। इस चोट के कारण जो घाव हुआ, वह थोड़े ही दिनों में काफी बढ़ गया। भक्तगण उन्हें वृन्दावन मन्दिर में ले गए किन्तु चोट की पीड़ा से लाला बाबू उबर नहीं पाए।

भक्त पूछते, "प्रभु, आपको आपके प्राण-प्रिय श्रीकृष्णजी के पास लाकर रखा गया है, फिर भी आप रोग-मुक्त क्यों नहीं होते?"

"तुम तो प्रभु के दिए गए इस दैहिक रोग को ही देखते हो, उनका दिया हुआ अमृतमय आलोक भी तो देखो। वैसा आलोक तो मेरे हृदय को आलोकित कर रखा है। कृष्णचन्द्र और राधारानी का मधुर लीला-विलास वहाँ अविराम गति से चल रहा है। बताओ तो, कौन-सा पलड़ा भारी है—सुख का या दुःख का।"

भक्त और सेवक हार मानकर चुप हो जाते।

लाला बाबू का जीवन धीरे-धीरे चिर विराम के निकट आ गया। भक्तों को संकेत मिला तो वे दुःखी मन से उन्हें झटपट यमुना के किनारे ले गए। युगल लीला की अनन्त वैचित्र्य-परंम्परा के दर्शन में लीन होकर उन्होंने अन्तिम साँस ली। सारा ब्रज-मण्डल इस महान साधक के महानिर्वाण के शोक में डूब गया।

साधारण समाज छाती पीट-पीट कर रो रहा था। तमाम दुःखों से उनका एक महान उद्धारकर्ता चला गया। लाला बाबू वास्तव में उस समय के महान साधक और राजर्षि थे।

●

श्रीपाद माधवेन्द्रपुरी

त्यागव्रती माधवेन्द्रपुरी कुण्ड के किनारे पेड़ की छाया में चुपचाप लेटे थे। प्रचण्ड गर्मी थी। वातावरण ऐसा लग रहा था जैसे आग की लपटें उठ रही हों। लोग घरों, मन्दिरों और मठों में दुबके हुए थे। महावैष्णव माधवेन्द्र बहुत दिनों से अयाचक व्रत ग्रहण किए हुए थे। जो भिक्षा मिल जाती, उसी से काम चल जाता। नहीं मिलती तो व्रत ही रहते। दूर-दूर तक सन्नाटा पसरा था। दोपहरी नाच रही थी। ऐसी स्थिति में कोई प्राणी इधर आ टपकेगा, इसकी सम्भावना दूर-दूर तक नहीं थी।

लेकिन माधवेन्द्र ने विस्फारित नेत्रों से देखा कि एक गोप बालक हाथ में दूध का बर्तन लिये सामने खड़ा था। अत्यन्त सुन्दर। काले-काले घुँघराले बाल। सुगठित शरीर। साँवला शरीर। बड़ी-बड़ी आँखें। मोहक रूप-रंग सौन्दर्य।

मधुर हँसी बिखेरते हुए बालक ने कहा, ''सुनते हो जी! जरा उठकर बैठ जाओ। तुम्हारे लिए डाबाभर दूध ले आया हूँ। आओ छककर दूध पीओ। अनशन-उपवास करने से क्या लाभ मिलने वाला। बोल तो। ग्वालों के घर में दूध-दही की कमी नहीं, तब तुम भूखे क्यों रहोगे?''

''बच्चे, तुम कौन हो? किस गाँव में रहते हो? तुमने यह कैसे जाना कि मैं यहाँ उपवास किये बैठा हूँ?'' बालक के सम्मोहन से उबर कर माधवेन्द्र ने पूछा।

''मैं पास की बस्ती में रहता हूँ। तुम्हें मालूम नहीं, कोई यदि अयाचक वृत्ति लेकर रहता है, माँग कर कुछ नहीं खाता, तो मैं उसके लिए दूध का बंदोबस्त करता हूँ। ग्वालों की बहू-बेटियाँ इस घाट पर नहाने-धोने आई थीं, उन्हीं से तुम्हारे उपवास के बारे में पता चला। दूध भी उन्हीं लोगों ने भिजवाया है। तुम दूध पीओ, मैं थोड़ी देर बाद हाँड़ी ले जाऊँगा।''

माधवेन्द्र ने इष्टदेव को दूध का भोग लगाया, इसके बाद सारा दूध पी गए।

धीरे-धीरे दिन ढल गया। लेकिन जो बालक दूध लेकर आया था, वह फिर नहीं लौटा। उसकी हाँड़ी एक तरफ रखी हुई थी।

चारो तरफ अँधेरा छा गया, माधवेन्द्र ने पूजन-कीर्तन और जप पूरा किया। मध्यरात्रि के आसपास आसन बिछाकर लेट गए। जल्दी ही नींद आ गई।

कुछ ही देर बाद एक अलौकिक घटना ने माधवेन्द्र की नींद तोड़ दी। वे हड़बड़ा कर उठ बैठे। मंद-मंद मुस्कराते हुए एक किशोर बालक उनके सामने

खड़ा था, बोला—"माधवेन्द्र, तुम आ गए हो, अच्छा ही हुआ। तुम्हारे अलावा किसी अन्य के द्वारा मेरी प्रतिभा का उद्धार नहीं हो सकता। बहुत दिन पहले की बात है। गोवर्धन पर्वत के समीप इस गाँव के एक भाग में मेरे पौत्र वज्रनाभ ने स्थापित की थी मेरी एक शिला प्रतिमा—गोवर्धनधारी श्री गोपाल मूर्ति। वह प्राचीन विग्रह आज भी लोगों की नजरों से ओझल भू-गर्भ में पड़ा है। मुसलमानों के आक्रमण के समय पुजारियों ने उसे वहीं छिपाकर रख दिया था। मेरी इस मूर्ति का उद्धार तुम्हीं कर सकते हो। तुम्हारे जैसे परम भक्त की ही सेवा अंगीकार करने की इच्छा सँजोए मैं प्रतीक्षा कर रहा हूँ। इस मूर्ति की पुनर्प्रतिष्ठा करो और अगणित मानवों का कल्याण साधित करो।"

वह दिव्य मूर्ति गायब हो गई। माधवेन्द्र का आर्तनाद और करुण क्रंदन शुरू हुआ। भूमि में लोटते, जोर-जोर से बिलखते माधवेन्द्र बार-बार कह उठते—"हे नाथ! अपने हाथ हाँड़ी लिये मुझे दूध पिलाने आए। दर्शन दिए। मेरी सेवा स्वीकार की। फिर भी यह अधम तुम्हें पहचान नहीं सका। हे दयामय, मेरा दुःख अब असह्य हो चुका है।"

थोड़ी देर बाद सहज हुए। सोचा, ऐसा करते रहने से तो प्रभु की आज्ञा का पालन नहीं होगा। अपने श्रीमुख से सेवा ग्रहण करने की बात प्रभु ने कही है और यह भी संकेत दे दिया है कि इस वन भूमि में उनका विग्रह कहाँ गड़ा है। अब सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य मेरे समक्ष यही है कि उस मूर्ति की खोज करके उसे प्रतिष्ठित किया जाय। फिर गाँव के लोगों को बुलाकर उनसे इस अलौकिक वार्ता की बात कहने लगे।

यह बात सुनकर गाँव वालों में प्रबल उत्साह का संचार हो गया। गाँवभर के लोग फरसे-कुदाल लेकर आ गए और माधवेन्द्रजी के साथ जंगल में स्थित उस कुंज की ओर चल पड़े जहाँ मूर्ति होने की बात की गई थी। वहाँ से पेड़-पौधों और लता-गुल्मों की सफाई करने के बाद खुदाई करने पर गोपाल की मूर्ति मिल गई। मूर्ति देखकर ग्रामीणों के अन्दर आनन्द का सागर हिलोरें लेने लगा। माधवेन्द्र तो प्रमत्त हो गए। उस दिन सभी लोगों ने मिलकर उत्साहपूर्वक उस मूर्ति का अभिषेक-विधान सम्पन्न किया।

माधवेन्द्रपुरी की अभिलाषा हुई कि इस अभिषेक के उपलक्ष में अन्नकूट का अनुष्ठान हो तथा वैष्णव साधुओं का भण्डारा किया जाय। महान वैष्णव संत की यह अभिलाषा पूर्ण होने में देर नहीं लगी। मथुरा के भक्त सेठों में इस कार्य के लिए होड़ मच गई। दूध, दही, आँटा, घी, चीनी आदि प्रचुर मात्रा में पहुँचने लगे। महापुरुष की कृपा से श्री गोपाल प्रकट हुए हैं, इससे उनके निर्देश के पालन में लोग उत्साह के साथ लगे हैं।

बहुत ही धूमधाम से अन्नकूट तथा भण्डारा सम्पन्न हुआ। गोपाल एक भव्य और विशाल मन्दिर में प्रतिष्ठित हुए। माधवेन्द्र की ऋद्धि-सिद्धि देखने को मिली। वह ब्रजमण्डल में सिद्ध संत के रूप में लोकप्रिय हो गए। वैष्णव समाज में उनकी कथा की चर्चा जोरों पर थी। सभी का मत था कि श्री गोपालजी ने बाबा की सेवा को स्वयं अंगीकार किया। वह कौपीन-लंगोटधारी वैष्णव निश्चित ही भक्तिसिद्ध महापुरुष हैं। इस महापुरुष के बारे में वृन्दावन दास अपने चैतन्य-भागवत में कह गए हैं—

भक्तिं रसे माधवेन्द्र सूत्रधार।
गौरचन्द्र ईहा कहिया देन बार-बार॥
(चै०भा० १/६/६१)

माधवेन्द्र का आविर्भाव बंगाल की प्रेमभक्ति के निजी ऐश्वर्य के अधिकारी के रूप में हुआ लेकिन उनकी साधना आकर मिली दक्षिणात्य आलवार के भक्ति-रस में। राधा-कृष्ण लीलातत्त्व के एक श्रेष्ठ धारक और वाहक के रूप में उनका आलोक फैला। जीवन में निगूढ़ वैष्णवीय साधना का विस्तार हुआ। ज्ञानवादी पुरी सम्प्रदाय के अंतर्भुक्त संन्यासी होने पर भी उनके अन्तर में कृष्णप्रेम-रस प्रवाहित होता रहा। भक्तशिरोमणि माधवेन्द्र ने जन चेतना को भगवत-प्रेम रस से सींचना जारी रखा।

जिस समय माधवेन्द्र बंगाल, उड़ीसा, दक्षिणात्य और ब्रजमण्डल में प्रेम-रस के साधकों की टोलियाँ कायम करने में लगे थे उस समय उत्तर भारत में रामानन्द-कबीर का प्रभाव था। लगभग पूरा देश भक्ति-आन्दोलन से प्रभावित था। इस भक्ति-आन्दोलन में माधवेन्द्रपुरी ने एक नए प्रेम-रस का संचार किया। महाप्रभु चैतन्य की प्रेम-यमुना के वृहत्तर प्रवाह में मिलकर उनका भक्ति स्रोत फलितार्थ हो गया। लाखों भक्तगण इस में अवगाहन कर धन्य हुए।

भक्तिभाव माधवेन्द्रपुरी को विरासत में मिला था। श्रीहट्ट जिले में पूर्तिपाट नाम के एक छोटे से गाँव के जिस ब्राह्मण परिवार में माधवेन्द्र का जन्म हुआ था वह धर्मप्राण ही था। उनमें असाधारण जन्मजात प्रतिभा विद्यमान थी। उपनयन संस्कार के बाद जब गाँव की पाठशाला में उनकी शिक्षा शुरू हुई तो व्याकरण, काव्य तथा धर्मशास्त्र में वे इतनी जल्दी पारंगत हो गए कि आचार्यगण आश्चर्य-चकित थे। युवा अवस्था में पहुँचते-पहुँचते माधवेन्द्र वेद-वेदांग के शास्त्रीय ज्ञान के साथ भागवत तथा अन्य भक्ति शास्त्रों में पारंगत हो गए। केवल श्रीहट्ट अंचल में ही यह वारेन्द्र ब्राह्मण थे। मूल ग्राम करजा गाँव था जहाँ कश्यप गोत्र के शुद्ध श्रोत्रिय थे। 15वीं शती में लिखे गए 'हरि चरित्र' नामक ग्रन्थ में उल्लिखित है कि ग्रंथकार चतुर्भुज के पूर्व पुरुष स्वर्णरेखा ने राजा धर्मपाल के यहाँ से वारेन्द्र

अंचल का करजा नामक गाँव प्राप्त किया था। सुराँ करजा ग्राम के श्रीपाद माधवेन्द्र भी चतुर्भुज के समान स्वर्णरेखा के ही वंशधरों में अन्यतम थे। इसके अलावा इनके वंश के सम्बन्ध में कोई अन्य जानकारी उपलब्ध नहीं हो पाई है।

माधवेन्द्रपुरी की ख्याति धीरे-धीरे पूर्वी बंगाल में फैल गई। इनके व्यक्तित्व में इतना आकर्षण था कि एक बार जो सम्पर्क में आता, मुग्ध हो जाता। शिक्षा पूरी करके अध्यापन-कार्य में लग गए थे। उनका विवाह भी हो गया और एक पुत्र-रत्न की प्राप्ति भी हुई। पुत्र जन्म के बाद अचानक पत्नी का निधन हो गया जिसका काफी सदमा माधवेन्द्र को लगा। प्राय: उदास रहने लगे। उन्होंने गंगा-तट पर निवास करने का निश्चय किया। कुण्डिया और कुमारहट्ट के बीच विष्णुग्राम था। अपने किशोर पुत्र के साथ इस स्थान पर माधवेन्द्र ने अपनी कुटी बनाई। अध्ययन-अध्यापन के लिए एक चतुष्पाठी की स्थापना हुई। आचार्य के रूप में शीघ्र ही उनकी ख्याति फैल गई। कुमारहट्ट, कांचनपल्ली से लेकर कुलीन ग्राम, शांतिपुर और नवद्वीप तक उनकी विद्वत्ता का प्रसार हो गया। स्वनामधन्य ईश्वरपुरी ने माधवेन्द्र से ही शास्त्र-ज्ञान अर्जित किया और बाद में गया धाम में श्री चैतन्य को गोपाल मंत्र की दीक्षा दी जिसके बाद उनका जीवन ही बदल गया।

माधवेन्द्र के साधन-भजन करते कई वर्ष बीत गये। इसी बीच कमलाक्ष नामक छात्र उनके सम्पर्क में आया। यह तरुण छात्र श्रीहट्ट के निकट लाउड़ परगना के नवग्राम का रहने वाला था। बाद में चलकर यही कमलाक्ष श्री चैतन्यदेव के लीला पार्षद श्री अद्वैत नाम से प्रसिद्ध हुए। गौड़ीय वैष्णवों की प्रभुत्रयी में एक प्रभु रूप में पूजित हुए।

इस बीच माधवेन्द्र में निरन्तर कृष्ण प्रेम की पिपासा जाग रही थी। यही धीरे-धीरे रागानुरागा भक्ति में परिवर्तित हो गई। भागवत उनकी साधना का आधार बना। बंगाल की जो भाव कल्पना एवं प्रेम का आवेग उनमें था वह उद्वेलित हो उठा। जयदेव, विद्यापति और चंडीदास ने जो रस की धारा बहाई थी, उसमें आकण्ठ डूब गए माधवेन्द्रपुरी। वे राधाकृष्ण के अनुष्ठान में निरन्तर भाव-विभोर रहने लगे।

एक दिन माधवेन्द्रपुरी अपने किशोर पुत्र विष्णुदास को अपने प्रिय छात्र कमलाक्ष के पास छोड़ कर भागवत धर्म-रस की तलाश में चल पड़े। विदा के समय कमलाक्ष को बुलाकर उन्होंने कहा, ''परम प्रभु का हाथ मैंने टेक लिया है। अब से मेरे नए जीवन का अध्याय शुरू हुआ है। मैंने निश्चय किया है कि अब संसार को छोड़कर कौपीन धारण कर मैं निकल पड़ूँगा। भगवान ने तुम्हें मेरे पास लाकर एक बड़ा सुयोग लगा दिया है। विष्णुदास ठहरा अबोध बालक, उसके जीवन का भार तुम्हारे ऊपर छोड़कर जा रहा हूँ। जीवन का स्वप्न यदि सफल कर सका, इष्टदेव श्रीकृष्ण के दर्शन यदि मिले, तभी मैं लौट सकूँगा।''

गुरुदेव की यह मर्मभेदी वाणी सुनकर कमलाक्ष एक बार तो तिलमिला उठे। माधवेन्द्र ने अपना सम्बोधन जारी रखा, "कमलाक्ष, मेरे जैसे दीन-हीन साधक के लिए तुम्हारी आँखों में आँसू शोभनीय नहीं। वत्स! यदि रोना ही है तो सारे विश्व के दुर्भाग्य पर रोओ। आँसू बहाना ही है तो उनके लिए बहाओ जिनके आविर्भाव के बिना कलिहत जीवों का उद्धार सम्भव नहीं। ऐसा ही रोना रोओ, ऐसा ही अश्रुजल बहाते रहो।"

"किन्तु प्रभुवर! क्या सचमुच वह साधक जन्म ग्रहण करेगा? क्या यह सौभाग्य जीवधारियों को प्राप्त होगा?" कमलाक्ष के हृदय में आशा की किरणें पनप गईं।

"हाँ वत्स! उनके आने का अवसर आ गया है।" माधवेन्द्र ने कहा, "मेरी दृष्टि में यह दिव्यता झलक रही है। उस समय मनुष्यता का चरम पतन हो चुका है। ईर्ष्या-द्वेष से पृथ्वी कलुषित हो चुकी है। उसके अवतरण का यही उपयुक्त अवसर है। किन्तु वत्स! इस सौभाग्य को शीघ्र चरितार्थ करने के पूर्व शुद्ध-सत्व साधकों एवं प्रेम-मार्गी मानवों को आगे आकर मार्ग का परिष्कार करना होगा। उनके आविर्भाव के लिए तिल-तुलसी हाथ में लेकर त्याग-समर्पण का शुद्ध संकल्प लेकर मैं भारत के हर तीर्थ में रोने-धोने के लिए प्रस्थान कर रहा हूँ। तुम भी इसी उद्देश्य को लेकर उन्हीं के लिए रोओ उनके चिरप्रतिक्षित महाप्रकाश के अवतरण को सम्भव बनाओ।"

फिर कमलाक्ष और विष्णुदास को सजल नेत्रों में छोड़कर माधवेन्द्र परम घन श्रीकृष्ण के सन्धान में निकल पड़े।

कुछ दिनों बाद दीक्षा ग्रहण के लिए माधवेन्द्र की व्याकुलता बढ़ी। लेकिन सवाल था कि किस दिव्य पुरुष से दीक्षा ले? अन्ततः पुरी सम्प्रदाय के एक संन्यासी दल के अग्र पुरुष को पाकर उनका मन-कमल खिल उठा। एक दिन शुभ मुहूर्त में इसी महात्मा के आश्रम में जाकर उन्होंने संन्यास की दीक्षा प्राप्त की। गुरु के पास कुछ दिन बिताकर वे परिव्राजन के लिए निकल पड़े। काफी दिनों तक दक्षिण भारत के तीर्थ-स्थलों का भ्रमण करते रहे। लेकिन जिस परम-ब्रह्म की प्राप्ति के लिए वह घर-परिवार छोड़ आए थे, वह नहीं मिल रहा था, इसलिए व्यग्र हो उठे थे। वे मानसिक द्वन्द्व में पड़ गए। जिस रसलोक की आकांक्षा उनके भीतर थी, उसके दर्शन क्यों नहीं हो पा रहे। भागवत का कृष्ण प्रेम उनका लक्ष्य रहा और श्रीधर स्वामी का प्रेम रसाश्रित भाष्य जीवन-पथ का परम पाथेय रहा। किन्तु ज्ञानमार्गी इस संन्यास-जीवन में उनका वह लक्ष्य, वह पाथेय क्या अपने रूप में जीवित रहा?

जीवन का वह बहुपरिचित स्वर, न जाने क्यों और कैसे भूल गया हो और जीवन के अंतर्द्वन्द्वमय संकट में आ फँसे हैं।

दक्षिण भारत का परिव्रजन करते हुए माधवेन्द्र उदीपी मठ में आ गए। मध्वाचार्य के उत्तराधिकारी साधकों का यह मठ काफी प्रतिष्ठित था। द्वैतवाद की धारा यहाँ प्रबल वेग से प्रवाहित होती रही। इस मठ के धर्माचार्य लक्ष्मीपति थे। साधक समाज में उनकी ख्याति थी। माधवेन्द्र ने इसी महात्मा के आश्रय में साधना करने का निश्चय किया। कुछ समय तक वह मध्व-सम्प्रदाय में अवस्थित रहे। आचार्य लक्ष्मीपति के निर्देशन में साधना की गहराई में डूब गए। माधवेन्द्र के अध्यात्म जीवन में नैष्ठिक भक्ति साधना के स्थान में कृष्ण प्रेम का रस-मधुर साधना-पथ आ गया और उसे ही उन्होंने अभीष्ट बना लिया।

इस समय उनके जीवन का प्रधान आकर्षण-सूत्र बना जयदेव का गीत गोविन्द और विल्वमंगल का कृष्ण कार्णामृ ग्रन्थ। इसके अतिरिक्त तमिल साधक आलवाड़ों का प्रेम धर्म और उनका निगूढ़ तत्त्वदर्शन उन्हें विशेष रूप से प्रभावित करता रहा।

कुछ दिनों के भीतर ही माधवेन्द्र का अभीष्ट सिद्ध हुआ। साधक जीवन का स्रोत शीघ्र ही आकर कृष्ण प्रेम के रस-सागर में समाहित हो गया। उन्हें प्रभु की कृपा हुई और उन्होंने उदीपी मठ त्याग दिया। रामानुराग भक्ति के जिस स्तर पर वे आ पहुँचे थे वहाँ आकर मध्व मठ के साथ रहना सम्भव नहीं रह गया था। कृष्ण प्रेम रस में वे इतने डूब गए थे कि शास्त्रीय तत्त्व चर्चा उनके लिए नीरस और अर्थहीन वस्तु बन गई थी।

भारतीय प्रेम साधना के क्षेत्र में एक जीवंत उत्स के रूप में आविर्भूत माधवेन्द्रपुरी का आचार्य जीवन इसके बाद ही प्रारम्भ हुआ। प्रेम साधना के इस उत्स से देश का विभिन्न भाग आप्लावित हुआ। इसी से अवतरित हुई चैतन्यदेव की भावमयी प्रेमगंगा। महाप्रभु स्वयं और उनके अनुयायी माधवेन्द्रपुरी के प्रति अपनी कृतज्ञता स्वीकार कर गए हैं।

माधवेन्द्रपुरी ने जिस नए जीवन-दर्शन का सूत्रपात किया उस पर उनकी निजी साधना और व्यक्तित्व की स्पष्ट छाप देखी जा सकती है। "भागवत के लीलावाद और आलवारों की साधन प्रणाली के साथ ही बंगाल की प्रेम साधना एवं युगल रूप की भजन-उपासना इन सब का वह अपूर्व सम्मिश्रण कर गए हैं।"

माधवेन्द्र के शिष्यवर्ग में परमानन्दपुरी, श्रीरंगपुरी, अद्वैत और पुण्डरीक विद्यानिधि, गौड़ीय शिष्यों में ईश्वरपुरी तथा केशव भारती प्रधान थे। अन्य शिष्यों में हैं—ब्रह्मानन्दपुरी, ब्रह्मानन्द भारती, मैथिल विष्णुपुरी, रघुपति उपाध्याय, कृष्णानन्द, नृसिंह तीर्थ, सुखानन्दपुरी, अनन्तपुरी आदि। ईश्वरपुरी और केशव भारती प्रेममार्गी संन्यांसी श्री चैतन्य को दीक्षा और संन्यास देकर इतिहास में विख्यात हो गए हैं। माधवेन्द्रपुरी के गृहस्थ बंगाली शिष्य श्री अद्वैत महाप्रभु के एक प्रधान पार्षद के रूप में गिने जाते हैं। दूसरे विशिष्ट शिष्य हैं श्रीवास पंडित

जिनके प्रभाव से चैतन्य पुत्र के पहले नवद्वीप में एक छोटा-मोटा भक्तमण्डल गठित हो चुका था।

पूर्व बंगाल में माधवेन्द्र के प्रतिनिधि थे पुण्डरीक विद्यानिधि। इन्हीं के शिष्य पं० गदाधर श्री चैतन्य के अन्तरंग भक्त थे। गदाधर से दीक्षा लेने के बाद ही श्री वल्लभाचार्य उत्तर भारत में श्री राधाकृष्ण की उपासना का विस्तार करने में समर्थ हुए।

माधवेन्द्र के एक अन्य कृपापात्र राघवेन्द्र राम रामानन्द के गुरु संकर्षणपुरी ने भी महाप्रेमिक माधवेन्द्र को गुरु के रूप में वरण किया था। माधवेन्द्रपुरी के गृहस्थ शिष्य भी अनेक हुए। माधवेन्द्र एक बार अपने शिष्य श्रीरंगमपुरी के साथ नवद्वीप आए थे। इस दौरान उन्होंने श्री चैतन्य के पिता जगन्नाथ मिश्र के घर आतिथ्य ग्रहण किया था।

माधवेन्द्रपुरी ने ब्रजमण्डल में श्रीगोपाल की सेवा में दो साल बिताए। श्रीमूर्ति के प्रकट होने के बाद दर्शनार्थियों की अपार भीड़ जुटने लगी। भोग राग चलने लगा। कहाँ से अपार भोगराग सामग्री जुटती, कोई नहीं जानता। माधवेन्द्र भावावेग और प्रेमानन्द में दिन-रात मस्त रहा करते। उन्हें यह जानने में कोई रुचि नहीं रहती कि कहाँ से श्री ठाकुर के लिए इतनी प्रचुर मात्रा में भोग सामग्री आती।

श्री गोपाल एक दिन स्वप्न में आए और क्लांत स्वर में बोले, ''पुरी गोसाईं, मेरी पूजा तो पूरे घटाटोप से करते हो, किन्तु इधर ग्रीष्म के उत्ताप से सारा शरीर जल रहा है, प्राण निकले जा रहे हैं, इसका कोई तो उपाय करो।'' श्री ठाकुर के श्रीमुख से ऐसी आर्तवाणी सुनकर माधवेन्द्र विस्मय से उनकी ओर एकटक देखने लगे। प्रभु ने पुनः कहा, ''सुनो, पुरी के मलयज चंदन लेप के बिना मेरे शरीर की यह ज्वाला शांत नहीं होगी। यह चंदन तुम्हें नीलाचल में मिलेगा। इस भयंकर गर्मी में भक्तगण दारुब्रह्म जगन्नाथ को यही चंदन चढ़ाते हैं। वही मुझे चाहिए। किन्तु और किसी को उसे लाने के लिए मत भेजना, तुम स्वयं जाकर संग्रह करो। मेरे सारे शरीर में उसका अनुलेपन कर ताप दूर करो।'' प्रभु के आदेश का पालन करने के लिए माधवेन्द्रपुरी ब्रजमण्डल से विदा हुए। वे गौड़ देश से होकर नीलाचल को चल पड़े।

उस समय अद्वैत शांतिपुर में वास कर रहे थे। उस अंचल में वे काफी लोकप्रिय हो गए थे। माधवेन्द्र सर्वप्रथम अपने इसी शिष्य से जाकर मिले। एक-दूसरे से मिलकर अद्‌भुत आनन्द की प्राप्ति हुई। गुरु में इस महापरिवर्तन से अद्वैत काफी प्रसन्न थे। एक शुभ घड़ी में पुरी महाराज से इन अद्वैत ने दीक्षा ग्रहण की। इस दीक्षा के उपरान्त भक्तिमार्ग में रोपा गया यह बीजांकुर बाद में महान अक्षयवट में परिणत हो गया।

शांतिपुर और नवद्वीप में कुछ दिन व्यतीत कर माधवेन्द्रपुरी उड़ीसा के लिए रवाना हुए। कई दिनों तक पदयात्रा करते हुए रेगुना गाँव पहुँचे। श्री गोपीनाथ की मनोहर विग्रह मूर्ति रेमुना गाँव में विंद्यमान थी। इस जाग्रत मूर्ति को देखकर माधवेन्द्रपुरी प्रेमानन्द से विह्वल हो गए। उन्होंने पुजारी को पुकार कर कहा, "भाई, गोपीनाथजी की सेवा-पूजा का यह आयोजन देखकर मैं बड़ा मुग्ध हूँ। आँखें उधर से हटती नहीं। दया करके मुझको एक बात बतलाओ, प्रभु के भोगराग में कौन-कौन से सुस्वादु पदार्थ निवेदित किए गए हैं।"

पुजारी ने मुस्कराते हुए बताया, "महाराजजी, प्रभु के भोग पदार्थों में सबसे बढ़कर है—अमृतकेली खीर। यह तो सर्वथा अमृत के समान है। रोज ठाकुरजी के सामने खीर से भरी नौ हाड़ियाँ रखी जाती हैं। ऐसा भोग पदार्थ दूसरा नहीं मिल सकता। यह हमारे गोपीनाथ की खास चीज है।" भोगराग समाप्त होने पर माधवेन्द्रपुरी मन्दिर से बाहर निकल कर गाँव के हाट में पहुँच गए।

रात हो गई थी। हाट के लोग अपने घरों को लौट गए थे। माधवेन्द्र एक सुनसान झोपड़ी में बैठ गए। वह सोचने लगे, वे अयाचक संन्यासी थे। उनके मन में अमृतकेली खीर के लिए लालच क्यों आया? इस पाप को दूर करने के लिए सारी रात जागकर प्रभु का नामगान करेंगे। काफी रात तक नामधुन चलती रही।

इधर गोपीनाथ मन्दिर के पुजारी ठाकुरजी को शयन कराने के बाद बगल की कोठरी में सोने चले गए। थोड़ी देर में ही नींद आ गई। हठात् उनके कानों में आवाज सुनाई पड़ी—"उठो, उठो, शीघ्र किवाड़ खोलो।" पुजारी हड़बड़ा कर उठ बैठे। उन्हें फिर सुनाई पड़ा—"अरे सुनो और देरी मत करो। देखो, मेरे पीताम्बर की ओट में छिपा कर रखी है एक हाँड़ी अमृतकेली खीर। यह छिपा कर रख छोड़ी है अपने प्राणप्रिय भक्त माधवेन्द्र के लिए। इस खीर प्रसाद को खाने की इच्छा उसके मन में जगी थी लेकिन संकोचवश उसने माँगा नहीं। उसकी यह इच्छा पूरी हुए बिना मुझे चैन नहीं मिलेगी। पुरी गोसाईं इस समय हाट के एक कोने में बैठा मेरा नामगान कर रहा है। उसे खोज-ढूँढ़ कर मेरा यह प्रसाद शीघ्र उसे दे आओ।"

भक्तवत्सल भगवान की यह कैसी अपूर्व लीला! यह कैसा अद्‌भुत प्रेम-रंग! पुजारी रोमांच से भर उठे। आँखें पुलकाश्रु भर आईं। वे ठाकुर के शयनकक्ष में दौड़े। देखा, सचमुच ही पीताम्बर परिधान की ओट में एक हड़िया अमृतकेली खीर छिपाकर रखी हुई है। झटपट उसे उठा कर वह हाट की ओर दौड़ पड़े। हाट में पहुँच कर जोर-जोर से पुरी महाराज को पुकारने लगे। अंततः वे मिले। प्रसाद की हाँड़ी उनके आगे रखकर पुजारी ने कहा, "महाराज, आप अद्‌भुत भाग्यवान हैं। यह देखिए, स्वयं गोपीनाथजी ने आपके लिए यह अमृतकेली खीर भेजी है। आपने खीर प्रसाद माँगा नहीं, यह ठीक है, किन्तु दयालु ठाकुरजी ने

आपके लिए स्वयं इसे छिपाकर रख लिया था। प्रिय भक्त के लिए गोपीनाथ स्वयं आज खीरचोर बने।''

प्राणप्रभु की कैसी यह लीला! गोपीनाथ के हृदय में कृष्ण-प्रेम का सागर उत्ताल तरंगों में उद्वेलित हो उठा। स्वयं आत्मविस्मृत होकर भूमि पर लोट गए। अंग-अंग सात्विक भाव के प्रेमविकार से पुलकित हो उठा। पुजारी आनन्द में भरकर सुध-बुध खो बैठा। अस्फुट स्वरों में बोलता रहा, ''पुरी महाराज, आप धन्य हैं! आपकी प्रेमभक्ति सार्थक है। कृष्णभक्ति की साधना अनन्य है। आपके लिए प्रभु गोपीनाथ क्यों खीर चुराने के लिए विवश हुए, अब यह समझ में आ रहा है।''

जब माधवेन्द्र प्रकृतिस्थ हुए तो पुजारी ने साष्टांग दण्डवत किया और प्रसाद की हांड़ी उनके समक्ष रख दी। माधवेन्द्र का सारा शरीर थर-थर काँप रहा था और आँखों से अश्रुधार बह रही थी। महावैष्णव प्रेमावेश में कहे जा रहे थे— ''हे प्राणनाथ, हे दीनदयाल! अपार है तुम्हारी कृपा, प्रभु! इस अधम के लिए तुमने आप ही आप प्रसाद चुराये! इतना ही क्यों? वाहक द्वारा इस घोर निशीथ में भिजवा भी दिए।''

माधवेन्द्रजी ने प्रसाद ग्रहण किया और हँड़िया के टुकड़े-टुकड़े करके अपनी चादर में बाँध लिया। स्नान और भोग-राग के बाद इन टुकड़ों का एक कण नित्य अपने मुँह में डालते और दिव्य प्रेम में उन्मत्त हो जाते। हँसते-रोते, नाचते-गाते और श्रीकृष्ण के प्रेमरस से सराबोर हो जाते।

रेमुना से चलकर माधवेन्द्र नीलाचल आ गए। दीर्घ परिव्राजन के बाद भगवान जगन्नाथजी के दर्शन का सौभाग्य मिला। माधवेन्द्रपुरी असीम प्रेम भाव में विभोर होकर सुध-बुध खो बैठे। भक्ति और प्रेम की इस पराकाष्ठा को देखने का जिसे एक बार भी सौभाग्य मिला वह विस्मयग्रस्त हो उठा। भक्तिनिष्ठ महापुरुष माधवेन्द्र के आने की खबर चारों ओर फैल गई। भक्तों की भीड़ माधवेन्द्रजी के दर्शन को उमड़ पड़ी। जगन्नाथपुरी के पंडे, राजा के अनुचर तथा अन्य दर्शनार्थी आते रहते। पुरी महाराज श्री गोपालजी के लीला विलास की कथा कहते, ''भाई लोग हमारे गोपाल का आग्रह है कि वह जगन्नाथजी की भाँति चंदन और कर्पूर से अपने अंग को अनुलिप्त करेंगे। यह सब होना चाहिए इसी पवित्र क्षेत्र के जंगल में की उपज से। आप सब कृपा करके हमारे लिए इसका उपाय कर दो। मेरी मुख-लज्जा की रक्षा करो।''

देखते ही देखते चंदन और कपूर का ढेर लग गया। इसके बाद इन वस्तुओं को ढोने वाले कहारों के साथ पुरी महाराज वृन्दावन के लिए रवाना हो गए। अभी वे रेमुना तक ही पहुँच पाए थे। वृन्दावन काफी दूर था। एक रात प्रसाद ग्रहण के उपरान्त पुरी महाराज जगमोहन के कमरे के एक कोने में सो गए। रात्रि में उन्होंने

एक स्वप्न देखा। ज्योतिर्मय मूर्ति से निकलकर त्रिभंग बंकिम रूप में गोपाल उनके सम्मुख खड़े हैं। वे मधुर-मधुर मुस्कराते हुए कह रहे हैं, ''वत्स माधवेन्द्र। तुम्हें अधिक दौड़-धूप करने के लिए बाहर नहीं जाना है। तुम्हारे द्वारा लाये गए चंदन और कर्पूर वृन्दावन में मेरे पास पहुँच गए हैं।'' गोपाल आगे कहते हैं, ''यह क्या! सब तो मुझे प्राप्त हो गया है। क्या इसका विश्वास नहीं हो रहा है ? तब सुनो। गोपीनाथ का और हमारा एक ही विग्रह शरीर है। जो मैं वृन्दावन में हूँ वही रेमुना में भी हूँ। तुम गोपीनाथ के अंग में नित्य चंदन-कर्पूर का अनुलेपन करो, हमारी देह शीतल होगी। मन में संशय, दुविधा मत करो।''

भोर होते ही पुरी महाराज ने मन्दिर के सेवकों और भक्तों को बुलाकर उन्हें स्वप्न में सुनी गई बातों से अवगत कराया। स्वयं प्रभु की आज्ञा हुई है, और वह भी प्रेम-भक्ति-सिद्ध पुरी गोसाईं के मुख से, सभी ने उल्लास के साथ यह कथा मान ली। अतएव, निष्ठावान सेवक द्वारा प्रतिदिन श्रीगोपाल के विग्रह को कर्पूर-चंदन का अनुलेपन चलने लगा। गर्मीभर माधवेन्द्रपुरी रेमुना में ही प्रभु की सेवा करते रहे। उसके बाद फिर नीलाचल लौट गए।

भक्तशिरोमणि माधवेन्द्रजी की अमृत कथा आगे चलकर श्री चैतन्य के श्रीमुख से बहुधा सुनने को मिला करती। पुरी महाराज का अपूर्व प्रेमोन्माद और अष्ट सात्विक विकार की बात सुनकर भक्तों के विस्मय की सीमा नहीं रहती।

संन्यास ग्रहण करने के बाद महाप्रभु नीलाचल जाते समय रेमुना पधारे थे। यहाँ प्रवास के दौरान पुरी महाराज की स्मृति और गोपीनाथ की लीलारंग-कथा उन्हें बार-बार स्मरण हो आती। भक्तकवि कृष्णदत्त कविराज ने बड़ी ही श्रद्धा के साथ इसका उल्लेख किया है—

प्रभु कहे नित्यानन्द करह विचार।
पुरी सम भाग्यवान् जगते नहिं आर॥
दुग्धदानच्छले कृष्ण यारे कृपा कैला।
यार प्रेमेवश इआ प्रगट हइला॥
सेवा अंगीकार करि जगत तारिला।
यार लागि गोपनीय क्षीर चूरि कैला॥
कपूर चन्दन चार अंगे चरवाइला।

(चैतन्य चरितामृत, मध्य-४)

वैधी भक्ति का अनुसंधान करते हुए माधवेन्द्र ने जीवन-साधना शुरू की। उत्तरकालिक जीवन में वही उन्हें रागानुगा प्रेम रसाश्रित भक्ति की चरम साधना तक पहुँचा गई। भागवत द्वारा प्रचारित प्रेमरस की साधना में वे लीन हुए। अपूर्व महिमा-मण्डित उनका जीवन सार्थक हो उठा। श्री चैतन्य देव को माधवेन्द्र के

परम शिष्य राय रामानन्द के मुख से भक्ति धर्म का पूर्णांग परिचय प्राप्त हुआ। एक बार महाप्रभु ने पुरी धाम पर सार्वभौम से कहा था—"दक्षिणात्यदेश जाकर नाना पंथों, नाना धर्म-सम्प्रदायों का परिचय प्राप्त हुआ उनके सम्पर्क-संसर्ग में आया भी, पर इनमें राय रामानन्द का ही मतवाद मुझे श्रेष्ठ प्रतीत हुआ। राय रामानन्द के मुख से जिस साध्य-साधना की व्याख्या सुनकर महाप्रभु मुग्ध हुए थे वह माधवेन्द्रपुरी द्वारा प्रवर्तित प्रेम साधना का ही परम तत्त्व था।"

परन्तु माधवेन्द्रपुरी के मन में एक प्रश्न बार-बार कौंधता रहा। क्या प्रभु का प्रत्यक्ष आविर्भाव वह कर पाएँगे? इसके लिए कुछ करना चाहिए। यह सोच कर माधवेन्द्रपुरी झारखण्ड के सघन वन में कठोर तपस्या करने लगे। श्रीपाद के ही निर्देश से इसी दिशा में उनके सर्वाधिक प्रिय शिष्य अद्वैत आचार्य उसी समय शांतिपुर में रहकर आकुल प्राणों से प्रार्थना किया करते—"हे कलुषहारी प्रभु! एक बार आइए, भू-भार हरण के लिए आप अवतार ग्रहण कीजिए।"

गौड़ीय सम्प्रदाय के वैष्णव कवियों के मतानुसार आचार्य माधवेन्द्रपुरी का संकल्प सिद्ध हुआ। नवद्वीप में आकर वह नवजात गौर-सुन्दर के दर्शन कर गए।

माधवेन्द्रपुरी अब पूर्णकाम हो चुके थे। उनके जीवन की सारी आकांक्षाएँ पूरी हो चुकी थीं। महाभागवत के इस नश्वर जीवन के महाप्रयाण की तैयारी शुरू हो चुकी थी। एक दिन अपने प्रिय शिष्य मैथिल ब्राह्मण परमानन्द को बुलाकर कहा, "मेरे विदा होने के दिन अब आ गए हैं। किन्तु मेरे लिए तुम शोक मत करना। आनन्द मनाना। तुम बड़े भाग्यवान हो। परम प्रभु के आविर्भाव की आलोक-छटा देख पाओगे और धन्य होओगे। मैं विधाता के विधान से पहले ही चल बसूँगा।" माधवेन्द्रपुरी के शेष दिन अपूर्व भावावेश में बीत रहे थे। प्रतिदिन शिष्यगण आकर उनकी कृष्ण-विरह-विदग्ध मूर्ति के दर्शन करके अभिभूत हो रहे थे।

काफी समय बाद वे अर्धचेतना में लौटे थे। व्याकुल होकर रोने लगे, "कहाँ हो कृष्ण? कहाँ हो कृष्ण? कहाँ हो हमारे प्राण प्रभु? दयामय, कृपा कर इस अभाजन के प्राण बचाओ।" महाभक्त माधवेन्द्र के इस विलाप का रहस्य कौन समझ सकता था? कभी वह कृष्ण रस के महासागर में डूब जाते, कभी तैरने लगते। कभी जब बाहर तैरने की चेतना आती तो डूबने के लिए फिर रो उठते।

रामचन्द्रपुरी माधवेन्द्र के अनन्य शिष्य थे। ज्ञानमार्गीय वैधी भक्ति-साधना की ओर उनका अधिक झुकाव था। अन्तिम शैया पर गुरुदेव की इस विरह-लीला को देख कर एक दिन पूछ बैठे—"प्रभु, क्यों इस तरह रो-रोकर आप व्याकुल हो रहे हैं? अस्वस्थ शरीर को और अस्वस्थ क्यों बना रहे हैं? आप जैसे ब्रह्मज्ञानी को यह रुदन शोभा नहीं देता। पूर्ण ब्रह्मानन्द का स्मरण करें, हृदय का ताप-दुःख सब दूर हो जाएगा। आप स्वस्थ हो उठेंगे।"

श्रीपाद क्रोधावेश में गरज उठे, "अरे, तुम महापापी हो, कृष्ण प्रेम की रीति तुम क्या जानो। कृष्णप्रेम और कृष्णलीला की सीमा कहाँ है रे? हृदय मंच पर प्रभु को स्थापित कर लिया है। बुभुक्ष भोगने का इच्छुक हो उठा हूँ—रसराज की नवीन शिलाएँ देखने के लिए। अपनी रहन-ज्वाला में खुद-ब-खुद दग्ध हो रहा हूँ। हमारा हृदय जल-जल कर खाक बनता जा रहा है और तुम हतभागे मुझे और मारने पर उतारू हो गए हो? दूर हटो, तुम्हारे जैसे पाखण्डी का मुख देखने से मेरा परलोक नष्ट हो रहा है।"

रामचन्द्रपुरी गुरु के पास से चले गए और गुरु की सेवा का दायित्व ईश्वरपुरी ने सम्हाला। ईश्वरपुरी की सेवा से माधवेन्द्र परम सन्तुष्ट थे। शिष्य से श्रीकृष्ण लीला और श्रीकृष्णनाम का जाप सुनते और शिष्य पर आशीर्वाद और अभयवाणी की वर्षा करते।

महाप्रयाण से एक दिन पूर्व की बात है। श्रीपाद ने स्नेहपूर्वक सेवकों एवं भक्तों को पास बुलाया। बोले, "वत्स, अब मेरा समय पूरा हो चुका है। जाने के पहले अंतःकरण से आशीर्वाद देता हूँ, प्रकृत कृष्ण-प्रेम तुम्हारे हृदय में उपजे और श्रीकृष्ण को प्राप्त होओ।" उत्तर काल में श्रीपाद के इसी आशीर्वाद के सागर में डूब कर मेमदेव श्री चैतन्य महाप्रभु धन्य हुए।

श्रीपाद की रस-लीला का परदा गिरने वाला था। शिष्य और भक्तगण उन्हें घेरे हुए खड़े थे। सभी की आँखें सजल थीं। महापुरुष माधवेन्द्रपुरी के मधुर कण्ठ से उच्चरित हो रहा था उनका स्वरचित श्लोक—

अपि दीन दयार्द्र नाथ हे,
मथुरा नाथ कदाव लोक्यमे।
हृदयं त्वदनवलोक-कातरं,
दयित भ्राम्यति किं करोम्यहम्॥

अर्थात हे दीनदयालु, हे नाथ, हे मथुरानाथ! कब तुम मुझे अपने दर्शन दोगे? तुम हमारे चिर-प्रिय हो—प्राणों से भी बढ़कर प्रियतर। तुम्हारे दर्शन न मिलने के कारण हमारा हृदय कातर हो उठा है। भ्रममयी दशा में गिरा हुआ हूँ। इस समय मैं क्या करूँ? तुम्हारे सिवा मेरा कोई सहारा नहीं।

कृष्ण भक्तों में यह श्लोक इतना लोकप्रिय हुआ कि स्वयं महाप्रभु चैतन्य भी इस चिर विरहमूलक श्लोक को दुहराते-दुहराते प्रेमोन्मत्त हो उठते थे। अश्रु-कम्प-स्तम्भ वैवर्ण्य जैसे आठो सात्विक विकार उनके शरीर में देखकर भक्तगण विस्मय से भर उठते।

माधवेन्द्र के इस श्लोक की प्रशंसा करते हुए दार्शनिक कवि कृष्ण लिखते हैं—

रत्नगण मध्य जद्दे हय कौस्तुभ भवि।
रस-वाक्य मध्ये तैछे एइ श्लोक गणि॥
एइ श्लोक कहियाछेन राधा ठकुराणी।
तार कृपाय कुरिपा छे माधवेन्द्र वाणी॥
किंवा गौरचन्द्र इहा करे आस्वादन।
इहा आस्वादिते अधिकारी नाहिं ठोठजन॥

(चै०च० मध्य-४)

"माधुर्यमूर्ति कृष्ण के माधुर्य रस का अंत नहीं, रूपैश्वर्य की भी सीमा नहीं। उसी प्रकार उनके प्रेमिक भक्त के भी रस भोग की समाप्ति नहीं। यह रस जितना आस्वादित होगा, उतना ही उसका उत्स फूटता आएगा।

अनादि अनन्त माधुर्य विग्रह का आस्वादन भी अनादि अनन्त ही है। इसी से महाप्रेमिक माधवेन्द्र की यह कृष्णार्ति है! इस प्रकार का विरह-उत्ताप और इस तरह का दारुण दहकता हुताश!"

"अपि दीन दयार्द्र" बोलते-बोलते श्रीपाद ने अपनी आँखें बन्द कर लीं। रागानुभा भक्ति साधना का अनन्यतम ज्योतिर्मय नक्षत्र हमेशा-हमेशा के लिए अस्त हो गया।

कविराज गोस्वामी द्वारा रचित ये पंक्तियाँ आज भी प्रेमभक्तिमय साधकों की चेतना को झकझोरती रहती हैं—

पृथिवी ते रोपण करि
गेला प्रेमाङ्कुर।
सेई प्रेमाङ्कुर वृक्ष।
चैतन्य ठाकुर॥

●

नंगा बाबा

पुरी तीर्थ में असंख्य स्थानों पर मठ-मन्दिर, आश्रम तथा साधनापीठ स्थित हैं। इनमें गिर्नारी बन्ता स्थित नंगा बाबा का आश्रम बिल्कुल आडम्बररहित है किन्तु है साधारण। गिर्नारी बन्ता लोकनाथ शिव के निकट बालू के एक टीले पर स्थित है। इस टीले का प्राचीन माहात्म्य है। पौराणिक युग का साक्षी है यह टीला। एक कथा के अनुसार राजा इन्द्रद्युम्न ने जब देवताओं के आदेश से नीलाचल नाथ का बालुका स्तूप से उद्धार किया था, उस समय खुदाई की गई बालुका राशि का कुछ अंश इस गिर्नारी बन्ता पर डाला गया था। इसी कारण यह टीला उनके लिए एक असामान्य एवं परम पवित्र वस्तु है।

इसी पवित्र बालुका राशि पर अवस्थित है एक साधारण-सा आश्रम जिसके एक कक्ष में विराजमान थे आत्मज्ञानी महासाधक नंगा बाबा। जटाजूटधारी महाकाय संन्यासी एकदम दिगम्बर थे। अजानुलम्बित दोनों हाथों को आँखों पर स्थापित करके, व्याघ्रचर्म के ऊपर सुखासन में ध्यानस्थ। ये भीमकाय संन्यासी अद्वैत वेदान्त सिद्धि के एक अमूर्त विग्रह और साक्षात शिव थे। इस आश्रम में बाबा के अलावा सिर्फ उनके दो-तीन सेवक ही रहते थे। यदि कोई दर्शनार्थी भूले-भटके आ जाता और बाबा के पास ज्यादा समय तक बैठा रह जाता तो बाबा कहते, ''हाँ, हाँ, दर्शन हो गया, अब चले जाओ। शहर में जाकर मन्दिर-वंदिर देखो।'' इसके बाद भी यदि कोई भक्त बैठा रह जाता तो बाबा सेवक-संन्यासी ज्ञानानन्द को बुलाकर कहते, ''ज्ञाना, ब्रह्मज्ञान की किताब ले आओ।'' और ज्ञानानन्द वेदान्त अथवा पंचदशी का पाठ आरम्भ कर देते। शुष्क तत्त्व विचार शुरू होते ही अवांछित दर्शनार्थीगण बाबा के पास से खिसक जाते। लेकिन बाबा उस दर्शनार्थी पर कृपालु हो उठते जिसमें उन्हें त्याग और वैराग्य की भावना दिखाई देती।

पुरी धाम का श्मशान, समुद्रतट और गिर्नारी बन्ता के आश्रम में नंगा बाबा कुल मिलाकर पचास वर्षों तक रहे। इस अवधि में जिन्हें बाबा के दर्शन का सौभाग्य प्राप्त था वे सभी एक स्वर में यही कहते हैं, ''आधी शताब्दी की लम्बी अवधि में इस महापुरुष के चेहरे में उन्हें कोई विशेष परिवर्तन नहीं नजर आया।'' वेदान्ती, योगी, तांत्रिक, वैष्णव—किसी भी पंथ के अनुयायी हों, सभी की श्रद्धा समान रूप से बाबा के प्रति रही। परन्तु बाबा अत्यधिक आत्मगोपनशील थे। वे

अपने बारे में कभी कुछ भी नहीं बताते थे। इसीलिए साधकों और गृहस्थों के लिए नंगा बाबा हमेशा एक रहस्य बने रहे। दैवयोग से एक ऐसा सुयोग आया जब बाबा के बारे में कुछ जानकारी उपलब्ध हो पाई।

१९४७ की सर्दियों में पुरी में एक ब्रह्मविद महायोगी का आगमन हुआ। प्रसंगवश उन्होंने एक दिन नंगा बाबा के सम्बन्ध में कुछ तथ्यों से परिचय कराया। उन्होंने कहा, ''नंगा बाबा का शरीर पंजाबी है, और यही है इतिहास-ख्यात महावेदान्ती तोतापुरी महाराज जिन्होंने दक्षिणेश्वर में श्री रामकृष्ण को दीक्षा दी थी।''

''फिर इन महात्मा की अवस्था कितनी है?'' जिज्ञासुओं ने यह सवाल करते हुए कहा, ''श्री रामकृष्ण के साथ तो तोतापुरी का साक्षात १८३२ में हुआ था। उस समय पुरी महाराज की अवस्था साठ के लगभग रही होगी। रामकृष्ण की जीवनी में लिखा गया है कि तोतापुरीजी ने करीब ४० साल तक अद्वैत वेदान्त की कठोर साधना की थी। यदि नंगा बाबा ही तोतापुरी हैं तो इस समय उनकी अवस्था निश्चित रूप से डेढ़ सौ साल तो होगी ही।''

''इससे भी अधिक। लगभग ढाई सौ वर्ष।''

''वर्तमान समय में इतनी आयु की बात तो हम सोच भी नहीं सकते।''

''इसमें अचरज की क्या बात है? इनके जैसे विराट महापुरुष योग और वेदान्त के पारंगत महात्मा हिमालय के नीचे अर्थात मैदानों में कम ही रहते हैं। ये लोग शरीर के क्षय, क्षति तथा परिणति को स्तंभित करके चार-पाँच सौ वर्ष तक जीवित रह सकते हैं, यह कोई असम्भव बात नहीं है।''

''प्रभु, आपने जो कहा, इसमें सन्देह नहीं, परन्तु यह अजीब लगता है कि तोतापुरी महाराज जीवित हैं और रामकृष्ण मण्डली के साधकगण भी इन श्रद्धेय परम गुरु का पता नहीं जानते।'' एक भक्त ने प्रश्न किया।

''पुरी महाराज ने स्वयं अपनी इच्छा से अपने अतीत के सारे अध्यायों को जन स्मृति से विलुप्त कर रखा है। इसी कारण किसी के लिए यह साध्य नहीं है कि उनके सम्बन्ध में अनुसंधान के लिए अग्रसर हो सके अथवा उन्हें खोज सके।''

इसके बाद योगिराज ने प्रसंग बदल दिया और इससे आगे कोई जानकारी भक्तगणों को नहीं मिल सकी।

काशी के निकट बनपुरवा में रह रहे ब्रह्मविद साधक वीतराग बाबा ने १९६० में नंगा बाबा की आयु के बारे में बताया था कि वे जब सत्रह-अठारह वर्ष के थे, उस समय नंगा बाबा की उम्र काफी अधिक थी। सुना था कि उनका शरीर पंजाबी है। काशी में रहते हुए वे शहर से दूर निवास करते और कभी-

कभी नाव द्वारा उनके गुरु के आश्रम में आते रहते। वे हर समय नग्न रहते। वे विराटकाय शक्तिमान महात्मा थे। काशी के प्रत्यक्षदर्शियों ने उस समय यानी १९६० में अनुमान लगाया था कि नंगा बाबा १९० वर्ष के रहे होंगे। इस प्रकार वे ढाई सौ वर्ष की उम्र तक तो जीवित ही देखे गए।

नंगा बाबा का परिचय भी हठात् मिल गया। आश्रम कक्ष का वेदान्त पाठ तथा व्याख्या समाप्त हो चुकी थी। बाबा ने कहा, "हमारा एक ठो बात तुम लोग हर बखत याद रखो। वेदान्त का विचार है, सबसे बढ़िया साधना। कलियुग के लिए यह साधना बहुत उपयोगी है। वेदान्त है, एक अच्छावाला सेतु। इसके ऊपर से एक चिंउटी भी नदी पार कर सकती है।"

"बाबा, आधुनिक काल में वेदान्त के लिए सबसे अधिक कार्य विवेकानन्द ने किया है न?" एक भक्त ने उत्सुकतावश पूछा।

"हाँ, हाँ, वह वेदान्त के प्रचार में एक बड़े कर्मी थे।"

"ऐसा क्यों बाबा, यह बात कहना क्या उचित है?" विस्मित स्वर में एक भक्त ने कहा, "स्वामीजी ने शिकागो के धर्म सम्मेलन में जाकर विश्व के श्रेष्ठ ज्ञानी-गुणी लोगों के बीच वेदान्त की ध्वजा फहराई है तथा पश्चिमी देशों में वेदान्त के बीज का रोपण कर गए हैं। यह क्या एक विराट कार्य नहीं है?"

"लेकिन इस कर्म के बीज से पेड़ कैसे हुआ बताओ?" मृदु हँसी के साथ बाबा ने कहा, "आत्मज्ञान का लेक्चर देने की क्या जरूरत है? और वह लेक्चर सुनने से भक्तों को आत्मज्ञान कैसे हो जाएगा, यह भी मुझे समझाय दो।"

"बाबा, आप जो भी कहें, बाबा एक विराट कीर्ति कर गए हैं। इसके अलावा उनके गुरु श्री रामकृष्ण? वे भी तो एक विश्वविख्यात महासाधक हैं, जो कि अध्यात्म साधना के उच्चतम शिखर पर अधीष्ठित थे।"

"हाँ, हाँ वे देवी काली के श्रेष्ठ भक्त थे।"

कलकत्ते के एक विशिष्ट भक्त पास ही बैठे थे। यह बात वे जानते थे कि नंगा बाबा ही महावेंदान्ती तोतापुरी हैं और उनके ही समीप श्री रामकृष्ण परमहंस ने दीक्षा ली थी। इस प्रसंग का लाभ उठा कर उन्होंने सीधा प्रश्न करना शुरू किया—

"अच्छा बाबा, आप कलकत्ता गए हैं? दक्षिणेश्वर को क्या पहचानते हैं? क्या वहाँ आप ठहरे है?"

"सागरतीर्थ के रास्ते में कई दफा तो मैं कलकत्ता गया रहा। दक्षिणेश्वर भी एक दफे ठहरा था।" बाबा ने उत्तर दिया।

"बाबा, क्या आपने श्री रामकृष्ण को संन्यास की दीक्षा दी थी? कृपा कर सारी बातें खोलकर बताइए।"

"वैसे तो और गृहस्थों को भी मैंने दीक्षा दी है। लेकिन संन्यास किसको दिया, बताओ।"

भक्त जब फिर प्रश्न करने को उद्यत हुआ तो नंगा बाबा से तिरस्कार से कहा, "यह खबर मिलने से तुम्हारा क्या फायदा, बताओ। ब्रह्म-ज्ञान तुमको मिल जाएगा?"

बाबा का यह कठोर-भाव देखकर भक्तगण चुप हो गए।

एक भक्त साधक बाबा के दर्शन के लिए आए। बाबा से उनका स्नेहपूर्ण सम्पर्क हो गया। उन्होंने एक दिन बाबा से पूछा, "बाबा, आपके सम्बन्ध में कई तरह की चर्चाएँ होती रहती हैं। सच बताइए कि आप ही ठाकुर श्री रामकृष्ण के वेदान्त साधना के गुरु तोतापुरी महाराज हैं?"

बाबा सहज बने रहे। उन्होंने थोड़ी देर बाद कहा, "हाँ रे, इतनी छोटी-सी बात सुनने के लिए तुम कलकत्ता में इतना कष्ट करके आया है। इस खबर को मिल जाने से तुम्हारा कोई फायदा होगा?"

आश्रम के विशिष्ट उड़िया भक्त मजू बाबू जो बाद में शंकरानन्द के नाम से जाने गए, बड़े ही कर्मनिष्ठ व्यक्ति थे।। एक बार कुछ भक्तों के साथ मिलकर उन्होंने निश्चय किया कि बाबा की जीवनी का संकलन किया जाय। साहस करके उन लोगों ने यह प्रस्ताव बाबा के समक्ष रखा। बाबा ने गुरु गम्भीर वाणी में कहा, "हाँ, हाँ, हमको तुम लोग जीव समझो तो जीवनी लिखो, कोई हर्ज नहीं।"

उनका संकेत इस बात की ओर था कि जो आत्मज्ञान के आलोक स्तम्भ के रूप में सर्वदा दीप्तिमान है, जो शिवत्व में चिर प्रतिष्ठित है, उनको जीव के रूप में ज्ञात करना तथा उनके जीवन के तथ्य संकलन करना कोई युक्तिसंगत बात नहीं है।

बाबा की बातें सुनकर भक्तगणों की चेतना जागृत हुई। वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि ब्रह्मविद महात्माओं की जीवनी संकलन असम्भव है। उनके निकटस्थ भक्तगणों के माध्यम से उनके अलौकिक रूप का अंकन ही हो सकता है।

एक बार एक भक्त ने नंगा बाबा से उनकी उम्र के बारे में जिज्ञासा प्रकट की। बाबा ने गम्भीरतापूर्वक उत्तर दिया, "आत्मज्ञानी साधक का जीवन-मरण क्या कुछ है? हमारा तो जन्म ही नहीं हुआ। उमर कैसे बता सकता हूँ?"

गिर्नारी बन्ता के आश्रम में प्रवास के दौरान उनके सबसे निकटस्थ सेवक रहे ज्ञानानन्द कहा करते—"बीच-बीच में विभिन्न प्रकार के साधु-सन्तों के दल आश्रम में अतिथि रूप में आते रहते। इनमें संन्यासी भी होते, कबीरपंथी भी और उदासी भी। उत्तर भारतीय भी होते, और आंध्र, तमिलनाडु तथा केरल के भी। विचित्र बात यह थी कि बाबा सभी से उनकी मातृभाषा में ही बात करते। इसी से

ज्ञात होता है कि बाबा ने पूरे भारत का परिव्राजन किया है और बहुत-सी भाषाओं पर उनका पूरा अधिकार हो गया है। अतिथियों के आदर-सत्कार में बाबा कुछ भी उठा नहीं रखते। कुछ तो वेदान्तिक संन्यासी थे, परन्तु उच्च कोटि के अवैदान्तिक साधु-संतों के साथ उत्साह के साथ मिलते।''

ज्ञानानन्द ने नंगा बाबा के पहले के शिष्यों को आश्रम में आते नहीं देखा था। बाबा अपने शिष्य को एक बार साधना-पथ पर प्रतिष्ठित करने के बाद उससे निर्लिप्त हो जाते। बाबा का एक बार स्पर्श तथा कृपा ही इन नवीन साधकों के लिए पर्याप्त होता था। माया-मोह से मुक्त इन आत्मज्ञानी महासंन्यासी अपने शिष्यों के सम्बन्ध में सर्वदा निरासक्त रहते थे।

पुरी तीर्थवास के आरम्भिक दिनों में नंगा बाबा सागर तट पर स्थित श्मशान के पास रहते थे। नंग-धड़ंग महाकाय महापुरुष प्रायः अपनी मौज में ध्यानस्थ तथा समाहित रहते। दो-चार स्थानीय भक्त उनकी सेवा में लगे रहते। सारा दिन ध्यानस्थ रहने के बाद शाम को एक सेर दूध और दो डाभ आहार के रूप में ग्रहण करते। मधुसूदन ग्वाले की कुटिया श्मशान के पास ही थी। रोज शाम होते ही एक सेर दूध बाबा की सेवा में लेकर उपस्थित होता। उसके साथ उसका पुत्र वंशीधर भी रहता। वह सुगंधित पुष्पों की माला ले आता और बाबा के गले में डाल कर साष्टांग प्रणाम करता। वह जन्मांध था। डॉक्टरों ने जवाब दे दिया था कि अब उसे ज्योति नहीं मिल सकती। एक दिन मधुसूदन ने अपने पुत्र को सिखा दिया था कि वह बाबा के गले में माला डालने और दण्डवत करने के उपरान्त अपने जन्मांध होने की बात उन्हें बताए और ज्योति के लिए प्रार्थना करे। वंशीधर ने वैसा ही किया। उसने आर्त स्वर में कहा, ''बाबा, मैं जन्मांध हूँ। आप स्वयं भगवान हैं। आप एक बार आँखें खोलकर मेरी दुर्दशा देखें तथा मेरे ऊपर कृपा करें। आपके अलावा मुझे और किसी का आसरा नहीं है।''

यह आर्तनाद सुनकर नंगा बाबा की आँखें खुलीं। उस समय सौभाग्य से मन के द्वार खुले हुए थे। वंशीधर की अंधी आँखों की ओर देखते ही वे करुणा से विचलित हो उठे। व्याकुल स्वर में महापुरुष कह उठे, ''हाँ रे, तुम आँखें तो खोलो। देखो, अब तुम अंधे नहीं हो। तुम्हारी आँखों में पूरी दृष्टि आ गई है।''

''हाँ बाबा, ऐसा ही है, ऐसा ही है।'' वंशीधर चीख उठा। उसके नेत्रों से आनन्द के आँसू बहने लगे। वह कहने लगा, ''कितना सुन्दर! कितना सुन्दर! जो कुछ देख रहा हूँ, सभी अपूर्व सुन्दर है।'' वंशीधर के आनन्द की सीमा नहीं रही। इस आनन्द के अतिरेक में वह रो उठता। कभी-कभी बाबा के चरणों पर लोटने लगता। उसके सामने सृष्टि के सुन्दरतम दृश्य उपस्थित थे। उसका पिता मधुसूदन विस्मय से जड़ बना बाबा के समक्ष हाथ जोड़े खड़ा है।

एक माला वंशीधर के माथे पर रखकर बाबा ने हँसते हुए कहा, ''हाँ, हाँ, तुम अभी घर चले जाओ। एक और भी अच्छी माला लेकर आना।''

कई वर्ष बाद नंगा बाबा दक्षिण भारत के परिव्राजन के लिए निकल पड़े। दक्षिण-भ्रमण से लौटे तो पुरी के समुद्रतट पर १९२० में फ्लैग स्टाफ के पास कासिम बाजार के भवन के सामने बालू के ऊपर ही उन्होंने आसन लगाया। भीषण गर्मी में भी गर्म बालू पर सोए रहते। चाहे वर्षा हो, या प्रचण्ड आँधी, उनका आसन बालू पर ही लगा रहता।

पुरी आने-जाने वालों का इस रास्ते गुजरना होता। वे इस जटाजूटधारी, विशालकाय अलौकिक महापुरुष के समक्ष श्रद्धावनत होते और चले जाते। प्रत्यदर्शी भक्त श्री कुमुदबन्धु सेन ने उस समय की एक घटना का उल्लेख 'पुरी धामे न्याँगटा बाबा' में किया है—

पुलिस सुपरिंटेण्डेण्ट ने मजिस्ट्रेट के पास बाबा के विषय में रिपोर्ट भेज दी थी। ''जन-साधारण के समक्ष दिन में साधु नग्न अवस्था में बैठा रहता है, यह देखने में वीभत्स लगता है, साथ ही यह भद्रता के विपरीत है। और यह गैर-कानूनी है, विशेषकर सागर-कूल पर पर्यटक, साहेब-मेम लोग बीच-बीच में घूमने आते हैं तथा सभी दृश्यों का फोटो भी खींच लेते हैं। इसलिए साधु को इस स्थान से हटा देना ही उचित है।''

मजिस्ट्रेट नंगा बाबा के बारे में बहुत कुछ सुन चुका था। कई दिन पहले उनकी पत्नी नंगा बाबा का दर्शन करके गई थीं। एक दिन मजिस्ट्रेट स्वयं आए। महात्माजी शिव की तरह बैठे हुए थे। उनके बैठने की भंगिमा ऐसी थी कि निम्नभाग की नग्नता ढँक गई थी। उनके उज्ज्वल नेत्रों की ओर देखने मात्र से सिर अपने आप नत हो जाता था। मजिस्ट्रेट दर्शन से मुग्ध हो गए और श्रद्धापूर्वक प्रणाम निवेदित किया। बाबा ने स्नेहपूर्ण शब्दों में कहा, ''हमारी माई आपकी जनाना यहाँ आई थी। लड़के का इम्तहान था। वह अच्छी तरह पास करे—इसके लिए मुझसे बहुत आरजू की थी। लड़का अच्छी तरह पास हो गया न?''

''हाँ, बाबा। आपकी शुभेच्छा से बहुत अच्छी तरह पास हो गया है। अब उसको बाहर भेज रहा हूँ सिविल सर्विस की परीक्षा देने के लिए। वह जल्दी ही यहाँ आ जाएगा। कुछेक दिन हम लोगों के साथ रहकर वह विलायत चला जाएगा।''

नंगा बाबा मौन हो गए। उनके पास कुछ देर और रुकने के बाद मजिस्ट्रेट अपने बँगले पर चले गए। एक-दो दिनों के भीतर ही मजिस्ट्रेट का लड़का घर आया। दूसरे दिन उसे लेकर मजिस्ट्रेट और उनकी पत्नी नंगा बाबा के यहाँ गए। बाबा को सभी ने प्रणाम किया। इसके बाद मजिस्ट्रेट ने निवेदन किया, ''बाबा,

यह हमारा पुत्र है। मात्र कुछ दिन ही हमलोगों के साथ है। इसके बाद इंग्लैण्ड चला जाएगा। आप कृपया इसके माथे पर हाथ रखकर आशीर्वाद दें।''

बाबा ने मजिस्ट्रेट का निवेदन जैसे अनसुना कर दिया हो। उनकी पत्नी ने जब बार-बार आशीर्वाद का आग्रह किया तो बाबा गम्भीर स्वर में बोले, ''चार रोज बीत जाने दो, इसके बाद आओ मेरे पास।''

मजिस्ट्रेट और उनकी पत्नी के मन में तरह-तरह के भाव आने लगे। वे लोग थोड़ी देर तक नंगा बाबा के पास बैठे रहे, फिर प्रणाम करके वापस चले गए। इस घटना के तीसरे ही दिन मजिस्ट्रेट का पुत्र किसी असाध्य रोग से पीड़ित हो गया। डॉक्टरों के लाख प्रयास के बावजूद उसकी हालत बिगड़ती गई और दूसरे दिन उसका प्राणांत हो गया।

इस घटना के बाद बाबा का नाम जन-चर्चा में प्रचलित हो गया।

गिर्नारी बन्ता में छोटे से आश्रम के स्थापित होने तक नंगा बाबा 'रमता जोगी' ही बने रहे। कब एक जगह आसन जमाए रहते और कब सहसा अन्तर्ध्यान हो जाएँगे, किसी को पता नहीं होता। पुरी आसन का त्याग करके कुछ दिनों के लिए वे साक्षीगोपाल के निर्जन वन में देखे गए। उनके पास कुछ भक्त भी पहुँच गए। बाबा ने उन लोगों से कहा, ''वे सब तरह से ही नंगे एवं संन्यासी मनुष्य हैं। किसी तरह के अभाव के लिए उनके शरीर अथवा मन में कोई विकार नहीं है। उनके साथ होकर भक्तगण इतना कष्ट क्यों सहन करेंगे?''

लेकिन भक्तगण भी अपने संकल्प से डिगे नहीं। उन लोगों ने निवेदन किया कि बाबा आपके जैसे महापुरुष के साथ रहकर हम परम लाभ तथा आनन्द प्राप्त कर रहे हैं। यदि उपवास भी करना पड़े और दुःख-कष्ट भी सहना पड़े तो हम लोग उसे प्रसन्नतापूर्वक सहन कर लेंगे।

नंगा बाबा ने बता दिया कि वे किसी कुटिया के भीतर निवास नहीं करेंगे। किसी वृक्ष के नीचे आसन जमा कर उसी पर रात-दिन व्यतीत करेंगे। भक्तगणों को निर्देश दिया कि जंगल की लकड़ियों और पत्तों से वे लोग अपने लिए पर्ण-कुटी तैयार करें और उसी में साधना और भजन करें।

कुछ ही दिनों में जंगल के आसपास के क्षेत्रों में यह बात फैल गई कि नंगा बाबा जंगल में निवास कर रहे हैं। फिर गाँवों के गृहस्थ लोग खाद्य-पदार्थ लेकर उपस्थित होने लगे।

एक दिन एक गाड़ी भरकर डाभ भेट में आया। अपने एक भक्त को बुलाकर बाबा ने आदेश दिया, ''देखो, ये डाभ तुम अपनी कुटिया में ले जाओ और तुम लोग सब खा लेना। अऊर एक ठो काम तुमको करना होगा। मेरे दर्शनों के लिए जो आदमी आते हैं, और दो-एक रुपया दे जाते हैं, जिसे मैं कभी हाथ

से छूता नहीं—वह सभी अपने पास रखो और दर्शन के लिए जो आदमी आते हैं, उन्हें उस रुपए से खिला दो। तुम लोग भी उससे खाना-पीना करो। तुम लोगों के लिए ही वह रुपया आता है।''

जंगल का यह प्रवास अधिक दिनों तक नहीं चल पाया। एक दिन भक्त यह देखकर आश्चर्यचकित रह गए कि बाबा अपने आसन पर नहीं हैं।

१९२१ में नंगा बाबा फिर पुरी क्षेत्र में वापस आए। उन्हें अपने बीच पाकर लोग प्रफुल्लित हो गए। निश्चय किया कि बाबा के लिए एक आश्रम बनाया जाय। शहर के एक निर्जन स्थान में बाबा ने एक साधारण आश्रम के निर्माण की स्वीकृति दी। गिर्नारी बन्ता के एक बालुका स्तूप पर आश्रम बनाया गया। इस स्थान का एक पवित्र इतिहास भी था। बाबा ने यहीं अपना स्थायी निवास बना लिया। दो-एक बार गंगा अथवा नर्मदा की तीर्थयात्रा को छोड़कर लम्बे समय तक के लिए कहीं नहीं गए।

एक बार बाबा सागर संगम की ओर गए थे। पुण्यतीर्थ में स्नान किया फिर पदयात्रा करते हुए उड़ीसा वापस लौट रहे थे। कलकत्ते के पास ही रिसड़ा में एक वृक्ष के नीचे आसन जमाया। स्थानीय जमींदार लालजी उधर से कहीं जा रहे थे। दर्शन मात्र से ही वे बाबा के प्रति आकृष्ट हो गए। उन्होंने हाथ जोड़कर निवेदन किया, ''आप कृपा करके जब इस अंचल में आ ही गए हैं तो इस अधम के घर पर भी चलें। आपकी सेवा का सुयोग पाकर हम धन्य होंगे।''

नंगा बाबा मुस्कराए। मृदु गंभीर भाव में जो कुछ कहा, उसका सारांश इस प्रकार है—''मैं तो इस वृक्ष के नीचे ही काफी सुखी हूँ। तुम्हारे भवन में जाकर मुझे क्या इतना आराम मिल पाएगा? तुम सभी विषयी हो। दिन-रात विषय में ही उलझे रहते हो। यह सब देख कर मुझे विरक्ति ही होगी।''

''बाबा, निश्चय ही हम लोग विषयकीट हैं। स्वयं अपने पाप की ज्वाला से संतप्त हैं। परन्तु आप जैसे साधु-सन्तों का सान्निध्य पाने तथा अमृतमय वाणी सुनने से हृदय में थोड़ी शांति अवश्य मिल जाएगी।'' जमींदार ने कहा।

''साधु-सन्तों की बातें तुम लोगों ने काफी सुनी हैं, उनमें से कितनी हृदयंगम की हैं, और अपने जीवन में उतार पाए हो? उपनिषद तथा वेदान्त में ऋषियों की सार तत्त्व की बातें हैं, किन्तु कितने लोग उसे ग्रहण कर पाए हैं?'' बाबा बोले, ''साधु-महात्माओं का गृहस्थों के घर में निवास, मैं एकदम पसन्द नहीं करता। यही सही है कि साधु-संग के लाभ की थोड़ी इच्छा आपके भीतर अवश्य है, लेकिन इससे अधिक अहं की भावना है—मेरे निवास पर एक मस्त साधु आकर ठहरते हैं। यह बात अन्यथा मत समझना। एक अप्रिय सत्य कह रहा हूँ। बाग-बगीचा, घर एवं रक्षिता रखने जैसे ही आडम्बरपूर्ण साधु रखने की भी प्रवृत्ति आजकल बड़े लोगों के भीतर प्रवेश कर गई है।''

"बाबा, पर मैं उतना बड़ा आदमी नहीं हूँ।"

"मेरी बात सुनो। तुम्हारा वह स्थान मुझे पसन्द आ गया है। कुछ दिन यहीं काट लेने का विचार है। परन्तु तुम्हारे मकान में नहीं, इसी वृक्ष के नीचे ही रहूँगा। नित्य दो सूखी रोटी और सब्जी रहने से ही मेरा काम चल जाएगा।"

जमींदार का मकान पास में ही था।

रिसड़ा में नंगा बाबा कुछ दिन रहे। जमींदार तथा उनके पुत्र राधारमण दोनों ही इस महान तपस्वी की सेवा-परिचर्या से धन्य हो उठे।

यहाँ प्रवास के दौरान एक दुर्घटना के कारण नंगा बाबा की अंत:स्थिति एक दिन प्रकट हो गई।

प्रात:काल उठकर लालजी नित्यकर्म आदि से निवृत्त होकर बाबा के दर्शनार्थ निकले। मकान के पास ही जंगल था जिसमें फूलों के वृक्ष थे। जब वे इस जंगल को पार कर रहे थे तभी एक विषधर पर उनका पैर पड़ गया और उसने उलट कर डँस लिया। लालजी की चीख सुनकर आसपास के लोग दौड़े-दौड़े आए। परिजनों ने रोना-धोना शुरू कर दिया। लालजी दोनों हाथ आगे करके बाबा-बाबा पुकारते हुए बाबा की ओर दौड़े। सर्प का विष उनके शरीर में तेजी से फैलता जा रहा था। बाबा के पास आते-आते लालजी गिर पड़े। शरीर नीला पड़ गया था और मुँह से झाग निकलने लगा था। नेत्र भी धीरे-धीरे निष्प्रभ होने लगे। आसपास काफी लोग इकट्ठे हो गए थे।

नंगा बाबा अपलक दृष्टि से भक्त की ओर देख रहे थे। कुछ पल इसी तरह बीत गए। उसके बाद बाबा ने अपने कमण्डल से सागर तीर्थ से लाया हुआ जल लालजी के मुँह पर छिड़का। क्षणभर बाद ही लालजी की चेतना लौटने लगी और शरीर का रंग भी स्वाभाविक होने लगा। कुछ ही पलों में वे स्वस्थ हो गए और बाबा के चरण पकड़ कर उनकी स्तुति करने लगे। नेत्रों से अविरल अश्रु-धारा बह रही थी।

वहाँ उपस्थित लोग बाबा की यह अद्‌भुत लीला देखकर उनकी जय-जयकार करने लगे।

लालजी को प्रबोध देने के बाद बाबा ने स्नेहपूर्ण वाणी में कहा, "बेटा, अब कुछ भय नहीं है। अभी थोड़ा सा दूध पी लेव। घर जाकर विश्राम करो। कल सुबह मेरे पास आओ।"

दूसरे दिन प्रातः भेंट होते ही बाबा ने लालजी से कहा, "अभी तो तुम्हारी समझ में आ गया—जीवन ऐसा ही एक स्वप्न है। तुम्हारा धन-दौलत, इतना बड़ा मकान, लड़का-लड़की, स्त्री सबकुछ स्वप्न के माफिक झूठ है। एक मुहूर्त में सब छूट जाने लगा था। सबकुछ प्रपंच है, स्वप्न है—यह याद रखने से दु:ख की निवृत्ति होगी, मोक्ष आ जाएगा तुरन्त।"

उपरोक्त घटना के बाद नंगा बाबा की योग-विभूतियों की ख्याति इस क्षेत्र में फैल गई। इसके बाद बाबा के यहाँ दर्शनार्थियों की भीड़ लगने लगी। एक दिन बाबा चुपचाप यहाँ से खिसक लिये।

भक्त लालजी के अनुरोध से रिसड़ा में एक छोटा से आश्रम का निर्माण हुआ। बाबा पुरी से बीच-बीच में यहाँ आते रहते। १९२१ से १९२६ के मध्य कई बार आगमन हुआ। कलकत्ते के कुछ भाग्यवानों को बाबा का दर्शन-लाभ मिला।

१९२६ के बाद गिर्नारी बन्ता बाबा का स्थायी निवास हो गया। दो-तीन शिष्य बाबा की सेवा में लगे रहते। बाबा भक्तों, दर्शनार्थियों और आगंतुकों को अद्वैत तथा आत्मज्ञान का उपदेश देते। त्याग, वैराग्य एवं वेदान्त साधना के मूर्त विग्रह शिवकल्प इन महात्मा से मानव कल्याण की अविरल धारा बहती रही। नंगा बाबा कहते रहते—कलिकाल में मनुष्य की आयु कम है। दृढ़ शरीर अथवा मन कहाँ है? स्वास्थ्य हानि और नाना प्रकार के सांसारिक दुःखों से वे दुःखी रहते हैं। इसलिए योग अथवा तंत्र साधना उनके लिए इतनी उपयोगी नहीं है। उनके लिए वेदान्त साधना का पथ तथा अनात्म-आत्म विचार का पथ ही कल्याणकारी है। वेदान्त विचार के रास्ते पर एक चींटी भी चली जा सकती है मोक्ष के द्वार की ओर।

बाबा कहते—देखो, मनुष्य-मात्र सुख चाहता है। किन्तु वह गलत मार्ग पर भटक जाता है। इसलिए सुख से वंचित हो जाता है। बाह्य जगत का सब कुछ नश्वर है। जो विनाशशील तथा परिवर्तनशील है, वह स्थायी सुख-शान्ति कैसे देगा? पार्थिक भोग्य वस्तु अन्ततः दुःख का ही सृजन करता है। भोग्य वस्तु को ध्यान में न रख कर भागी मनुष्य की ओर एक बार देखो। तुम देखोगे कि वह नश्वर है। अपनी असहायता के सम्बन्ध में अनुभव अभिज्ञता एवं प्रत्यक्ष दर्शन के बाद भी उसकी भोग लिप्सा नहीं दूर होती।

भक्तों ने एक बार प्रश्न किया, "बाबा स्थायी सुख-लाभ के लिए हम लोगों को क्या करना चाहिए?"

बाबा का उत्तर था, "स्थायी सुख के लिए सबसे पहले इस बात का ज्ञान होना चाहिए कि सत्य क्या है? सत्य स्वतः प्रकाशशील है, उसे देखने के लिए किसी प्रदीप का प्रयोजन नहीं होता। फिर भी तुम्हारे नेत्रों में जो मल है, उसे अवश्य दूर करना होगा। सत्य को देखने के लिए पहले दृष्टिदोष को दूर करो। स्वयं के बारे में भी मूल बात है सत्य का संधान। अपने सम्बन्ध में सत्य किस तरह प्रतिभास होता है? यह सत्य बता देता है कि बाह्य दृश्यमान पदार्थ मात्र जड़ ही नहीं है तथा मैं अदृश्य एवं चैतन्यमय हूँ। जड़ पदार्थ में अहं भावना का बोध करते ही उसका दोष जैसे—जड़ता, क्षणभंगुरता, विनाशत्व, इसकी अपने भीतर

उपलब्धि होने लगती है। चैतन्य में अहं भावना करने पर चैतन्यमय स्वरूप भावुक हो उठेगा तथा सत्-चित् आनन्द स्वरूप हो उठेगा। आत्म-ज्ञान के अलावा और कोई स्थायी सुख नहीं होता। आत्मतत्त्व के नीचे ही आश्रय को यही सर्वसिद्धिदाता होता है। श्रुति में भी कहा है—'नान्य: पन्था विद्यते।''

''आत्मा को जानने का उपाय क्या है बाबा?''

''आत्मा सर्वदा प्रकाशमान रहता है। लोग उसे महसूस नहीं कर पाते क्योंकि उनका चित्त अशुद्ध रहता है। मलिन दर्पण में क्या अपना प्रतिबिम्ब दिखलाई पड़ता है? सूर्य-प्रतिबिम्ब क्या उसमें प्रकाशमान हो सकता है? अविद्या के कारण चित्त में मल का विक्षेप अथवा आवरणरूपी मैला पड़ा हुआ है, इस मैले को दूर करने के लिए ब्रह्मनिष्ठ श्रीगुरु के मुख से वेद के तत्त्व मसि आदि महावाक्यों का श्रवण करना होता है। इसके बाद उसका निष्ठापूर्वक मनन एवं निधिध्यासन करना होता है। यही वेद द्वारा दर्शाया गया कल्याणकारी पथ है।''

बाबा कहते हैं, इस प्रपंचमय विश्व सृष्टि के स्वप्नरूप में समझने से तथा क्षणभंगुर बुदबुद के रूप में कल्पना करने से साधक के लिए आत्मज्ञान की ओर अग्रसर होने में सुविधा होती है।

एक बार अमेरिकी साधु ने बाबा से प्रश्न किया, ''बाबा, मनुष्य का अहं किस तरह खत्म हो सकता है? तथा इसी शरीर से, इसी जन्म में ही क्या मोक्ष-लाभ सम्भव है?'' अमेरिकी साधु ने बाबा का दर्शन उस समय किया जब वे रिसड़ा आश्रम में थे।

बाबा ने कहा, ''साधना के दो प्रशस्त पथ हैं। पहला, इस जगत को मिथ्या समझकर चलना एवं त्याग-वैराग्य के पथ से कर्म संन्यास लेना। दूसरा, इस जगत को भगवान स्वरूप तथा भगवतमय समझकर निष्काम कर्मव्रती हो जाना। पहला अद्वैत तथा दूसरा द्वैत मार्ग है। इसे पूर्णरूप से समझ लेना होगा कि कौन से पथ के तुम अधिकारी हो।''

''हम लोग अज्ञानी अहं बोधयुक्त मनुष्य हैं। कौन से पथ के अधिकारी हैं, यह किस तरह समझ पाएँगे?''

''इसीलिए गुरु की आवश्यकता पड़ती है। मूर्ख अज्ञानी गुरु नहीं, ब्रह्मविद गुरु जो तुम्हारे जन्म-जन्मान्तर की खबर जान जाएँगे तथा जो इस बार की साधना का मार्ग प्रदर्शन करने में समर्थ होंगे।''

नंगा बाबा वेदांती के हिमायती थे। वे अद्वैत ब्रह्मज्ञान के पथ का ही दिग्दर्शन करते और कर्म संन्यास को प्रधानता देते। उनके मतानुसार आत्मज्ञान साधन के दो ही आयाम हैं, एक अंतरंग तथा दूसरा बहिरंग। गुरु के सान्निध्य में रह कर त्याग-वैराग्यमय जीवन व्यतीत करते हुए माहात्म्य का श्रवण-मनन एवं

निदिध्यासन ही अन्तरंग साधन है। इस साधना की परम्परा यथा क्रम से विवेक, वैराग्य, षट सम्पत्ति (शम, दम, उपरति, तितीक्षा, श्रद्धा एवं समाधान, मुमुक्षत्व, 'तत', 'त्वं', शब्द) के अर्थ का सतत श्रवण-मनन एवं निदिध्यासन है। आत्मज्ञान की बहिरंग साधना दो पंथ से अनुसूत होती है—निष्काम कर्म एवं निष्काम उपासना से।

सत् एवं मुक्तिकामी साधारण गृहस्थ के लिए बाबा का विचार था, ''गृहस्थ मनुष्य यदि मोक्ष का द्वार उन्मुक्त करना चाहता है तो उसे तीन विषयों की ओर अग्रसर होना पड़ेगा—सद्ग्रन्थ एवं शास्त्र ग्रन्थ का पाठ, सत्संग तथा सद्गुरु के उपदेशानुसार साधन।''

साध्य साधन-तत्त्व को बाबा बहुत ही सहज ढंग से समझाते। श्री राधारमण लाल के अनुसार—''हम लोग एक बार पुरी धाम स्थित गिर्नारी पहाड़ पर बैठ कर उसका मनोमुग्धकारी रमणीय सौन्दर्य देख रहे थे। दक्षिण दिशा में तुरंगमाल से समन्वित बंग सागर, पूर्व में पुरी का श्रीमन्दिर, उत्तर की ओर यमुना नदी तथा पश्चिम में उच्च बालुका राशि के ऊपर बाबा ऐसे आसीन थे जैसे साक्षात् शिव हों। मैंने कहा—यही तो हम लोगों का प्रेय और श्रेय है जो हम लोग निर्भयता के साथ स्वर्ग-सुख भोग रहे हैं। प्रकृति ने इस निर्जन आश्रम को उसकी मनोरमता में वृद्धि के लिए नाना रूपों में मानों सजा रखा है। कौन नहीं चाहेगा कि इस सुन्दर परिवेश में आपके श्रीचरणों की सेवा का सौभाग्य लाभ करे?''

प्रत्युत्तर में बाबा ने कहा—''जो लोग सृष्टि के प्राकृतिक तत्त्व एवं रहस्य के मर्मज्ञ हैं, एकमात्र वे आत्मानुभवी महापुरुष ही निर विच्छिन्न आनन्द प्राप्त करते हैं और उस आनन्द को प्राप्त करने के वे अधिकारी भी हैं। तुम मात्र अभिनय देखते हो। समझ रखो—अभिनय एवं अभिनेता दोनों ही मिथ्या हैं। अभिनेता समझते हैं कि वे हरिश्चन्द्र नहीं हैं, परन्तु अभिनेता स्वयं तथा दर्शक रूप में तुम लोग, जब करुण दृश्य आता है तो करुणा से तथा भयंकर दृश्य आने पर भय से अभिभूत हो उठते हो। अपने को सदैव तटस्थ अभिनयद्रष्टा समझ कर रहो, जैसे मैं अपने कैलास पर आसीन हूँ। पार्श्व में मेरा अक्षयवट वृक्ष के नीचे संसार के जीव जब माथे पर अपनी ही बाँधी गठरी लेकर अतिकष्ट से चलते-फिरते नजर आते हैं, तब मुझे देख कर हँसी आती है। इसलिए कि ये लोग गठरी स्वयं बाँधकर ढोते समय किस तरह दु:खी हो रहे हैं। इसलिए लोगों की बातचीत से सुख तथा शांति मिल पाना बड़ा मुश्किल है। कारण इसको वे स्वयं ही नहीं चाहते हैं।''

कुमुदबन्धु सेन ने लिखा है—''मैंने भगवान लाभ के बारे में पूछा। नंगा बाबा ने उत्तर दिया—''तुम उसी ब्रह्म की गोद में बैठे हुए हो और वे तुम्हारे अन्तर के हृदय-पद्म पर आसीन हैं।'' मैंने कहा—''क्या ऐसा तुरन्त हो जाता है? आपने भी तो कितनी योग-तपस्या की थी।''

बाबा ने कहा—''वह सब करके ही तो कह रहा हूँ। कलियुग में, विशेषतः बंगाली शरीर से योग, प्राणायाम अधिक करने पर अस्वस्थ हो जाओगे। मैं यह सब करके ही तो तुम्हें इतनी बात बता रहा हूँ।''

मैंने कहा—''ब्रह्म सत्य जगत् मिथ्या, यही तो वेदान्त कहता है।'' उन्होंने कहा—''तुम्हें इतनी बड़ी-बड़ी बातों से क्या प्रयोजन? जो बताया, वही करो। यही सहज मार्ग है। उन सबके सम्बन्ध में जब धारणा हो जाएगी, तब लम्बी-चौड़ी बातें करना। देख रहा हूँ, तुम्हारा गुरुकरण हो चुका है। उसी इष्ट मंत्र का जप करोगे। वही इष्ट ही ब्रह्म है। उसी की गोद में बैठे हुए हो। वही तुम्हें ब्रह्मानन्द रस पान करने देंगे, और तुम्हारे दृश्यपथ पर आसीन होकर रहेंगे।''

श्रीयुत सेन उस दिन भीषण गर्मी और धूप में टहल-घूमकर आए थे। नंगा बाबा ने ज्ञानानन्द से कहा, ''जल्दी से एक डाभ दो।'' ज्ञानानन्द चुपचाप हाथ जोड़े खड़े थे। बाबा ने रुष्ट होकर कहा, ''मामला क्या है? क्या तुमने मेरी बात सुनी नहीं?''

''जी ऐसी बात नहीं है। वास्तविकता यह है कि भण्डार में केवल एक ही डाभ बचा है, उसे आपके लिए रक्खा है।''

बाबा के आदेश से वह डाभ सेन को दे दिया गया। इसके कुछ ही देर बाद देखा गया—नीचे गेट के पास डाभ से भरी एक बैलगाड़ी खड़ी है। गाड़ी का मालिक एक सम्पन्न गृहस्थ था। उसने बाबा को प्रणाम करके निवेदन किया, ''बाबा, मेरे बगीचे में बहुत से नारियल के वृक्ष हैं। एक पेड़ पर मैंने निशान लगाकर मन्नत मानी थी कि इस बार उस पर पहली बार जो फल लगेंगे उसे आपके चरणों में समर्पित कर दूँगा। मैं इसे लेकर आया हूँ, कृपा करके ग्रहण करें।''

बाबा ने उसे आशीर्वाद देकर तुरन्त ज्ञानानन्द के पास भेज दिया। जैसे प्रसाद ग्रहण कर लिया हो। फिर सेन की तरफ देख कर मुस्कराते हुए बोले, ''तुमने प्रत्यक्ष किया तो, असल में हम सभी ब्रह्म की गोद में बैठे हुए हैं। हमारे लालन-पालन का भार भी उन्हीं के ऊपर है। परन्तु हमलोग अहं बोध से ग्रसित हैं। इसलिए तो हम लोग उसकी सारी व्यवस्था उलट-पुलट देते हैं। हमारे दुःख-कष्ट हमारी अपनी ही सृष्टि हैं। जो ब्रह्म के ऊपर एकान्त से निर्भर रहता है, उसके सम्मुख आत्मसमर्पण करता है, उसे कष्ट क्यों कर होगा?''

नंगा बाबा ने अपने जीवन में अनेक अलौकिक लीलाएँ की थीं। मनुष्य का करुण क्रन्दन तथा विनती बार-बार बाबा के हृदय में करुणा का भाव जगा देता था।

एक दिन आश्रम में बाबा भक्तों के साथ सत्संग में लीन थे। इसी बीच एक रुग्ण शरीर उड़िया ग्रामवासी उनके सम्मुख उपस्थित हुआ। वह भयानक संग्रहणी

रोग से ग्रसित था। उसने झुककर बाबा को प्रणाम किया। बाबा ने पूछा, "क्यों रे, तुम्हारी क्या खबर है?"

रोगी ने आर्तकण्ठ से कहा, "अब यह कष्ट सहन नहीं होता बाबा। आजकल जल-सत्तू भी हजम नहीं हो पा रहा है।"

"देखता हूँ बड़े कष्ट में पड़ गए हो। फिर यहाँ किसलिए आए हो? मैं डॉक्टर हूँ जो रोग अच्छा कर दूँगा? या तो डॉक्टर के पास जाकर अच्छी तरह इलाज कराओ या लोकनाथ शिवजी के मन्दिर में चला जा।"

"बाबा डॉक्टर ने जवाब दे दिया है। उन्होंने कहा है कि अब यह रोग ठीक होने वाला नहीं है। उसी से आपके शरण में आया हूँ। आप ही व्यवस्था कीजिए।"

"मैं क्या करूँगा? यह तो काल व्याधि है। शिवजी के चरणामृत के अलावा, इसके लिए कोई अन्य उपाय नहीं है। नित्य वहाँ एक घड़ा चरणामृत सेवन करो। उसी से ठीक हो जाओगे।" बाबा ने फिर आश्वासन दिया, "डरने की कोई आवश्यकता नहीं, उसी से ठीक हो जाओगे।"

कुमुदबन्धु ने कहा, "बाबा, योग विभूति की सहायता से तो रोगमुक्त करना आप पसन्द करते नहीं, फिर भी इसकी प्राण-रक्षा के लिए आपको उसी की मदद लेनी पड़ी।"

नंगा बाबा मुस्कराए। उन्होंने कहा, "देखो, द्रव्यगुण को भी मानना ही पड़ेगा। शिवजी के भक्तगण कितने किस्म के फूल, चंदन, अर्घ्य आदि डाल देते हैं। उन सभी मिलीजुली वस्तुओं का एक विशेष द्रव्यगुण नहीं है क्या?"

पुरी के जमींदार कृष्णा बाबू की पत्नी तुलसी देवी नंगा बाबा की भक्त थीं। गिर्नारी बन्ता का आश्रम तैयार होने के पूर्व से ही इन्होंने बाबा का आश्रय ग्रहण किया था। प्रतिदिन प्रातः एक नियत समय पर तुलसी देवी बाबा के आश्रम में आतीं। वह अपने साथ एक बर्तन में दूध और अर्घ्य सामग्री लातीं। धूप-गुगुल की सुगंध से सारा कक्ष सुगंधित हो उठता। बाबा के गले में बड़े-बड़े सुगन्धित पुष्पों की माला पहनाई जाती। इसके बाद घण्टी और पंचप्रदीप लेकर परम भक्त तुलसी देवी बाबा की आरती करतीं। इस प्रकार का बाह्य अनुष्ठान बाबा को कभी पसन्द नहीं था, किन्तु उस भक्त साधिका के अन्तर की इच्छा का उन्होंने प्रतिरोध नहीं किया। आरती एवं पूजा के बाद सत्संग शुरू होता।

एक बार नंगा बाबा अचानक पुरी धाम से अंतर्धान हो गए। सभी भक्त मर्माहत हो उठे। लेकिन भक्तगणों को आशा थी कि बाबा किसी-न-किसी दिन आश्रम में अवश्य प्रकट होंगे। लेकिन तुलसी देवी ने संकल्प ले लिया कि जब तक आश्रम में बाबा का अवतरण नहीं होगा तब तक वह अन्न-जल ग्रहण नहीं

करेंगी। इस प्रकार उपवास करते दो साल व्यतीत हो गए लेकिन बाबा ने अपनी अलौकिक शक्ति से उन्हें जीवित और स्वस्थ रक्खा। इसके बाद भक्तगणों को सूचना मिली कि बाबा भागलपुर के समीप निर्जन वन में तपस्या कर रहे हैं। कृष्ण बाबू बाबा को खोजते हुए उनके समक्ष उपस्थित हुए और अपनी धर्मपत्नी के उपवास की बात बाबा को बताई। बाबा का हृदय द्रवीभूत हो गया और वे तुरन्त पुरी धाम लौट आए। वे सीधे कृष्ण बाबू के घर गए। तुलसी देवी से कहा, ''ये क्या बात है? खाना-पीना एकदम काहे छोड़ दिया? खा लो, खा लो।''

लम्बे उपवास के बावजूद तुलसी देवी के जिन्दा रहने के बारे में जब भक्तगणों ने बाबा से पूछा तो उन्होंने कहा, ''उसे विश्वास था, इसलिए जिन्दा रही।''

देहात्म बोध के लोप की प्रचेष्टा आत्मज्ञान, साधना की प्रथम स्थिति होती है। यदि कोई आर्त व्यक्ति नंगा बाबा की शरण में आता तो इसी प्रचेष्टा की ओर उसका ध्यान आकृष्ट करते।

एक दिन एक दर्शनार्थी ने बाबा के गले में ढेर सारी मालाएँ डाल दीं। बाबा ने कहा, ''और हो तो दो, लेकिन समझ रक्खो कि यह प्रपंच है।'' कभी कोई भक्त प्रणाम निवेदित करता तो बाबा बोल उठते, ''हाँ, हाँ, प्रणाम करो, इस हाड़-मांस की देह को तो प्रणाम कर लेव।'' इस तरह बाबा भक्त को अपनी ज्ञानमय सत्ता तथा शिवसत्ता की ओर उन्मुख करते।

एक दिन शाम को आरती हो रही थी। बाबा ने भजूबाबा (जो बाद में शंकरानन्द के नाम से प्रसिद्ध हुए) से कहा, ''भजू, जल्दी खतम करो। अपने भूत समों (वाद्ययंत्रों) को भगाओ यहाँ से।'' भजूबाबा ने विनम्रतापूर्वक कहा, ''बाबा, भूत भगाने की बात क्यों कर रहे हैं? आपकी पूजा-आरती के लिए ही तो ये सभी वाद्य-यन्त्र लाए गए हैं और इन्हें कह रहे हैं—भूत?''

''असली पूजा में होता है मन का ध्यान। इतना हल्ला तो भूत भगाने के लिए ही होता है।'' बाबा ने कहा।

बाबा का हिन्दी, गुरुमुखी, तमिल तथा तेलुगु भाषाओं पर पूर्ण अधिकार था। एक दिन एक उड़िया सज्जन आए। भक्तिमार्गी होते हुए भी बाबा के प्रति उनकी अगाध श्रद्धा थी। उन्होंने निवेदन किया, ''बाबा, आजकल मेरा मन भजन-कीर्तन के अलावा अन्य चीज में नहीं रमता। अन्य किसी कार्य के लिए होश नहीं रहता।''

''वह भी तो एक विषय है।'' बाबा ने कहा।

एक दिन एक कीर्तन-मण्डली बाबा के दर्शन के लिए आई थी। उनमें से एक सज्जन ने बाबा से कीर्तन सुनाने के लिए निवेदन किया। बाबा बोले, ''बेकार

गीदड़ के माफिक चिल्लाने से क्या फायदा?" बाबा की इस कठोर वाणी से कीर्तन मण्डली के लोग सहम गए। बाबा को एहसास हुआ कि उन्हें इतना कठोर नहीं होना चाहिए था। उन्होंने कहा, "देखो, भजन-कीर्तन अच्छा ही है। मन को वह भगवतमुखी कर देता है, इसमें सन्देह नहीं। किन्तु उसी में लिप्त होकर लोग भूल करते हैं। प्रपंच से मन को हटा लेना होगा। त्याग-वैराग्य तथा स्मरण, मनन-निदिध्यासन के मार्ग पर अग्रसर होना होगा, तभी मोक्ष प्राप्त होगा।"

एक दिन पंचदशी का पाठ चल रहा था। बीच-बीच में बाबा एक-एक सूत्र की व्याख्या करते जा रहे थे। इसी बीच एक भक्त आकर एक कोने में बैठ गया और बाबा को एकटक देखने लगा। कुछ देर बाद बाबा ने उससे कहा, "दर्शन हो गया, अब चले जाओ।" भक्त ने कुछ देर और बैठे रहने के लिए निवेदन किया किन्तु बाबा ने उसे भगा दिया। एक भक्त ने साहस करके इस बारे में पूछा। बाबा ने उत्तर दिया, "तुम सभी बालक हो, इस बारे में क्या समझोगे? उसकी स्त्री को राजयक्ष्मा हो गया, बचने का कोई उपाय मैं नहीं देख रहा हूँ। उसके मन में यही कामना थी कि मैं कृपा करके उसकी पत्नी को रोगमुक्त कर दूँ। यदि कोई कामना या वासना लेकर मेरे पास बैठा हुआ है तो शास्त्र-पाठ क्या चल सकता है? बार-बार पवित्र भाव-प्रवाह में बाधा पड़ जाती है। इसी से उसे चले जाने को कहा।" फिर उन्होंने कहा, "यहाँ मन-रोग मुक्ति तथा मोक्ष का लाभ अवश्य हो सकता है, यदि त्याग-वैराग्य एवं ध्यान-मनन में गति हो।"

एक दिन एक बहुत धनी भक्त बाबा के पास आए। वे अपने भारत-भर के तीर्थस्थलों के भ्रमण का हाल सुनाने लगे। कुछ देर बाबा सुनते रहे, फिर बोले, "हाँ, हाँ, जाओ तीर्थ में, बहुत घूमो। लेकिन यहाँ भी पत्थर, वहाँ भी पत्थर। हाथ में बहुत पैसा है, घूमते-फिरते भी हो। तीर्थ से लौट कर सबके साथ गप करो, ऐसा किया, ऐसा देखा। यह अहं छोड़ कर कोई स्थान में बैठ जाओ, आत्मज्ञान के लिए कोशिश करो।"

पुरी के एक साधक ने एक दिन बाबा से कहा, "बाबा, इतने दिनों से जप कर रहा हूँ, कृच्छ साधन कर रहा हूँ, किन्तु कुछ नहीं हो रहा है। देवी-देवताओं का दर्शन अथवा अतीन्द्रिय दर्शन-श्रवण—ये प्राथमिक प्राप्तियाँ भी तो अभी तक कुछ नहीं हुईं। चित्त भी प्राय: अशान्त रहता है।"

बाबा ने कहा, "इन सब दर्शनों से क्या फायदा, मुझे बताओ, इससे तुम्हें आत्मज्ञान होगा?" बाबा ने आगे कहा, "अर्जुन के विश्वरूप दर्शन की बात तुमने पढ़ी है? महायुद्ध के प्रारम्भ में ही कृष्ण ने उन्हें विश्वरूप दर्शन करा दिया। किन्तु अर्जुन की साधना की प्रस्तुति क्या थी? इससे पहले तो उनका समय धनुर्विद्या, बहुविवाह तथा नारी के साहचर्य में ही कटा था। सोच-समझकर बताओ तो विश्वरूप दर्शन के पश्चात क्या हुआ था? यदि ऐसा हुआ था तो अभिमन्यु की

मृत्यु पर अज्ञानी की तरह उन्होंने शोक क्यों किया?'' बाबा ने हँसते हुए कहा, ''कृष्णजी बड़े चतुर हैं, परन्तु अर्जुन के आचरण के कारण वे बड़ी विपत्ति में पड़ गए। क्या अर्जुन मात्र शोक से ही अभिभूत हुआ था? कृष्ण-सखा को डर भी काफी हुआ था, क्योंकि दूसरे पक्ष में भी दुर्जेय महारथी थे। वे अजेय हैं, इसे अर्जुन सबसे अधिक जानते थे। भीष्म समर में किसी दिन भी पराजित नहीं हुए थे। द्रोण मंत्रपूत बाण-संधान में अद्वितीय थे। कर्ण का भी पराक्रम अपरिसीम था। इन सभी चिन्ताओं को लेकर विषाद के साथ-साथ डर नहीं लगा, यह तुम कैसे कह सकते हो? इसी डर को हटाने के लिए कृष्ण ने दिखाया कि पहले से ही इन महारथियों को काल ने कवलित कर डाला है। किन्तु यह भी सोचो, अभिमन्यु जो मारा गया, उसे उन्होंने बिल्कुल ही नहीं दिखाया।''

''यह दिखा देने से क्या होता, बाबा?'' एक भक्त ने प्रश्न किया।

''अरे ऐसा हो जाने पर क्या कृष्णजी द्वारा निश्चित यह धर्मयुद्ध होता? उसकी पोल ही खुल जाती। गाण्डीवधारी गांडीव छोड़कर हाथ-पाँव ढीले करके रथ पर बैठ जाते। उनके द्वारा युद्ध कराया नहीं जा पाता, और कौरवों का पतन भी सम्भव नहीं हो पाता। फिर सोचो अर्जुन ने इतनी तत्व व्याख्या स्वयं कृष्ण के मुख से सुनी, विश्वरूप का भी दर्शन किया, फिर भी शोक के मोह से ग्रस्त रहे।''

एक भक्त ने कहा, ''बाबा, भगवद्गीता परम श्रद्धेय वस्तु है। किन्तु अनेक मत और मार्गों की बात पढ़कर समय-समय पर विभ्रान्त हो जाता है।''

''वह तो एक जादू की डिबिया जैसी खिचड़ी है। सब किसिम का रस उसमें घुसा दिया है।'' बाबा ने कहा।

''बाबा, मैं दिनों दिन हताश होता जा रहा हूँ, साधना के पथ में अब वैसे अग्रसर नहीं हो पा रहा हूँ।'' एक भक्त ने निवेदन किया।

''पहले एक-एक करके बन्धनों को तो कटाओ। इसके अलावा आगे बढ़ने का उपाय क्या है? भाग्यक्रम से तुमने ब्राह्मण शरीर पाया है। प्राण-प्रण से चेष्टा करो कि इसी शरीर से ही आत्मज्ञान का उदय हो।'' बाबा बोले। फिर अन्य भक्तों की ओर देख कर कहने लगे, ''मात्र ध्यान-भजन से ही कार्य नहीं होता। इसके साथ ही कृच्छ एवं त्याग-वैराग्य की आवश्यकता है। जिसका आहार-विहार में संयम नहीं है, उसके जीवन में ज्ञान का उदय किस तरह होगा।''

एक भक्त कलकत्ता से आए थे। उन्हें पास का एक लड़का रोज चाय बनाकर दे जाता था। एक दिन बाबा ने कहा, ''देखो, तुम इस छोकरे के हाथ की चाय अब नहीं लेना। इसने धर्म को व्यवसाय बना लिया है। दर्शनार्थियों को मेरे पास आने से पहले वह उन्हें फूलों की माला पकड़ा देता है जिसकी कीमत वसूलता है। ऐसे हीनबुद्धि लोगों द्वारा स्पर्श की हुई चाय पीना उचित नहीं है। उसके अधर्म का भाव तुम्हारे मन को भी संक्रमित कर सकता है।''

एक अन्य भक्त से बाबा ने कहा, ''तुम आश्रम में निवास की अवधि में बाहर इतना क्यों घूमते हो? एकनिष्ठ होकर कार्य किया करो। आश्रम में आने पर मात्र स्वाध्याय और ज्ञान-विचार की बात सोचनी चाहिए। तभी तो बन्धन-मुक्ति के पथ पर अग्रसर हो सकोगे।''

एक भक्त की जिज्ञासा शांत करते हुए बाबा ने कहा, ''मैंने हर किस्म की साधना की। हठयोग, राजयोग, वेदान्त-विचार सबकुछ। इसके बाद ही मैं तुम लोगों से कह रहा हूँ कि साधारण मनुष्य के लिए वेदान्त-विचार का मार्ग ही अधिक उपयोगी है। योग साधना के लिए दृढ़ शरीर तथा कष्ट सहिष्णुता की आवश्यकता है। इसके अलावा योगसिद्ध गुरु, अच्छा वास-स्थान तथा अच्छा आहार अनिवार्य है। पचास वर्षों के उपरान्त योगाभ्यास तो किसी तरह सम्भव नहीं है। इसी कारण आज के युग में वेदान्त ही सबसे सरल मार्ग है। असल वेदान्त साधना आरण्यक जीवन की साधना ही होती है। सर्वत्यागी और महा वैराग्यवान साधना में दृढ़चित एवं निष्ठावान जो साधक वेदान्त के मार्ग में अग्रसर होते हैं, उन्हें न्याय तथा सांख्य अच्छी तरह पढ़ लेना चाहिए।'' एक प्रश्न के उत्तर में बाबा ने कहा, ''शंकर (शंकराचार्य) तभी तक शंकर हैं जब तक उनके भाष्यों का श्रुतियों के साथ मतैव्य है। इस बात का भी स्मरण रखना होगा कि योग-समाधि को उन्होंने 'मूर्छा' कहकर भूल की है। हाँ, यह बात माननी होगी कि शंकर उच्चतम योग-समाधि से भिज्ञ थे। फिर भी अद्वैत वेदान्त के वे श्रेष्ठ आचार्य एवं प्रवक्ता थे, इसमें सन्देह नहीं है।''

एक अन्य भक्त के प्रश्न के उत्तर में बाबा बोले, ''साधना के मार्ग में समय-समय पर दैव का आघात आता रहता है। इसे सुरविघ्न कहते हैं, मानव देवताओं को पशु-सेवक विशेष होता है। मानव द्वारा अनुष्ठानित सेवा, पूजा, उत्सर्ग इत्यादि पर उनका काफी आकर्षण है। जब वे देखते हैं कि वही मानव साधना के माध्यम से मुक्त होता जा रहा है अर्थात सेवक उच्चतर लोक की ओर चला जा रहा है, तब वे बाधा देते हैं। ऐसे समय में स्त्री-पुत्रों पर आघात आता है। आर्थिक तथा वैयक्तिक संकट आते हैं। इस विघ्न को जो मानव बर्दाश्त कर आगे बढ़ते हैं, उस पर देवता प्रसन्न होते हैं और उसकी सहायता करते हैं।'' बहिर्मुखी कर्मकाण्ड का निषेध करते हुए वे कहते हैं, ''चित्त का विक्षेप और भक्त दूर होने के बाद जो दर्शन होता है, वही है असली दर्शन।''

भक्ति के बाह्य प्रदर्शन को नंगा बाबा कोई महत्त्व नहीं देते। किसी व्यक्ति के हृदय में सही माने में भक्ति का आभास होने पर उसके आनन्द की सीमा नहीं रहती। इस तरह के भक्तिसिद्ध महापुरुषों को वे उचित मर्यादा देते।

जब एक भक्त ने बाबा से कहा, महाप्रभु श्री चैतन्य जगन्नाथजी के दर्शन करके संज्ञा-शून्य हो जाते थे तो बाबा ने कहा, ''महाप्रभु श्री विग्रह का दर्शन

करते हुए अन्तर में ब्रह्मदर्शन करते थे। ब्रह्म ही सबकुछ है। ये सब ऊँची बातें हैं।" उन्होंने कहा, "भगवान, मन्दिर इत्यादि, इन सब वस्तुओं को लेकर मिथ्या व्यवसाय करना मैं हेय समझता हूँ। जो इन कार्यों में लगे रहते हैं, उनका उद्धार होना मैं अत्यन्त कठिन समझता हूँ।"

एक दिन नंगा बाबा ने कहा, "आत्मज्ञान के उदय होने से देह टूट जाता है।" एक प्रश्न के उत्तर में बोले, "ईश्वर स्वयं आकर प्रार्थना करते हैं, इसी के परिणामस्वरूप पूर्ण आत्मज्ञानी साधक को अपने शरीर की रक्षा करनी पड़ती है। इस शरीर के माध्यम से ईश्वर के अनेक कार्य सम्पन्न होते हैं। आत्मज्ञान की दीपशिखा एक साधक के शरीर से अन्यान्य साधकों के शरीर में संचालित होती है। इसी तरह साधना तथा सिद्धि की पवित्र परम्परा की रक्षा होती है।" एक भक्त के प्रश्न के उत्तर में बाबा ने कहा, "आत्मज्ञानी की इच्छा मात्र से सृष्टि उलट सकती है, प्रलय हो सकता है।"

"परन्तु बाबा, वेदान्त के भाष्य में आचार्य शंकर स्वयं कह गए हैं—जगत् व्यापार वर्जः। प्रकृति के ऊपर तथा सृष्टि के ऊपर आत्मज्ञानी का कोई कर्तव्य नहीं है, फिर?"

"शंकर की बात से घबड़ाओ मत" बाबा ने कहा, "देखो, श्रुति के साथ मेल है कि नहीं? श्रुति की बात याद रखना—ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति। जब ब्रह्म बन जाय, तब ब्रह्मविद् को किसी प्रकार की कमी क्यों रहेगी?"

एक व्यक्ति के अनुरोध पर बाबा बोले, "इस आलमारी में से स्वरोदय योग का ग्रन्थ निकाल लाओ। कुछ दिनों में ही मैं तुम लोगों को सारे गूढ़ रहस्य सिखा देता हूँ। मात्र स्वरोदय योग ही क्यों, परकाया प्रवेश भी सिखा दूँगा। फिर भी यह प्रश्न रह जाएगा कि इन सबके माध्यम से क्या आत्मज्ञान होगा? स्पष्ट रूप से बता देना चाहता हूँ कि वह नहीं हो पाएगा। वरन आत्मज्ञान साधना के मार्ग में ये सब बाधा स्वरूप हो जाएँगे। मैंने किसी समय ये सब सीखा था, उसके बाद सब भूल जाना चाह रहा हूँ।"

भक्त तुरन्त बोल उठा, "नहीं बाबा, यदि ऐसा है तो इन सारी वस्तुओं का हम लोगों को कोई प्रयोजन नहीं है।"

एक व्यक्ति पहले बहुत धनी था लेकिन बाद में विपन्न हो गया। उसके एक मित्र ने बाबा से उसका उद्धार करने का निवेदन किया। इस पर बाबा ने कहा, "उसके पास में पैसा आने से वह विषय की खाई में गिर जाएगा। उसे अभाव में रखा जाय, तब उसका कल्याण होगा।" महापुरुष की कल्याण की धारणा और साधारण मनुष्य की सोच में अन्तर स्पष्ट हो गया।

एक भारतविख्यात तांत्रिक बाबा के प्रति काफी कृतज्ञ थे क्योंकि बाबा का प्रोत्साहन पाकर ही इन्होंने संन्यास व्रत ग्रहण किया था। उसने एक ग्रन्थ भी रचा

था। एक दिन इस तांत्रिक ने बाबा के एक भक्त से कहा, "बाबा की मैं अपार श्रद्धा करता हूँ। हिमालय के नीचे ऐसे उच्च कोटि के महात्मा का मिलना दुर्लभ है। उन्हें मेरा श्रद्धार्घ्य अर्पित कीजिएगा तथा अनुरोध कीजिएगा कि अवकाश होने पर वे मेरे इस ग्रन्थ के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट करें।" भक्त ने गिर्नारी बन्ता आश्रम में आकर बाबा के पास ग्रन्थ रखा और तांत्रिक के मंतव्य से उन्हें अवगत कराया। भक्त ने दो पृष्ठ पढ़ कर सुनाए तभी बाबा ने कहा, "किताब के लेखक से बोल देओ, किताब लिखना छोड़कर वह आत्म चिन्तन में ध्यान दे। उससे ही असली कल्याण आ जायगा।"

बुद्ध पूर्णिमा के दिन भगवान बुद्ध के अवतार के बारे में एक भक्त की जिज्ञासा प्रकट करने पर बाबा ने कहा, "तुम लोगों ने अवतार को सहज सुलभ कर डाला है। अवतार के आने पर युग परिवर्तन हो जाता है, जैसा राम और कृष्ण के काल में हुआ। आजकल तो प्रत्येक मुहल्ले में अवतार का आविर्भाव है, अरे, असल में तुम भी एक अवतार ही हो। हमारी सृष्टि में जितने भी जीव हैं, प्रत्येक ब्रह्म के ही अवतार हैं।" बाबा ने आगे कहा, "बुद्ध का गुरु कौन है? सद्‌गुरु की सहायता तथा ईश्वरीय शक्ति का प्रयोग छोड़कर परम प्राप्ति अथवा पूर्ण ब्रह्मज्ञान तो कभी सम्भव नहीं होता।" बाबा अक्सर कहा करते, "सद्‌गुरु जहाँ सशरीर उपस्थित नहीं हैं, वहाँ साधक के लिए देह की साधना में सिद्ध होना अथवा ज्ञान के उच्चतम सोपान पर आरोहण करना सम्भव नहीं है।"

जन्माष्टमी का दिन था। भक्त रामनन्दन मिश्र बाबा के समक्ष बैठकर मन ही मन श्रीकृष्ण की लीलाओं का स्मरण कर रहे थे। बाबा अन्तर्यामी थे ही। वे समझ गए और बोले—"देखो, लोग समझाते हैं कि मैं भक्ति को प्रधानता नहीं देता तथा मैं कृष्ण का विरोधी हूँ। किन्तु यह एकदम असत्य है। श्रीकृष्ण भगवान के अवतार हैं, इसमें सन्देह क्या? जो प्रेम भक्ति पाना चाहता है, उसे कृष्ण के प्रति इष्ट भावना रखनी ही होगी। कृष्ण-भजन तथा आत्म-समर्पण के माध्यम से ही कृष्ण को एवं पराभक्ति को पा सकेंगे। ब्रह्मज्ञान यदि उनके भाग्य में होगा तो कृष्ण ही इस परम प्राप्ति के लिए उनकी सहायता करेंगे।" बाबा ने फिर कहा, "कृष्ण ने गोपियों के साथ रासोत्सव किया था। इस सम्बन्ध में भागवत में एक जगह ध्रुवपद से च्युति का आरम्भ हुआ। यह सोचने की बात है कि इस जगह ब्रह्म धारण का इंगित है या नहीं? वहाँ देखा जाता है—रस की प्रगाढ़ता के परिणामस्वरूप इष्ट के साथ चित्त की एकात्मकता के कारण ताल भंग होता जा रहा है। वैष्णव के भजन तथा कीर्तन में क्या देख पाते हो? सभी बहिरंग सुर तथा ताल को पकड़े हुए हैं। यदि ऐसा ही होता है तब इष्ट के साथ-साथ वास्तविक तारतम्य भाव किस तरह होगा? प्रकृत रूप में जहाँ भागवत में कथित ध्रुवपद भंग होने की बात है, वहीं से आत्मज्ञान आरम्भ होता है।"

एक दिन संध्या-आरती के बाद सृष्टि के रहस्य की बात चल पड़ी। बाबा ने कहा, "इस सृष्टि का रहस्य बहुत ही दुर्ज्ञेय है। जिन सभी उच्चकोटि के साधकों को पंचभूतात्मक ज्ञान हुआ है, मात्र वे ही रहस्य का भेद कर पाते हैं।" विद्वानों द्वारा बाबा की इस स्थापना की खिल्ली उड़ाए जाने की बात पर बाबा ने रोष भरे स्वरों में कहा, "उसकी बात छोड़ दो। वह क्या समझेगा? पंचभूत का थोड़ा भी ज्ञान नहीं हुआ उसको।"

एक फ्रांसीसी महिला रोजेनवर्ग भारतीय तत्त्व ज्ञान एवं साधना का परिचय प्राप्त करने के सिलसिले में भारत आई थीं। वे बाबा के आश्रम में भी कुछ दिन ठहरीं। पुरी के जन-जीवन में उस समय हलचल थी। गाँधीजी के शिष्य तथा अग्रणी समाजसेवी उन दिनों शहर में आए थे। जातीय जीवन के पुनरुत्थान के सन्दर्भ में उन्होंने अनेक भाषण दिए। एक दिन उन्होंने 'समाधि' के बारे में बताया। श्रीमती रोजेनवर्ग ने भी वह भाषण सुना। उन्होंने इसकी पूरी जानकारी बाबा को दी। थोड़ी देर तक उनकी बात सुनने के बाद बाबा बोले, "बेकार तुमने इतना समय नष्ट किया। समाधि क्या है, उसे कुछ नहीं मालूम। तब तुम्हें कैसे बता सकेगा? जो साधक समाधि में प्रविष्ट हो चुका है, वह कभी बाजार में और सभा में खड़ा होकर चिल्ला सकता है?"

कलकत्ता विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग के रीडर डॉक्टर अनिलराय चौधरी अविवाहित थे। साधना के विषय में उनकी जिज्ञासा कभी शान्त नहीं हुई थी। वे बाबा के पास आए। उनके पास बैठकर उनकी धीर-गम्भीर मुद्रा देख कर वे रोने लगे। बाबा ने उनका सिर पकड़ कर अपनी जाँघों पर टिका दिया और डॉ० चौधरी के आँसुओं से बाबा की जाँघ भींगती रही। जब वे थोड़ा स्वस्थ हुए तो बाबा ने उनसे जो कुछ कहा उसका सारांश इस प्रकार है—"क्यों असहायों जैसे रो रहे हो? ईश्वर ने तुम्हारे ऊपर अनेक कृपाएँ की हैं। स्त्री, पुत्र एवं संसार के बन्धन में जकड़ कर तो तुम्हें उन्होंने बाँधा नहीं है। सात्विक मन तथा वृत्ति भी प्रदान की है। तुम तुरन्त आश्रम में चले आओ। यहीं स्थायी रूप से जीवन के अन्तिम दिन तक रुक जाओ। आत्मचिन्तन में लीन हो जाओ।"

"बाबा, मैं एशियाटिक सोसायटी और कई अन्य प्रतिष्ठानों के साथ इकरारनामों से बँधा हूँ। उनके लिए लिखना समाप्त किए बिना कलकत्ता नहीं छोड़ पा रहा हूँ।"

"नहीं, नहीं। तुम वह सब छोड़कर यहाँ चले आओ। हो सके तो वापस नहीं जाओ, यहीं रुक जाओ। देखो, जीवन बड़ा क्षणभंगुर है। आत्म चिन्तन के कार्य में एक मुहूर्त भी गँवाना उचित नहीं है। तुम मेरे पास ही रुक जाओ।" बाबा ने बार-बार आग्रह किया।

डॉ० चौधरी कलकत्ता चले आए। बाबा का प्रसंग आते ही उनमें अद्‌भुत रूपान्तर होता था। आँखों से आँसू झरने लगते। कुछ सप्ताह के भीतर ही डॉ० चौधरी चल बसे। अंतर्यामी बाबा सम्भवत: इसीलिए उन्हें अपने आश्रम में ही रखना चाहते थे। यदि वे बाबा के आश्रम में होते तो उनका आयुकाल बढ़ जाता और वे आत्म-साक्षात्कार के भाग पर भी आगे बढ़ने में समर्थ हो जाते। ऐसा कहना था कुछ संन्यासियों का।

एक दिन बाबा ने कहा, "जिस मनुष्य ने आत्मज्ञान का अर्जन नहीं किया तथा प्रवृत्ति के प्रताड़नस्वरूप असहाय होकर भटकता रहता है, वह पशुतुल्य है।" बाबा ने आगे कहा, "गृहस्थों के भीतर भी सत्, त्यागी एवं आत्मज्ञानी लोग होते हैं। तुम यह मत सोचो कि साधु होने से ही कोई सच्चा ज्ञानी हो जाएगा। इसमें भी अनेक फालतू लोग होते हैं।"

बाबा ने पुराण की कथा सुनाई, "दधीचि जैसे त्याग और तितिक्षावान थे वैसे ही तपस्वी थे। सभी उनका प्रचुर सम्मान करते थे। देवराज इन्द्र की सभा में सभी ऋषि दर्शन दे जाते थे, केवल दधीचि ही अपवाद थे। इन्द्र इससे दु:खी और रुष्ट हुए। सोच-विचार के बाद उन्होंने निश्चय किया कि दधीचि ऋषि के पास उनके स्वयं जाने की आवश्यकता है।

"एक दिन इन्द्र तपोवन में गए और ऋषि को साष्टांग प्रणाम करने के बाद उन्होंने करबद्ध निवेदन किया, "ऋषिवर, आप स्वयं हमलोगों के पास नहीं आते हैं, इसीलिए मैं स्वयं आपके दर्शन के लिए उपस्थित हुआ हूँ। पहले एक प्रश्न निवेदित करना चाहता हूँ—मेरे विषय में आपकी धारणा क्या है?"

"कुत्ते के जैसा।" दधीचि ने निर्विकार भाव से कहा।

"यह आप क्या कह रहे हैं ऋषिवर?" देवराज इन्द्र चौंक गए।

"देवराज, मैंने ठीक ही कहा है। तुम राजस्व का भोग कर रहे हो तथा इन्द्रियों की चर्चा तो कुत्तों का कार्य है। इसीलिए तुम्हारे और कुत्तों के कार्यों में मुझे कोई पार्थक्य नहीं दिखाई पड़ा।"

कलकत्ते के एक युवा बैरिस्टर असाध्य रोग से पीड़ित थे। काफी इलाज किया लेकिन ठीक नहीं हुए। उनके एक मित्र बाबा के भक्त थे। उन्होंने बाबा से उनका जिक्र किया। बाबा ने कहा, "तुम्हारे दोस्त की बीमारी है पुरुषत्वहीनता। पहले उसे दारू और पर-स्त्री प्रसंग छोड़ने को कहो। लेकिन यह भी सुन लो कि वह दारू और पर-स्त्री कभी नहीं छोड़ेगा। फिर हम कैसे उसे बचा सकेंगे? उसका प्रारब्ध उसे फिर उसी पापाचार में रख देगा।"

एक दिन प्रात:काल एक व्यक्ति बाबा के आश्रम में गए। बाबा के एक भक्त से उनका परिचय था। भक्त ने उस व्यक्ति की विपन्नता की बात बाबा को बताते हुए उस व्यक्ति का उद्धार करने के लिए निवेदन किया। बाबा ने एक कथा

सुनाई, ''वैकुण्ठ में बैठे हुए नारायण और लक्ष्मी एक दिन बातचीत कर रहे थे। लक्ष्मी ने कहा, ''प्रभु, तुमने इस विश्व चराचर की सृष्टि अवश्य की है, परन्तु मनुष्य तुम्हें पाने के लिए अधिक व्याकुल नहीं है। वास्तविक रूप में वे मुझे ही चाहते हैं।'' कुछ तर्क-वितर्क के बाद निश्चय हुआ कि इस बात की सत्यता परखी जाय। मर्त्यलोक के एक दानी के घर दोनों उपस्थित हुए। लक्ष्मी महल में प्रविष्ट हो गईं और नारायण ने एक दरिद्र ब्राह्मण के वेश में भवन से संलग्न बगीचे की एक झाड़ी में आश्रय किया।

''सेठ के घर में लक्ष्मी सभी द्रव्यों का स्पर्श कर रही थीं और वह स्वर्ण में परिवर्तित होता जा रहा था। खाट, आलमारी, खाद्य-सामग्री······सभी कुछ सोने में परिवर्तित हो गया। सेठ और उसके परिवार के उत्साह की सीमा नहीं थी। सारा घर स्वर्ण से भर गया। स्थान रहा ही नहीं, अब क्या किया जाय। उन्होंने निश्चय किया कि बगीचे में नया घर बनवा कर स्वर्ण रखने की व्यवस्था की जाय। इस कार्य के लिए सेठ के आदमियों ने ब्राह्मणवेषी भिखारी को निकालने की तैयारी की। वृद्ध ब्राह्मण (जो नारायण थे) की प्रार्थना पर भी वे नहीं पसीजे। अन्ततः यही देखा गया कि लक्ष्मी की बात ही यथार्थ है। लोग जगतस्रष्टा परम पुरुष को नहीं चाहते, आत्मज्ञान की परम प्राप्ति को भी नहीं चाहते, मात्र अर्थ, वैभव चाहते हैं जो बन्धन का प्रधान कारण है।''

आगन्तुक श्रीपाल से बाबा ने कहा, ''श्वाँस ही जीवन है और इतने वर्षों से बहुत सी श्वाँस को तुमने व्यर्थ के कामों में नष्ट कर डाला है। अब अवशिष्ट श्वाँसों को ईश्वर की भावना में लगाओ। इसी से प्रकृत कल्याण होगा और प्राणों में यथार्थ शान्ति मिलेगी।''

बाबा ने एक दिन कहा, ''मैं तो आज एक ही दवाई लेकर बैठा हूँ—भवरोग की दवाई। अभागा मनुष्य मेरे पास भव-बन्धन के लिए आकर खड़ा होता है। नई-नई आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए मेरे पास दौड़ा चला आता है। किन्तु मेरी असली दवाई की बात तथा परम मुक्ति की बात पर वह ध्यान नहीं देना चाहता।''

कुछ वर्षों पूर्व एक रोगग्रस्त मृतकल्प रोगी बाबा के आशीर्वाद से बच गया। इस रोग को बाबा अपने शरीर पर धारण किए हुए थे। भक्त सेवक ज्ञानानन्द ने एक बार बाबा का ध्यान इस ओर आकृष्ट किया था। बाबा ने कहा था, ''ज्ञानानन्द, वह हमारे तुणीर में एक ठो बाण है, जो हमको देहांत के रास्ते पर ले जाएगा।''

इसी बाण को एक दिन इस अद्वैत ब्रह्मज्ञानी ने तुणीर से बाहर निकाला जिससे शरीर काल व्याधि से आक्रान्त हो गया। कुछ दिनों के भीतर ही यानी २४ अगस्त १९६१ को आत्मज्ञान का यह आलोक स्तम्भ सदा के लिए बुझ गया।

●

तिब्बती बाबा

शिव चतुर्दशी की पुण्य तिथि थी। बालक नवीनचन्द्र को ठाकुर घर में पूजा-सामग्री की रखवाली का जिम्मा सौंप कर माँ तालाब में स्नान करने चली गई थीं। सारे दिन भाग-दौड़ से थके नवीन को नींद आ गई। माँ ने लौटकर देखा, कई चूहे नैवेद्य की थाली पर चढ़कर चावल और केले खाने में जुटे हैं। उनके आते ही लिंग विग्रह के ऊपर चढ़ते हुए बिलों में भाग गए। माँ ने नवीन को जगाया। डाँट लगाई—"तुम्हें सोने का कोई और समय नहीं मिला? देखो तो चूहों ने सभी नैवेद्य उच्छिष्ट कर दिया है। मुझे फिर से थाली सजानी होगी।"

थोड़ी देर तक मौन रहने के बाद बालक नवीन ने उत्तर दिया, "जो ठाकुर अपने भोग के चावल और केले की रक्षा नहीं कर सकते, उसकी पूजा का क्या फल होगा माँ?"

"क्या कुलक्षण की बात कर रहा है? अन्ततः नास्तिक हो जाएगा क्या?"

"मैं उस ईश्वर की बात सोचता हूँ माँ, जो जल, थल, अंतरिक्ष तथा अनंत कोटि ग्रह, ताराओं में विद्यमान हैं। ईश्वर को इस घर में बैठाए रहने का मेरा मन नहीं करता।"

"इतनी बड़ी-बड़ी बातें कहाँ से सीख गया तू?" माँ ने हँसते हुए कहा।

इसी बीच पुरोहित स्मृतिरत्न ने कमरे में प्रवेश किया। उन्होंने कहा, "नवीन बड़ी-बड़ी बातें नहीं कर रहा है, अपने संस्कार के अनुरूप बातें कर रहा है। उसके सारे शरीर में अपूर्व सात्विक चिह्न विद्यमान हैं। पूर्व जन्म के त्याग-वैराग्यमय साधन संस्कार लेकर ही इसने जन्म ग्रहण किया है। मुझे विश्वास है कि बड़ा होकर यह वंश का नाम उज्ज्वल करेगा।"

नवीन की माँ ने कहा, "पुरोहितजी, एक ज्योतिषी ने मेरी हस्तरेखा देखकर भविष्यवाणी की थी, माँ, तुम्हारे छठें गर्भ से एक पुत्र जन्म लेगा जो संसारत्यागी महात्मा बनेगा। नवीन मेरी वही सन्तान है।"

ज्योतिषी की भविष्यवाणी सही हुई। इस घटना के दो वर्षों बाद ही बालक नवीन ने सांसारिक मोह-माया त्याग दी और तिब्बती बाबा के नाम से प्रसिद्ध हुए।

बंगलादेश में सिलहट जिले के अधुना नामक गाँव में सन् १८२० में तिब्बती बाबा ने जन्म लिया था। पिता रामचन्द्र चक्रवर्ती एक साधारण जमींदार थे। धार्मिक कार्यों में इस परिवार की काफी रुचि थी। माँ भी काफी भक्तिमती थीं। नवीन चन्द्र का मन पढ़ाई-लिखाई में नहीं लगता था। आध्यात्मिक सवाल तथा सृष्टि का रहस्य उन्हें मथ रहा था। एक दिन नवीन ने माँ से कहा, "मैं यह भी समझ रहा हूँ कि संसार का त्याग किए बिना मेरे जीवन की जिज्ञासाओं का उत्तर नहीं मिलेगा।"

"घर में बैठकर क्या धर्म नहीं होता" माँ ने कहा, "शास्त्र-पाठ करो, साधन-भजन करो, उसी से तुम्हें परम वस्तु का लाभ होगा।" लेकिन जब नवीन ने माँ की बात नहीं मानी तो उन्होंने कहा, "तुम ईश्वर के संधान में जा रहे हो तो मैं बाधक नहीं बनूँगी। आशीर्वाद देती हूँ कि कुल को पवित्र और उज्ज्वल करो।"

"माँ, तुम्हारी इतने दिनों की देव-पूजा सार्थक है, तुम महान हो।" कहते हुए नवीन ने माँ को साष्टांग दण्डवत किया और परिजनों से विदा लेकर उसी रात घर से निकल पड़े।

नवीनचन्द्र परिव्राजन करते हुए गंगातट स्थित सिद्धपीठ कालीघाट गए। यहीं आदिगुरु की तलाश पूरी नहीं होगी तो पश्चिम की ओर अग्रसर होंगे। उन्होंने सोचा था।

कलकत्ता उस समय एक साधारण नगर था। भवानीपुर जंगल से घिरा था। इसी ग्राम के एक अंचल में भागीरथी के तट पर सिद्धपीठ कालीघाट अवस्थित था। कुछ दिनों तक इस क्षेत्र में घूमने-फिरने के बाद नवीन गया आ गए। दीनदयाल उपाध्याय गया के शीर्ष कविराज और शास्त्रविज्ञ पण्डित थे। एक दिन जब उनकी नजर नवीनचन्द्र पर पड़ी तो बोला, "बेटा, तुम्हारे मुख पर प्रतिभा की दीप्ति है। भविष्य में तुम कर्मठ (कृती) पुरुष के रूप में सर्वत्र सम्मानित होगे। इस तरह घूम-फिर कर अपना अमूल्य जीवन नष्ट क्यों कर रहे हो? मेरी कुटिया में आकर निवास करो तथा दर्शन एवं आयुर्वेदशास्त्र की शिक्षा प्राप्त करो, इससे तुम्हारा मंगल होगा।"

"परन्तु मैं तो बैठे-बैठे बिना किसी कार्य के आपका अन्न-भक्षण नहीं कर पाऊँगा। इसके अलावा गृहस्थ के अन्न की भिक्षा ग्रहण करने का मेरी माता का निषेध भी है।" नवीन ने कहा।

"ठीक है बेटा," कविराजजी ने कहा, "मेरे औषधालय में एक कर्मचारी की आवश्यकता है। तुम उसमें कार्य करो। उसके पारिश्रमिक के रूप में तुम मेरे घर भोजन कर लिया करना। एक अर्थकारी वृत्ति को सीख लेना तुम्हारे लिए लाभप्रद होगा। तुम उपार्जन करते हुए अपने भोजन की व्यवस्था भी करोगे।"

नवीन राजी हो गए। उनके पास के पैसे भी खत्म होने को आए थे। माँ द्वारा दिया गया टट्टू घोड़ा भी गंगा पार करने से पूर्व ही त्याग दिया था। कुछ पैसे चोरी हो गए थे। इस नौकरी से उन्हें आयुर्वेद का कुछ ज्ञान भी हो जाएगा। इससे वे परोपकार भी कर सकेंगे और कुछ आय भी होगी। नवीन ने सोचा।

उपाध्यायजी के पास रहते तीन साल बीत गए। अब वे दुविधा में पड़ गए। आयुर्वेद की थोड़ी-बहुत जानकारी तो उन्हें हो गई थी लेकिन इससे उनका वह मकसद नहीं पूरा हो रहा था जिसके लिए उन्होंने गृह त्यागा था। एक दिन वे चुपचाप खिसक लिये और वाराणसी के मार्ग पर चल पड़े। कुछ दिनों की पैदल यात्रा के बाद वे वाराणसी पहुँचे। बाबा विश्वनाथ का दर्शन किया। साधुओं के मठों और अखाड़ों में घूमते रहे। इसके बाद वृन्दावन पहुँचे। यहाँ हर जगह 'जय राधे' की ध्वनि मुखरित हो रही थी। साधु कृष्ण और राधारानी की पूजा में आत्म-विभोर थे। पूरा वृन्दावन भक्तिरस से आप्लावित था। यमुनाघाट पर भ्रमण करते हुए नवीन की मुलाकात एक जमींदार के पुत्र जगन्नाथ चौधरी से हुई। धीरे-धीरे यह मित्रता घनिष्ठता में बदल गई। ज्ञात हुआ कि नवीन की तरह उसके मन में भी वैराग्य की भावना उत्पन्न हो चुकी है और उसे भी किसी समर्थ गुरु की तलाश है जिससे संन्यास की दीक्षा ले सके।

जगन्नाथ नवीन को लेकर एक कापालिक के यहाँ गए। ये शक्ति साधक वृन्दावन के दूसरी तरफ, यमुना के उस पार धारवाड़ के निर्जन जंगल में रहते थे। वहीं धूनी रमाकर तपस्या कर रहे थे। चर्चा थी कि इनमें मृत व्यक्ति को जिन्दा करने की शक्ति है। वे कृष्ण वर्ण तथा अजानु लम्बित बाहु वाले एक भीमकाय, रक्तवर्ण नेत्र, रुक्ष जटाओं वाले देदीप्यमान शक्तिपुरुष थे—साक्षात कालभैरव के मूर्त रूप। उस दिन साष्टांग दण्डवत और दर्शन करने के बाद दोनों लौट आए।

थोड़े ही दिनों बाद चौधरी भागते हुए नवीन के पास आए। उत्साहपूर्वक बोले, "हम दोनों के जीवन में बड़ा सुयोग आ गया है। महात्मा से अभी मिलकर आ रहा हूँ। वह परसों रात में अमावस्या के मध्य प्रहर में शक्ति साधना की विशेष क्रिया करेंगे। इसके बाद शव देह में जीवन का संचार करने के बाद इस क्रिया की समाप्ति होगी। इस अवसर पर उपस्थित रहने की हमें अनुमति दी है। हम लोगों को यमुना में स्नान करके तथा नवीन वस्त्र धारण करके जाना होगा। हो सकता है हमें उसी समय दीक्षा दे दें।"

चौधरी और नवीन निर्धारित समय से पहले ही धारवाड़ जंगल में पहुँच गए। मन्दिर में प्रवेश करने के बाद देखा कि भीतर के कक्ष में मशाल जल रही है। कापालिक का चेहरा भयानक और उग्र है। उसके गले में हड्डी की माला तथा ललाट पर बहुत बड़ा रक्त चन्दन का टीका है। कारणवारि पान करने के बाद नेत्र

रक्ताभ हो उठे हैं। इन लोगों को देखते ही बोले, ''तुम लोग आ गए हो, यह बड़ा अच्छा हुआ। दोनों आसनों पर बैठ जाओ।'' दोनों ने आसन ग्रहण कर लिया।

कापालिक ने एक दीपाधार नवीन को पकड़ाते हुए कहा, ''ध्यान रखना कि यह दीप बुझने न पाए। तेल खत्म हो जाएगा तो भाण्ड में रखा हुआ तरल पदार्थ डाल देना।'' दीप की दुर्गंध से नवीन विचलित हो गया। उसे देखकर कापालिक ने कहा, ''यह मृतक के माथे की चर्बी है। इसी कारण थोड़ी दुर्गन्ध आ रही है। दरअसल इस अनुष्ठान में तेल अथवा घी का प्रयोग वर्जित है।''

गर्भ-गृह में दीवार से टँगी दो मोटी रस्सियों के बारे में कापालिक ने कहा, ''यह रस्सी मन्दिर के गर्भ तक सीढ़ी की तरह चली गई है। मंत्र द्वारा जीवित एक शव इसी रस्सी के सहारे धीरे-धीरे अवतरण करेगा और तुम लोगों के पास आएगा। घबराना नहीं।''

अब कापालिक मन्दिर के गर्भ-गृह में प्रवेश करके गम्भीर स्वर में थोड़ी देर तक मंत्रोच्चारण करते रहे। क्षण भर बाद ही मन्दिर के विस्तृत कक्ष में एक अप्रत्याशित दृश्य प्रकट हुआ। दोनों रस्सियों के सहारे एक कृष्ण वर्ण मनुष्य का शव आ रहा है। इस शव में जीवन के लक्षण भी दिखाई दे रहे हैं। उसके दोनों हाथों में दो बड़े खड्ग हैं। यह शव उत्तेजित होकर विचित्र शब्दों का उच्चारण कर रहा है।

नवीन और चौधरी बुरी तरह डर गए। चौधरी हट्टाकट्टा युवक था। उसने डाली के ऊपर रखे खड्ग को उठाया और रस्सी के सहारे शव ऊपर आ रहा था उस पर जोरदार प्रहार करके उसे काट दिया। फिर दोनों गर्भगृह से निकल कर मन्दिर के प्रांगण में आ गए और भाग निकले। कापालिक इससे काफी क्रोधित हुआ और हाथ में मशाल लेकर दोनों को पकड़ने के लिए दौड़ा। दोनों लोग भागते-भागते खरोपा के जंगल के छोर पर आ गए। इसके बाद यमुना में छलाँग लगाई और तैरकर इस पार वृन्दावन तट पर आ गए। कापालिक निराश होकर बीच से ही लौट चुका था।

रात का आखिरी पहर था। ये लोग एक झोपड़ी के पास पहुँचे। भगवान का भजन गाते-गाते एक साधक बाहर निकला। साधक ने यहाँ आने का प्रयोजन पूछा तो युवकों ने रात में घटी पूरी घटना कह सुनाई। बाबा ने कहा, ''बेटा, तुम लोगों का भाग्य ठीक था। मौत के मुँह में जाते-जाते बचे हो। वह एक नर-घातक कापालिक है। उसने नौ नरमुण्डों का संकल्प ले रक्खा है ताकि नवमुण्डी आसन पर तपस्या करके सिद्धि प्राप्त कर सके। उसे कुछ सिद्धियाँ प्राप्त हैं। वह शव के साथ कुछ बाजीगरी दिखाकर भी अपने कुकर्म सिद्ध करता है।''

जगन्नाथ चौधरी ने जब घर जाकर यह कथा अपने पिता को बताई तो वे काफी क्रोधित हुए। क्षेत्र के प्रभावशाली जमींदार थे। उन्होंने अपने साथ कई

लोगों को लेकर इस कापालिक की खोज में जंगल में प्रवेश किया। किन्तु कापालिक का कहीं पता नहीं चला। मन्दिर में रात की सारी वस्तुएँ इधर-उधर बिखरी हुई थीं। कापालिक गायब हो चुका था।

नवीनचन्द्र ने कुछ समय वृन्दावन में बिताने के बाद परिव्राजन आरम्भ किया। कुरुक्षेत्र, पुष्कर, ज्वालामुखी होते हुए वह कश्मीर के प्रसिद्ध तुषार तीर्थ अमरनाथ पहुँचे। वहाँ से वापसी के समय उनकी भेंट एक सिद्ध योगी से हुई। योगी ने कुछ दिनों तक अपने पास रखकर उन्हें योग साधना की अनेक क्रियाएँ सिखाईं। कुछ दिनों बाद योगेश्वर ने नवीन से कहा, ''बेटा, अब मैं यहाँ से डेरा-डण्डा उठाऊँगा, तुम्हें भी अब मेरा साथ छोड़ना होगा।''

नवीन ने योगी से प्रार्थना की कि वे उन्हें स्वयं से विमुख न करें। लेकिन योगी ने ऐसा करने में असमर्थता व्यक्त करते हुए कहा कि, ''मैं तुम्हारा गुरु नहीं हूँ। तुम्हारे गुरु तिब्बत में हैं। तुम अब उसी तरफ परिव्राजन आरम्भ करो। लेकिन तिब्बत में प्रवेश करना बहुत कठिन होगा। तुम पहले नेपाल जाओ। वहाँ के प्रधानमंत्री मेरे भक्त हैं। मेरा नाम लेकर उनसे मिलना, वे तुम्हारी तिब्बत-यात्रा का प्रबन्ध करेंगे।''

नवीनचन्द्र नेपाल पहुँचे। वहाँ के प्रधानमंत्री ने व्यापारियों की टोली के साथ उन्हें तिब्बत में प्रवेश की व्यवस्था कर दी। कुछ दिनों तक नेपाल के मन्दिरों तथा साधना-पीठों का दर्शन करने के बाद वे तिब्बत चले गए। काफी खोजबीन के बाद उन्हें पता चला कि एक पर्वत की गोद में भरत गुहा अवस्थित है, वहीं एक शैव साधक रहते हैं। दुर्गम चढ़ाई पार करके नवीनचन्द्र इस साधक के पास पहुँच गए। इस शैव तांत्रिक साधक का नाम था—परमानन्द ठक्कर। योगबल और तंत्र-सिद्धि से प्राप्त दिव्य शक्ति के सहारे बाबा ने कई सौ साल तक शरीर धारण किया था। इन्हीं महात्मा से नवीनचन्द्र ने दीक्षा ग्रहण की और अपनी साधना के बल पर अल्पकाल में ही तिब्बती बाबा के नाम से प्रसिद्ध हो गए।

तिब्बती बाबा के गुरु तंत्र एवं योग युग्म रश्मियों के धारक थे। तिब्बती बाबा को उन्होंने इन दोनों साधनाओं में पारंगत बना दिया था। शिष्य के साधन जीवन के मूल में पूर्व जन्मों के सात्विक संस्कारों की भी दृढ़ भित्ति थी। इसके अलावा साधना के प्रति उनकी अखण्ड निष्ठा थी। इसीलिए शुद्ध-सत्व एवं शक्तिमान इस तरुण के आधार पर अकृष्ण भाव से अपने साधन ऐश्वर्य को ढालने लगे।

सात वर्ष की कठोर साधना की समाप्ति पर ठक्कर बाबा ने कहा, ''वत्स, तुम्हें मैं अपने हृदय से आशीर्वाद देता हूँ। अब तुम आप्तकाम हो चुके हो। अब तुम तिब्बत के जाग्रत देवस्थान एवं साधना पीठों में बैठ कर तपस्या करो और पूर्ण आत्मज्ञान का लाभ करो।''

इसी परिव्राजन काल में वे स्थानीय लोगों में तिब्बती बाबा के रूप में प्रचलित हो गए। उनका प्रभाव उच्च स्तर के लामाओं जैसा ही हो गया।

स्वनामधन्य पण्डित सत्यचरण शास्त्री महाशय एक बार परिव्राजन हेतु तिब्बत गए थे। एक तिब्बती मठ के मठाधीश लामा ने इनके बारे में शास्त्रीजी से चर्चा की थी। सिक्किम महाराज के लामा गुरु की पूजा-वेदी पर तिब्बती बाबा का चंदन मालायुक्त चित्र स्थापित है। एक सज्जन के प्रश्न करने पर इस चित्र को माथे से लगाकर लामा गुरु ने कहा, ''हम लोगों में जिन लोगों ने इस महात्मा को देखा है, वे इनकी पूजा करते हैं। बहुत से तिब्बती साधक तथा गृहस्थ इनको एक परमश्रद्धेय लामा ही मानते हैं। काफी दीर्घ-अवधि तक तिब्बत में रहने के कारण वे इस देश के वासियों के लिए आत्मीय हो गए हैं।'' तिब्बती बाबा लगभग बत्तीस वर्षों तक तिब्बत में रहे। इस दौरान उन्होंने न केवल प्राचीन योगियों के सान्निध्य का लाभ लिया वरन् सिद्ध लामा एवं बौद्ध तांत्रिकों के घनिष्ठ सम्पर्क में आए और उनसे साधना की निगूढ़ क्रियाएँ सीखीं। इसी दौरान उन्होंने आयुर्वेद में भी निपुणता हासिल की। अन्तिम सात वर्षों में बाबा ध्यान की गहराइयों में निमज्जित हो गए। कभी गगनचुम्बी हिम मण्डित गिरि गुहाओं में, कभी निर्झरणियों के किनारे और कभी घने जंगलों में बैठकर तपस्या करते। कुछ तिब्बतवासी उन्हें पागल बाबा कहकर भी पुकारते। पूर्ण मनस्काम होने के बाद वे मध्य एशिया की यात्रा पर निकल पड़े। कैलाश के निकट च्याँट्याँ क्षेत्र से ही इनकी पदयात्रा आरम्भ हुई। इस परिव्राजन के सम्बन्ध में एक भक्त अमियलाल मुखोपाध्याय ने आकर्षक वर्णन किया है—

''च्यांग् ट्यांग से तिब्बती बाबा विदेशी साथियों के साथ प्राचीन काल के प्रशस्त उत्तरगामी वाणिज्य पथ से मंगोलिया की राजधानी उर्गा नगर की ओर अग्रसर हुए। योग पारंगत होने से विजातीय भाषा-भाषियों के साथ व्यवहार में कोई असुविधा नहीं हुई। उर्गानगरवासी गणों ने भी इसी श्रेणी के एक भारतीय हिन्दू पर्यटक को अतिथि रूप में पाकर अपने को कृतार्थ अनुभव किया और उनकी इच्छानुसार उन्हें साइबेरिया भ्रमण में भी सुविधा तथा सुयोग प्रदान किया।

''तिब्बती बाबा ने इस स्थान से उत्तर स्थित साइबेरिया में प्रवेश किया। उर्गा से पेमात् चीन होकर प्राचीन राजपथ उत्तर और बैंकाक झील तक गया है। इसी झील के निकट एक पर्वत के ऊपर विशाल यज्ञभूमि है। वहाँ बुरकान देवता के लिए भारतीय वैदिक अश्वमेध-यज्ञ जैसा यज्ञ समय-समय पर अनुष्ठित होता है। यज्ञ के वृहद कुण्ड में अग्नि प्रज्वलित करके उसमें चारों पैर बाँध कर जीवित अश्व की आहुति दी जाती है और उसके साथ ही तारासुन नामक देशी सुरा भी डाल दी जाती है। इस क्षेत्र में वैदिक वज्र देवता इन्द्र भी विभिन्न नामों से पूजित हैं। चीन में भी पुरातन काल में इसका उल्लेख मिलता है।

''तिब्बती बाबा साइबेरिया से पूर्व चीन आए। वे कैलाश से काराकोरम, क्विलिन, आलटिन इत्यादि पर्वतीय रास्तों का संकट झेलते हुए दुर्गम जंगलों से पूर्ण तथा हिंस्र जन्तुओं की वासभूमि तथा पर्वतीय नदी-नालों को पार किया। चांट्यांग होते हुए उर्गा पहुँचने तक लगभग तीन हजार मील की पदयात्रा की।

''बहुत साल बाद कलकत्ता में रहते समय एक बार तिब्बती बाबा की झोली से रूसी, चीनी तथा मंगोलियन भाषा में लिखे अनेक पत्र तथा मानपत्र निकले थे।''

बाबा लगभग बीस वर्षों तक कलकत्ता तथा उसके आसपास के क्षेत्रों में रहे। चीन, मंगोलिया तथा साइबेरिया के भ्रमण के दौरान करीब ६ हजार मील की पदयात्रा की। इसके बाद बर्मा आ गए। अकिंचन और अपरिग्रही बाबा ने एक भक्त से कहा, ''तिब्बती लामाओं से भेषज विद्या तथा द्रव्य गुण की जो जानकारी सीखी उसी से मध्य एशिया भ्रमण में अपनी प्राण-रक्षा कर सका।'' परिव्राजन के दौरान असाध्य रोगों की चिकित्सा से भी कुछ आय हो जाती।

बाबा ने एलोरा के राजा को भी असाध्य रोग से छुटकारा दिला कर पुनर्जीवन दिया था।

हैदराबाद के निजाम द्वारा अपने प्रासाद में आयोजित धर्मसभा में भाषण देते हुए तिब्बती बाबा ने कहा, ''हिन्दू धर्म कोई साम्प्रदायिक धर्म नहीं है, वरन् यह सनातन धर्म है। हमारे सत्यद्रष्टा ऋषियों ने मानवात्मा एवं परमात्मा के अभेदत्व तथा ऐक्य का ही प्रतिपादन किया है। सत्य सर्वदा अपरिच्छिन्न एवं अविभाज्य है—इस आदर्श को प्रस्तुत करने में अन्य धर्मों—जैसा इसमें विरोधाभास नहीं है। मेरा धर्म यह स्पष्ट घोषणा करता है कि अविद्या हननकारी, वह परमात्मा जीवदेह में हंस रूप में विराजमान है। जो कुछ भी ऊपर, नीचे, दक्षिण या बाईं ओर, सम्मुख या पीछे है, वे वही हैं—स एवदः सर्वः। सब कुछ वही है। उन्हीं का स्वरूप मैं हूँ और मैं ही सब कुछ हूँ। अहमे वेदः सर्वः। हम लोगों का धर्म निर्भीक भाव से यह घोषणा करता है—मैं आत्मस्वरूप हूँ, मैं स्वाधीन हूँ। किसी से भय करने का मुझे कोई प्रयोजन नहीं है। मात्र इतना ही नहीं, वरन् मैं ही अविनाशी परम सत्य हूँ।'' बाबा का भाषण उपस्थित जनों ने मंत्रमुग्ध होकर सुना। सभा के समापन पर स्वयं निजाम बाबा के समक्ष आए और बार-बार अपनी श्रद्धा के सुमन उनपर अर्पित किए। जब उन्होंने बहुमूल्य खिल्मअत प्रदान करने का प्रस्ताव किया तो बाबा ने कहा—''निजाम बहादुर, आपके इस प्रस्ताव के लिए धन्यवाद, परन्तु ये सब वस्तुएँ तो ग्रहण करना मेरे लिए सम्भव नहीं है। वास्तविक साधु और गृहस्थ के मनोभाव में काफी अन्तर है। आप जिसे धन, ऐश्वर्य के नाम से पुकारते हैं, वह मेरी दृष्टि में बंधन मात्र के सिवा कुछ नहीं है।''

मद्रास क्षेत्र में थोड़े दिनों तक निवास करने के बाद बाबा उत्तर भारत चले आए। नैमिषारण्य, अयोध्या आदि तीर्थस्थलों का भ्रमण करने के बाद काशीधाम आए। एक दिन तिलभाण्डेश्वर के पास की गली में घूम रहे थे। सहसा एक ब्रह्मचारी वेशी भीमकाय साधक सामने आ खड़ा हुआ। प्रणाम निवेदित करने के बाद कहा, "बाबा, मैं मुमुक्ष होकर देश-देशान्तर में भ्रमण कर रहा हूँ। आपको देख कर मुझे प्रतीत हो रहा है कि आप ही मेरे निर्दिष्ट गुरु हैं। कृपा करके मुझे दीक्षा दें, जिससे यह जीवन सफल हो।"

बाबा ने कहा, "देखते ही सद्गुरु की पहचान हो गई? तुम तो बाबा खूब चतुर हो! दीक्षा शिक्षा लेने से पहले ही तुमने उसका फल प्राप्त कर लिया है और शक्तियाँ भी अर्जित कर ली हैं।"

"अपने चक्षुओं से नहीं वरन् आप जैसे एक सिद्ध महात्मा के चक्षुओं से मैंने आपको पहचान लिया है। कुछ दिन पूर्व हिमालय क्षेत्र में परिव्राजन कर रहा था। वहीं बड़े रहस्यमय ढंग से इन महात्मा से परिचय हुआ। उन्होंने ही कहा— "जल्दी काशीधाम पहुँचो। पहुँचने के दूसरे ही दिन तुम्हें अपने निर्दिष्ट गुरु का दर्शन मिल जाएगा। पहचानने में तुम्हें कोई कष्ट नहीं होगा।" उसके बाद उन्होंने चेहरे का भी वर्णन किया और उसी से आपका चेहरा हूबहू मिल गया। इसीलिए तो कृपा-भिक्षा चाहता हूँ।"

"अच्छी बात है, परन्तु बाघ से लड़ाई करने का शौक अकस्मात मिट कैसे गया?"

"बाबा, यह बात सत्य है कि मैंने अपने शारीरिक बल के गर्व के नशे में बाघों से लगातार लड़ाई की है। पता नहीं, मेरा वह नशा एक दिन अनायास लुप्त कैसे हो गया। अब मन के व्याघ्र को पददलित करने की सोच रहा हूँ। परन्तु इस कला से तो मैं सर्वथा अनभिज्ञ हूँ।"

"वन का बाघ ही अच्छा था रे। मन के बाघ पर लगाम लगाना अधिक कठिन है। जानते हो, वायु पर विजय प्राप्त करके मन को वश में करना होता है। यह बाघ तो वायु नहीं, सिंह है। वश में आते ही तुम सिद्धि के द्वार में पहुँच जाओगे, वश में न आने पर कभी-कभी इसी के हाथों प्राण भी विसर्जित कर देने पड़ते हैं।"

"इसीलिए तो आपकी शरण में आया हूँ।"

"शिष्य के कान कभी-कभी जोर से ऐंठने पड़ते हैं। उस समय पलायन तो नहीं कर जाओगे?"

"एक बार चरणों में आश्रय देकर परीक्षा लीजिए।"

"घबराओ नहीं, तुम्हारा कार्य होगा। जिन महात्मा ने तुम्हें मेरे पास भेजा है उनसे मैं भिज्ञ हूँ। इतनी देर से यहाँ पर तुम्हारी ही प्रतीक्षा कर रहा था।"

इस मुमुक्ष का नाम श्यामाकान्त मुखोपाध्याय था। यह ढाका का रहने वाला था। अद्‌भुत बलशाली था। इसकी एक सर्कस पार्टी थी, जिसमें बाघ से मल्लयुद्ध कर अद्‌भुत शौर्य का प्रदर्शन करता था। अचानक इस संसार से मोहभंग हो गया और मुक्ति के मार्ग पर चल पड़े। हिमालय की तराई में एक महात्मा से मुलाकात हुई। महात्मा ने श्यामाकान्त की शक्ति की प्रशंसा की तो वे गर्व से फूले नहीं समाए। महात्मा ने अपना चिमटा जमीन में गाड़ कर उसे उखाड़ने को कहा। श्यामाकान्त ने पूरा जोर लगाया लेकिन वह टस से मस नहीं हुआ। अन्ततः हार गए। महात्मा ने स्नेहपूर्वक कहा, "बेटा, तुम देख चुके कि तुम्हारी शारीरिक शक्ति कितनी नगण्य है।"

श्यामाकान्त का गर्व चूर हो चुका था। वे महात्मा के चरणों में गिर पड़े और आश्रय तथा दीक्षा की याचना की। महात्मा ने उन्हें काशी में रह रहे तिब्बती बाबा की शरण में जाने का निर्देश दिया।

तिब्बती बाबा ने श्यामाकान्त को संन्यास दीक्षा दी। १८९९ में दीक्षा देने के बाद उनका नाम रखा—सोहं स्वामी। इसके बाद तपस्या का अध्याय शुरु हुआ। तपस्या इतनी कठोर कि आहार और निद्रा का भी ख्याल नहीं। मल-मूत्र का भी ख्याल नहीं। स्वयं तिब्बती बाबा अपने शिष्य की मल-मूत्र की सफाई करते। ६ महीने बाद इन्हें साधना के बारे में कुछ निर्देश देकर तिब्बती बाबा चले गए। सोहं स्वामी भी परिव्राजन पर निकल पड़े। अन्ततः साधनारत अवस्था में नैनीताल के समीप गेटिया गाँव स्थित अपने आश्रम में उन्होंने शरीर का त्याग किया।

तिब्बती बाबा कलकत्ता को केन्द्र बनाकर इधर-उधर भ्रमण करते रहे। मधुपुर उनका प्रिय स्थान था। उसी के समीप रहने वाले सतीश बन्धोपाध्याय नामक एक पत्रकार बाबा के काफी करीब आ गए। उन्होंने बाबा के जीवन दर्शन का अध्ययन किया। उनका कहना था कि बाबा निरीश्वरवादी अथवा शून्यवादी बौद्ध थे या उसी तरह के कोई साधक। ईश्वर के सम्बन्धों में प्रायः मौन रहते और आत्मचिंतन को प्रधानता देते। इनके जीवन का दूसरा पहलू जनकल्याण था। द्रव्यगुण के ऊपर उनका असाधारण अधिकार था। इसी से असाध्य रोगों की चिकित्सा किया करते। औषधि के रूप में कभी-कभी उन्हें कृष्ण साँड़ का चमड़ा, बादुर का मांस और भैंसे के सींग आदि का व्यवहार करते देखा गया। एक कुष्ठ रोगी का रोना-धोना देख कर बाबा ने बाजार से एक हाँड़ी मँगाई। उसमें कुछ औषधियों के साथ मांस डाल कर जमीन के नीचे गड़वा दिया। कुछ दिनों बाद हाँड़ी निकाली गई। उसमें से भयंकर दुर्गन्ध उठ रही थी। कुछ दिनों तक व्यवहार करके कुष्ठ रोगी को ठीक कर दिया। चिकित्सा के क्षेत्र में वे धन्वंतरि के स्वरूप थे।

तिब्बती बाबा वर्धमान के पालितपुर में थे। वहाँ के रहने वाले एक सज्जन थे भूतनाथ दा। उनका पुत्र यकृत की गड़बड़ी तथा ज्वर के कारण कंकाल-मात्र रह गया था। डॉक्टरों ने जवाब दे दिया था। वे लोग पुत्र को लेकर बाबा के पास आए। बाबा उनके आर्तनाद से द्रवित हो उठे। उन्होंने एक सफेद रंग का भेंड़ का बच्चा मँगाया। पूरी रात एक तांत्रिक अनुष्ठान करते रहे। प्रातः होने पर देखा गया कि भूतनाथ का पुत्र तो स्वस्थ हो गया किन्तु भेड़ का बच्चा बीमार हो गया। पुत्र का रोग उसके भीतर स्थानान्तरित हो गया। कुछ देर बाद बाबा स्वयं भीषण ज्वर से आक्रान्त हो गए। उनका शरीर पीला पड़ गया? तभी लोगों ने देखा कि भेंड़ का शावक धीरे-धीरे स्वस्थ होता जा रहा है। कई घण्टे बाद बाबा भी स्वस्थ हो गए।

पालितपुर के जमींदार और भूतनाथ के प्रयास से पालितपुर में ही तिब्बती बाबा के लिए एक स्थायी आश्रम का निर्माण हुआ। नाम रखा गया प्रज्ञा मन्दिर। १८ नवम्बर १९३० ईस्वी को इसी आश्रम में बाबा ने १८२ वर्ष की अवस्था में शरीर-त्याग किया।

●

गोस्वामी लोकनाथ

श्री गौरांग के नवीन प्रेमभक्ति की लहर उत्तर बंगाल के तालखड़ी गाँव में भी पहुँच चुकी थी। तालखड़ी के संस्कृत टोल के तरुण पण्डित लोकनाथ चक्रवर्ती आनन्दित थे। गौरांग तो उनके घनिष्ठ मित्र थे जो विश्वम्भर मिश्र के नाम से अभिहित थे। दोनों समवयस्क थे। आचार्य अद्वैत के सान्निध्य में जब लोकनाथ भागवत का अध्ययन कर रहे थे उसी समय विश्वम्भर पण्डित गंगादास के टोल पर व्याकरण का पाठ कर रहे थे। वही विश्वम्भर गौड़ीय वैष्णवों के महानायक के रूप में आविर्भूत हुए जिन्हें श्रेष्ठ साधक साक्षात् भगवत्स्वरूप समझते थे। लोकनाथ ने संसार-त्याग का संकल्प लिया और वे नवद्वीप में उपनीत हुए।

गौरांग प्रभु अपने अलिंद में शिष्यों के बीच श्रीकृष्ण-लीला की चर्चा कर रहे थे तभी लोकनाथ वहाँ उपस्थित हुए। विरहातुर लोकनाथ एक कटे वृक्ष की तरह प्रभु के चरणों पर गिर पड़े। गौरांग प्रभु ने उन्हें प्रेमालिंगन में आबद्ध कर लिया। दोनों लोग आह्लादित थे। लोकनाथ के नयन, मन और प्राण मानो सार्थक हुए। प्रभु की आज्ञा से लोकनाथ घर चले गए, लेकिन रातभर सो नहीं सके।

दूसरे दिन जब लोकनाथ गौरांग प्रभु के पास आए तो उन्होंने उन्हें वृन्दावन जाने को कहा। लोकनाथ इस आदेश से बहुत दुःखी हुए। उन्हें वृन्दावन में कृष्ण तीर्थों के उद्धार का कार्य सौंपा गया जिसे तपस्या के साथ पूरा करना था। लोकनाथ प्रभु के आदेश के पाँच दिनों बाद वृन्दावन के लिए रवाना हुए। उनके साथ भूगर्भ भी गए।

वृन्दावन में श्रीकृष्ण लीला स्थलों के पुनरुद्धार के प्रथम पथिक थे गोस्वामी लोकनाथ। उनकी लगातार चेष्टा के परिणामस्वरूप ही सुदूर दुर्गम अरण्य में भक्तों का समागम शुरू हुआ। लोकनाथ द्वारा डाली गई नींव पर ही परवर्ती काल में रूप, सनातन और श्रीजीव प्रभृति-प्रतिभाशाली गोस्वामियों ने प्रेमधर्म के प्राण-केन्द्र वृन्दावन में गौड़ीय धर्म एवं संस्कृति का विराट सौंध खड़ा किया।

लोकनाथ गोस्वामी का एक और अवदान था नरोत्तम को दीक्षा देना जो बाद में गौड़ीय धर्म के अन्यतम प्राणपुरुष सिद्ध हुए। अनुमानित तौर पर १८८४ ईस्वी में यशोहर जिला के तालखड़ी ग्राम में गोस्वामी लोकनाथ का जन्म हुआ। उनके पिता का नाम पद्मनाभ चक्रवर्ती और माता का नाम सीता देवी था। पद्मनाभ

एक प्रख्यात पण्डित थे। उन्होंने नवद्वीप में रह कर विद्योपार्जन किया था और वैष्णवाचार्य श्री अद्वैत से वैष्णव धर्म में दीक्षित हुए थे। पद्मनाभ ने एक चतुष्पाठी (संस्कृत टोल) की स्थापना की। लोकनाथ इनकी तृतीय संतान थे।

बाल्यावस्था में लोकनाथ ने अपने पिता की चतुष्पाठी में ही शिक्षा ग्रहण की। १४ वर्ष की अवस्था में वे संस्कृत साहित्य और शास्त्र में निपुण हो गए थे। उच्चतर शिक्षा के लिए वे नवद्वीप गए। उन्होंने अपने पिता के गुरु अद्वैताचार्य के समक्ष भागवत का पाठ प्रारम्भ किया। गदाधर उनके अन्यतम सहयोगी थे। अद्वैत की शास्त्र-व्याख्या और वैष्णव-साधना से प्रभावित होकर लोकनाथ कृष्ण-भजन और कृष्ण तत्त्व-अध्ययन में अभिरुचि लेने लगे। कई वर्षों के उपरान्त वे भागवत-तत्त्व के आधिकारिक विद्वान हो गए। अब उनके अन्तर में कृष्ण-प्रेम की भावना जाग उठी। अतएव अद्वैताचार्य ने उन्हें कृष्ण-मंत्र की दीक्षा दी। इसी के साथ ही लोकनाथ के जीवन में दूरगामी परिवर्तन आ गया। अन्तर्मन में प्रेमाभक्ति का रस उत्पन्न होने पर वे साधना, तत्वानुसंधान और साधन-भजन में निविष्ट हो गए।

नवद्वीप में निवास के दौरान ही लोकनाथ की विश्वम्भर से घनिष्ठता हो गई। नवद्वीप में अध्ययन समाप्त कर लोकनाथ अपने गाँव लौट आए और चतुष्पाठी में अध्यापन कार्य करते हुए और एक विद्वान अध्यापक तथा कृष्ण-भक्त आचार्य के रूप में उन्होंने ख्याति अर्जित की। एक जनश्रुति के अनुसार विश्वम्भर एक बार तालखड़ी ग्राम में आए थे। लोकनाथ के पिता पद्मनाभ ने गाँव की सीमा पर जाकर उनकी अगवानी की थी और अपनी अतिथिशाला में रखा था। इस घटना के कई साल बाद विश्वम्भर श्री गौरांग प्रभु के नाम से विख्यात हुए।

लोकनाथ के गृह-त्याग को उनके पिता सहन नहीं कर सके और उनके वैराग्य ग्रहण करने के कुछ ही समय पूर्व इहलीला समाप्त कर दी। लोकनाथ ने अग्रहण महीने की एक रात को घर छोड़ा था और कृष्ण-कृष्ण का जाप करते चल पड़े थे। तीन दिनों तक पैदल चलने के बाद वे नवद्वीप में गौरांग प्रभु का दर्शन कर धन्य हुए थे। लेकिन इस दर्शन के मात्र पाँच दिनों बाद ही उन्हें वृन्दावन जाना पड़ा था।

लगातार तीन माह चलकर लोकनाथ और भूगर्भ वृन्दावन पहुँचे थे। दोनों ने मथुरा तथा ब्रजमण्डल के अनेक स्थलों का भ्रमण करना शुरू किया और इसके साथ ही शुरू हुआ श्रीकृष्ण के लीला-स्थलों के अनुसंधान का कार्य। शास्त्र, पुराण और जनश्रुतियों से संकेत पाकर उन लोगों ने अनेक स्थानों का सूक्ष्म निरीक्षण किया। मथुरा और वृन्दावन का बहुत बड़ा भाग उस समय जंगल

से आच्छादित था। मार्ग दुर्गम थे। तस्करों और दस्युओं का आतंक था। दोनों लोगों को कार्य-सम्पादन का कोई मार्ग दिखाई नहीं दे रहा था।

स्थानीय साधुओं के पास पुराण-वर्णित कृष्ण के लीला-स्थलों का उल्लेख अवश्य मिलता था परन्तु उनकी प्रामाणिकता जानने का कोई रास्ता नहीं दिखाई दे रहा था। सभी स्थान जंगल में परिवर्तित हो गए थे जिनमें जंगली जातियों ने अपना बसेरा बना लिया था।

वृन्दावन के लुप्त तीर्थों के दर्शन और उद्धार के लिए अद्वैताचार्य और नित्यानन्द प्रभु ने भी काफी चेष्टा की थी लेकिन उनका प्रवास बहुत कम समय तक रहा। इसके विपरीत लोकनाथ और भूगर्भ ने स्थायी रूप से रहने का संकल्प किया था। लेकिन इन लोगों को अनेक कष्टों का सामना करना पड़ रहा था। निद्रा और आहार का कोई ठिकाना नहीं था। श्रीकृष्ण के लीला-स्थलों का कोई चिह्न दृष्टिगोचर नहीं हो रहा था।

मथुरा का उल्लेख रामायण में भी मिलता है। महर्षि वाल्मीकि कहते हैं— ''इषं मधुपुरी रम्य मधुरा देव निर्मिता।'' यही मधुपुरी बाद में मधुराह हो गया और उसी का अपभ्रंश हुआ मथुरा। परवर्ती काल में दक्षिणात्यों ने मधुराई अथवा मदुरा नगरी का निर्माण किया। शास्त्र और पुराणों के अनुसार मधु दैत्य ने मधुराई की स्थापना की थी। उसके अनुज शत्रुघ्न ने मधुपुरी अथवा मधुरा पर अपना अधिकार जमाया। बाद में शूरसेन वंश के आर्यों ने यहाँ अपना निवास स्थापित किया और शक्तिशाली राजवंश के रूप में प्रसिद्धि प्राप्त की। इसी वंश में ययाति पैदा हुए जिनके पुत्र यमदुर को यादवों ने पराजित किया। इन्हीं यादवों की वृष्णिशाखा में अवतार लिया वासुदेव कृष्ण ने।

युधिष्ठिर ने हिमालय-यात्रा पर प्रस्थान से पूर्व श्रीकृष्ण के पौत्र वज्रनाभ को मथुरा मण्डल के राजा के रूप में राज्यारोहण किया। उसके उत्साह और प्रयास से श्रीकृष्ण के कतिपय विग्रहों का निर्माण हुआ जिनके नाम हैं—श्री गोविन्द, श्री मदनगोपाल एवं श्री गोपीनाथ। इसके बाद विग्रहों की अर्चना-पूजा की पद्धति प्रवर्तित हुई। इसके परिणामस्वरूप आम जनता के बीच ये विग्रह जाग्रत विग्रह के रूप में प्रतिष्ठित हुए। धीरे-धीरे भक्तों के प्रयास से भगवान श्रीकृष्ण के अनेक लीला-स्थल नवीन रूप में आविष्कृत हुए और इनकी गणना पवित्र तीर्थस्थलों में होने लगी।

परवर्ती काल खासतौर से कलियुग के प्रभाव से सभी विग्रह और तीर्थ लुप्त हो गए। बौद्ध और जैन धर्मों के प्रभाव से ब्रजमण्डल और मथुरा की धर्म-संस्कृति को जबर्दस्त आघात लगा। चीनी परिव्राजकों ने मथुरा का चित्रण एक बौद्ध नगरी के रूप में किया है। कालक्रम में मथुरा और ब्रजमण्डल की आबादी कम हो गई

और सम्पूर्ण अंचल अरण्य में परिवर्तित हो गया। वृन्दावन पौराणिक युग में एक वन के रूप में अवस्थित था। अनेकानेक साधु, महात्मा और भक्त अपने-अपने घरों का परित्याग करके इस जनपद के आसपास निवास करते थे। स्कन्दपुराण में वृन्दावन का उल्लेख मिलता है। इतिहासविद् श्री सतीशचन्द्र मित्र के अनुसार— चौरासी कोस की सीमा में यह विशाल वन अवस्थित है। अभी भी इसके बारह वन और चौबीस तपोवन तीर्थस्थान में परिणत हुए हैं। पूर्व काल में इन सभी में मुनियों के आश्रम थे। साधकगण स्वेच्छा से साधन-भजन करते थे और वनों के मध्य में आभीर प्रकृति उन्तत जातियों तथा अन्य जंगली जातियों की बस्तियाँ यत्र-तत्र फैली हुई थीं। सुदूर पश्चिम के सीमान्त गिरि-पथ द्वारा जब मुसलमानों की वाहिनी धन-वैभव लूटने की प्रत्याशा में भारत में प्रवेश करने लगी तो मथुरा की उपनगरी होने के कारण वृन्दावन को आक्रमण का परिणाम भुगतना पड़ा।

गजनीपति महमूद ने जब मथुरा को लूटा और देव-विग्रहों को भग्न कर दुर्भेद्य गगनचुंबी मन्दिरों को धराशायी किया तब वृन्दावन भी उसके प्रकोप से वंचित न रहा। वृन्दावन की परिक्रमा के अन्तर्गत एक वन का नाम है महावन। वहाँ का राजा महमूद से पराजित हुआ और उसने उसके चरणों पर गिर कर क्षमा-याचना की परन्तु उसकी रक्षा न हुई। जब उसने अपनी प्रजा की निर्मम हत्या देखी तो आत्महत्या कर ली। इससे मथुरा के बहुत से लोग पलायन कर गए।

१२वीं शताब्दी के अन्तिम समय में गौड़ाधिपति लक्ष्मण सेन के सभा पण्डित जयदेव जब वृन्दावन पधारे थे तो यह स्थान जंगल था। बंगालियों के लिए यह गौरव की बात है कि उन्होंने ही वृन्दावन के जंगलों को आबाद करके वहाँ भक्ति की नींव डाली थी। उस समय बंग-देश का स्वर्णिम युग था। इसी युग में श्री गौरांग देव का आर्विभाव हुआ नवद्वीप में। उनकी प्रारम्भिक अवस्था में ही उनकी अलौकिक शक्तियों के प्रभाव से सभी समस्याओं एवं विकारों का अभिनव समाधान हो गया। उन्हीं के प्रयास से वृन्दावन में बंगालियों का एक नवीन उपनिवेश स्थापित हो चुका था। उन उपनिवेशिकों का एकमात्र लक्ष्य था— भक्तिराज्य की स्थापना, भक्तिवाद की नींव डालना तथा लीला-धर्म का प्रवर्तन। इन्हीं के अग्रदूत थे गोस्वामी लोकनाथ और दूसरे ब्राह्मण श्री भूगर्भ गोस्वामी।

लोकनाथ के वृन्दावन पहुँचने के दो माह बाद ही गौरांग प्रभु ने संन्यास ग्रहण कर लिया और उनका नया नाम पड़ा श्री चैतन्य। पुरी में कुछ दिनों तक रहने के बाद श्री चैतन्य दक्षिण की यात्रा पर निकल पड़े। श्री चैतन्य के दर्शन के लिए लोकनाथ और श्री भूगर्भ भी दक्षिण भारत की ओर प्रस्थान कर गए। परन्तु श्री चैतन्य के दर्शन का सौभाग्य नहीं मिला।

इधर श्री चैतन्य पुराधाम में आकर प्रेमभक्ति आन्दोलन की नींव डाल रहे थे और इससे आकर्षित होकर भारी संख्या में वैष्णव साधकगण एकत्रित हो रहे थे। इसके बाद गौड़ जाकर प्रभु ने रूप और सनातन को आत्मसात किया। बाद में जब श्री चैतन्य वृन्दावन गए तो लोकनाथ और श्री भूगर्भ वहाँ नहीं थे। उस समय वे दोनों लोग दक्षिण में उनकी तलाश कर रहे थे। जब वे लोग दक्षिण की यात्रा से वापस वृन्दावन लौटे तो श्री चैतन्य प्रयाग प्रस्थान कर चुके थे। वे लोग तुरन्त प्रयाग के लिए चल पड़े। रात्रि में एक वृक्ष के नीचे आश्रय ग्रहण किया। लोकनाथ को स्वप्न में श्री चैतन्य ने दर्शन दिया और मधुर कण्ठ से बोले—

सदा तेरे पास है मेरा रहना
वृन्दावन छोड़ तुम कहीं न जाना॥
प्रयाग होकर जाऊँगा मैं नीलाचल।
सुन पाओगे तुम मेरा वृत्तांत सकला॥

(नरोत्तम विलास)

इस स्वप्न के बाद लोकनाथ ने वृन्दावन लौटने का निश्चय किया। लौटते समय वे ब्रजमण्डल के किशोरी कुण्ड के समीप पहुँचे। पवित्र कुण्ड में स्नान करते समय उन्हें श्री राधा विनोद के एक परम सुन्दर विग्रह की प्राप्ति हुई। इस विग्रह की सेवा और जप ही उनके जीवन का प्रधान उपजीव्य हो गया। अकिंचन लोकनाथ के लिए प्रभु की पूजा के उपकरणों की व्यवस्था असंभव थी। उनके पास तो एक पर्णकुटीर भी नहीं थी। वनवासी इन साधु को बहुत प्यार करते थे। एक दिन उन लोगों ने कहा, ''बाबाजी, आप तो स्वयं इधर-उधर घूमते-फिरते रहते हैं लेकिन ठाकुर को तो भली-भाँति रखना होगा। आपके लिए हम लोग एक झोपड़ी डाल देते हैं, उसमें रखकर ठाकुर की भली भाँति पूजा-अर्चना करें।'' लोकनाथ ने कहा, ''बाबा, जब तक मैं जंगलों में घूमता रहूँगा, तब तक ठाकुर भी मेरे साथ रहेंगे। मेरा निवास होगा वृक्षों के नीचे और प्रभु रहेंगे कोटरों में।'' प्रत्येक दिन लोकनाथ वन-तुलसी और वनफूलों का चयन कर और निविष्ट हो विग्रह पूजा सम्पन्न करते थे। वनों से कंद-मूल, शाक-पात और फल तोड़कर लाते और भगवान को भोग-राग प्रस्तुत करते। विग्रह को सुलाने के लिए पुष्प-शैय्या बनाते और उस पर सुलाने के बाद वृक्ष पल्लवों का चमर डुलाते। नित्य सेवा-पूजा और जप-ध्यान के पश्चात भूगर्भ को साथ लेकर पूरे दिन लुप्त, अज्ञात और प्रच्छन्न लीला-स्थलों का संधान करते। उन्होंने पके हुए पटुए के गुच्छों से निर्मित झोले में अपने विग्रह को स्थापित कर उस झोले को गले से लटका लिया और जंगलों में घूमते रहे।

लोकनाथ के पवित्र चरित्र, सेवा-निष्ठा, वैष्णवोचित दीनता और उनके प्रेमावेश को देखकर वनवासी लोग उनके प्रति आकृष्ट होने लगे। दूर के जनपदों

से लोग आने लगे। वे विग्रह की सेवा हेतु फल-फूल खरीद कर ले आते। प्रभु को आनन्द से भोग लगा कर लोकनाथ उन फलों को भक्तों और वनवासियों के मध्य वितरित कर देते। सेवा-पूजाजन्य कोई भी उपचार या भेंट वे एक दिन के लिए भी संचय नहीं करते। इस तपस्या और वैराग्यमय कर्मनिष्ठा का फल मिलना प्रारम्भ हो गया। लोकनाथ ने एक-एक करके कई लुप्तप्राय तीर्थों का उद्धार किया। भक्त समाज लोकनाथ की ओर श्रद्धा से देखने लगा। श्री चैतन्य ने ब्रजमण्डल में पधार कर अनेक तीर्थस्थलों और कुण्डों का आविष्कार किया था। इससे साधु-संन्यासियों और जनसाधारण में नवीन श्रद्धा का प्रादुर्भाव हुआ। कुछ दिनों बाद श्री चैतन्य ने पुरी से दो शास्त्रविदों रूप और सनातन को वृन्दावन भेजा। इससे लोकनाथ का कार्यभार बहुत कम हो गया। अब पूर्व की तरह उन्हें वन-प्रांतरों में दौड़ने की कोई जरूरत नहीं रह गई।

रूप और सनातन के साथ बैठकर लोकनाथ ने अपने द्वारा खोजे गए तीर्थस्थलों का शास्त्र और पुराणों के तथ्यों से मिलान किया। दोनों मनीषियों द्वारा अनुमोदन करने के बाद इनका प्रकटीकरण किया। इस अवधि में अनेक स्थलों का नए सिरे से नामकरण भी किया गया। बाद में रघुनाथ गोस्वामी की चेष्टा से श्यामकुण्ड और राधाकुण्ड का उद्धार हुआ और इसके साथ ही सम्पूर्ण ब्रजमण्डल में तीर्थों, विग्रहों और कुण्डों के महात्म्य का कार्य पूरा हुआ।

ब्रजमण्डल से सम्बन्धित एक अनुसंधानकर्ता श्री मद्नारायण भट्ट ने 'श्री ब्रजनाथ विलास' की रचना की है। इस ग्रन्थ में उन्होंने उल्लेख किया है कि प्रभु श्री चैतन्य के आदिष्ट कार्यों का उद्यापन करते हुए लोकनाथ गोस्वामी तीन सौ तैंतीस वनों और तीर्थों का आविष्कार करने में समर्थ हुए।

इसी बीच श्री चैतन्य का नीलाचल में निर्वाण हो गया। यह गौड़ीय भक्त समाज पर वज्राघात था। श्री चैतन्य महाप्रभु के निर्वाण की सूचना लेकर भक्त-प्रवर रघुनाथदास वृन्दावन आए थे।

वृन्दावन में जहाँ गोकुल आश्रम है, वहाँ पहले जंगलों के मध्य लोकनाथ कुंज था। उसी पथ से होकर थोड़ी दूरी पर सघन वृक्षों के पीछे एक सुनसान घर था। उसे सहज रूप में खोज करना सम्भव नहीं था। विशेष प्रयोजन नहीं रहने के कारण लोकनाथ भी अपने कुंज को छोड़ कर बाहर नहीं जाते। जिनके संधान में वे वृन्दावन आए थे, उसी की पूजा-अर्चना और ध्यान-धारणा में उनका समय व्यतीत हो रहा था। उस समस्त ब्रजमण्डल के कर्ता, विपन्न भक्तों के सहायक और निराश्रितों के आश्रय रूप गोस्वामी ही थे। पाण्डित्य की भित्ति पर उस समय एक प्रकार के जिस वैष्णव विश्वविद्यालय की स्थापना हुई थी उसके कर्णधार तो थे श्री रूप गोस्वामी। गोस्वामियों के नव सिद्धान्तों का मूलोच्छेद करने एवं उनके

पाण्डित्य परीक्षण हेतु कितने ही दिग्विजयी पण्डित आते जिनके साथ विचार-विमर्श और जय-पराजय का उत्तरदायित्व होता रूप गोस्वामी पर। यदि किसी प्रकार का नूतन विधि निषेध प्रवर्तित करना होता तो सभी रूप गोस्वामी से ही परामर्श ले वैसा करते। इन सभी कार्यों में लोकनाथ अपना समय कभी भी अपव्यय नहीं करते, वे तो अहर्निश साधन-भजन और देव-सेवा में निमग्न रहते।

(सप्त गोस्वामी—सतीशचन्द्र मिश्र)

कृष्ण-भक्ति आन्दोलन से पूरे देश को प्रकाशित करने वाली इन विभूतियों में से सर्वप्रथम सनातन फिर रूप और रघुनाथ भट्ट ने भी प्रयाण किया।

रघुनाथ गोस्वामी राधाकुण्ड के समीप रहते हुए कृच्छ साधना में तल्लीन हो गए। इस समय वृन्दावन में साधना की दीपशिखा प्रज्वलित रखने वालों में तीन व्यक्ति मुख्य रूप से थे—लोकनाथ, गोपाल भट्ट और श्रीजीव। इनमें श्रीजीव शास्त्रों में निष्णात और विपुल मनीषा वाले थे। इनकी संगठन शक्ति भी असाधारण थी। रूप गोस्वामी के निधन के उपरान्त वृन्दावन के भक्ति सम्प्रदाय के प्रधान परिचालक और व्यवस्थापक यही थे। गोपाल भट्ट ने वैष्णव धर्म की संहिता का निर्माण किया। लगभग अर्ध शताब्दी तक वृन्दावन के गोस्वामियों ने अनेक शास्त्र-ग्रन्थों की रचना की। कुछ समय के बाद श्रीनिवास, नरोत्तम और श्यामानन्द वृन्दावन में उपस्थित होकर वैष्णव धर्म की मशाल जलाए रखी। श्री निवास ने यदि बंग प्रदेश की बाढ़ में सहस्रों भक्तों को आश्रय प्रदान किया तो श्यामानन्द ने उड़ीसा और नरोत्तम ने उत्तर बंग और असम को अपना कार्यक्षेत्र बनाया। श्री निवास गोपाल भट्ट गोस्वामी से दीक्षित हुए, श्यामानन्द ने श्रीजीव गोस्वामी का शिष्यत्व ग्रहण किया तो नरोत्तम के लिए उस समय भी दीक्षा-ग्रहण सम्भव नहीं हो सका क्योंकि उनके हृदय में गोस्वामी लोकनाथ की मूर्ति अंकित हो चुकी थी। उन्होंने गोस्वामी से दीक्षा लेने का काफी प्रयास किया किन्तु लोकनाथ किसी को दीक्षा न देने के संकल्प पर दृढ़ रहे। इसी से नरोत्तम मानसिक रूप से काफी कष्ट में थे। उन्होंने मन ही मन लोकनाथ को गुरु स्वीकार कर लिया था।

नरोत्तम राजशाही जिले में पद्मा नदी के किनारे बसे खेतरी ग्राम के निवासी थे। इनके पिता कृष्णानन्द मजुमदार एक बड़े जमींदार थे। उन्हें राजा की उपाधि दी गई थी। उनकी माता नारायणी देवी धर्मप्राण महिला थीं। अनेक व्रत, पूजा और अनुष्ठान के उपरान्त नरोत्तम जैसे तप:पूत की प्राप्ति हुई थी जो बचपन से ही वैराग्य के प्रति आकर्षित थे। चैतन्य महाप्रभु के प्रभाव में आकर उन्होंने अपना वैभवपूर्ण जीवन त्याग दिया। श्रीजीव ने उन्हें शास्त्र-तत्त्व की पूर्ण शिक्षा दी। वे शास्त्रविद् कृच्छ्रव्रती और भजननिष्ठ साधक थे। यदि लोकनाथ ने उन्हें

दीक्षा नहीं दी तो उन्होंने भी किसी अन्य से दीक्षा न लेने के संकल्प का आजीवन पालन किया। उन्होंने लोकनाथ की कुटी के समीप ही एक झोपड़ी लगाई और ध्यान-साधना में लीन हो गए। उनका बराबर यही प्रयास रहता कि लोकनाथ की एकांत साधना में उनकी वजह से व्यवधान न पड़े।

नरोत्तम ने गुरु-सेवा की एक अनोखी प्रणाली ईजाद की। लोकनाथ ब्राह्म-बेला में शौचादि के लिए निकटस्थ वन में एक निर्दिष्ट स्थान पर जाया करते थे। नरोत्तम ने निश्चय किया कि वे भंगी का कार्य करेंगे। इससे एक ओर वृद्ध गुरु की परिचर्या होगी, दूसरी ओर अपनी अहंता का विनाश होगा। नरोत्तम प्रतिदिन भोर में उस स्थान को कंटकशून्य करते, झाड़ू लगाते और उसे लीपते। निकट ही एक पात्र में सद्य:उपनीत जल रख लेते। तत्पश्चात उस झाड़ू को रख कर वहाँ से खिसक जाते। उसके बाद कुछ समय बीत जाने पर वे पुन: उपस्थित होकर कुदाली से उस स्थान को मल-मुक्त करते। इस प्रकार अन्तर में आत्मगोपन करके नरोत्तम गुरु-सेवा का कार्य करते रहे। लगभग एक वर्ष बीतने को आया। लोकनाथ समझ रहे थे कि उनका यह सेवा-कार्य कोई वनवासी करता होगा। एक दिन उन्हें बहुत ही धक्का लगा। उन्होंने सोचा, "मेरी ओर से बड़ा ही गर्हित कार्य हो रहा है। मैंने सर्वस्व त्याग कर संन्यास धारण किया है, अत: मैं किस प्रकार यह सेवा ग्रहण करूँगा? किस प्रकार इस पाप में अपने को लिप्त करूँगा? यह नहीं हो सकता। निश्चय ही कोई उपाय ढूँढ़ना होगा।" रात बीतने में अभी पाँच-छ: दंड बाकी थे, उसी समय लोकनाथ वन में पहुँच कर एक पेड़ की ओट में छिप गए। उसी समय गहन अंधकार में एक आकृति दिखाई दी। लोकनाथ ने पूछा—"तुम कौन हो? इस समय यहाँ पर तुम क्या कर रहे हो?" उस मनुष्य की ओर से कोई उत्तर नहीं मिला। वह धीरे-धीरे आकर लोकनाथ के चरणों पर लोट गया। अंधकार में लोकनाथ उस व्यक्ति को पहचान नहीं पाए। लोकनाथ ने फिर पूछा, "तुम कौन हो भाई?" उस व्यक्ति ने नतमस्तक होकर उत्तर दिया—"मैं हूँ नरोत्तम।" लोकनाथ विस्मय से भर उठे। बोले, "क्या तुम्हीं प्रतिदिन यह कार्य करते हो?" नरोत्तम ने कहा, "यदि आपको कोई विघ्न न हो तो मैं कुछ सेवा करना चाहता हूँ, प्रभु इसकी आज्ञा प्रदान करें।"

"राजातुल्य जमींदार के पुत्र होकर तुम एक भंगी का कार्य कर रहे हो भैया। यह उचित नहीं है नरोत्तम। मैं यहाँ से चला जाऊँगा।" लोकनाथ ने व्याकुल होकर कहा।

"प्रभो, मैं तो अत्यन्त कंगाल, आश्रयहीन और अपात्र हूँ। आपके चरणों में आत्म-समर्पण किया है। आपको छोड़ मेरी दूसरी गति नहीं है। मुझे अन्त तक यह सेवा करने की अनुमति प्रदान करें।" नरोत्तम ने गिड़गिड़ाते हुए कहा।

''हूँ,'' कहकर लोकनाथ गम्भीर हो गए और निर्निमेष दृष्टि से तरुण भक्त की ओर देखते रहे।

''प्रभो, मुझे गुरु-कृपा के अभाव में आप्रभु की कृपा और इष्ट-कृपा नहीं मिल सकती।''

लोकनाथ सोच में पड़ गए थे कि वे किस प्रकार अपनी प्रतिज्ञा तोड़ें। नरोत्तम ने उनका चरण-स्पर्श किया और वहाँ से चले गए।

इस घटना के दूसरे दिन कुंज परिक्रमा समाप्त कर ज्यों ही नरोत्तम अपनी भजन-कुटी में लौटे कि उसी समय लोकनाथ ने उन्हें बुलाया। नरोत्तम के हृदय में नवीन आशा का संचार हुआ। लोकनाथ ने कहा, ''मेरे समीप तुम्हें कतिपय शपथ लेनी होगी। आज से तुम भोग-विलास से कोई सम्पर्क नहीं रखोगे। तुम्हें आजन्म ब्रह्मचारी रहना पड़ेगा।'' वैराग्य साधना के जिन कठोर व्रतों को लोकनाथ एकान्त भाव से पालन कर रहे थे, उन सबसे नरोत्तम को अवगत कराया। फिर कहा, ''वत्स नरोत्तम, तुम यथार्थ में नरोत्तम ही हो। तुम जैसे योग्य शिष्य के निमित्त ही कृष्ण ने मेरी प्रतिज्ञा भंग कराई। मैं तुम्हें दीक्षा दूँगा। आगामी श्रावणी पूर्णिमा को तुम्हें इष्ट मंत्र की दीक्षा दी जाएगी।'' अतिशय आनन्द का अनुभव करते हुए नरोत्तम यह शुभ सूचना देने के लिए श्रीजीव तथा अन्य वैष्णव साधकों की ओर दौड़ पड़ा। नरोत्तम को गुरु से दीक्षा मिली और वह प्रेम-साधना में लीन हो गया। उनके द्वारा की जा रही गुरु-सेवा और परिचर्या पूरे ब्रजमण्डल में चर्चा का विषय बनी।

कालान्तर में नरोत्तम तपोबल और गुरु-कृपा से देव-मानव बन गए। श्रीजीव गोस्वामी ने नरोत्तम को 'ठाकुर' की उपाधि से विभूषित करने का प्रस्ताव ब्रजमण्डल के साधु-समाज के समक्ष रखा जिसे सर्वसम्मति से स्वीकार किया गया। अब वे 'नरोत्तम ठाकुर' हो गए।

कालक्रम में लोकनाथ जर्जर होकर शैय्या पर पड़ गए। पूजा-अर्चन में भी असमर्थ थे। फिर भी वे दूसरे पर निर्भर नहीं रहना चाहते थे। इसी के चलते उन्होंने नरोत्तम को गृह-प्रस्थान की अनुमति दे दी। उन्होंने फिर किसी अन्य व्यक्ति को शिष्य नहीं बनाया।

लोकनाथ एकान्त साधक थे। प्रचार-प्रसार से दूर। यही कारण है कि जब कृष्णदास कविराज ने 'श्री चैतन्य चरितामृत' की रचना की तो उसमें काफी सहयोग के बावजूद लोकनाथ का नामोल्लेख तक नहीं है। उस युग के गोस्वामियों में लोकनाथ को छोड़कर किसी अन्य ने इतना आत्म-गोपन नहीं किया। यही कारण है कि लोकनाथ के अनेक चारित्रिक तथ्य लोकचक्षु से ओझल हैं।

उस समय रचित अनेक शास्त्र-ग्रन्थों के प्रचार-प्रसार की जरूरत महसूस हुई। इसके लिए वाहन और रक्षादल की जरूरत महसूस हुई। लोकनाथ की अवस्था लगभग १०० वर्ष की थी। वृन्दावन के वे प्राचीनतम सिद्ध पुरुष थे। श्रीजीव ने लोकनाथ के कुंज आकर श्रीनिवास, श्यामानन्द और नरोत्तम को वैष्णव धर्म के प्रचार-प्रसार के लिए गौड़ देश भेजने का प्रस्ताव किया, लोकनाथ ने इसे सहर्ष समर्थन दिया। विदा-बेला में लोकनाथ ने नरोत्तम से कहा, ''वत्स नरोत्तम, मैं तुम्हें आशीर्वाद देता हूँ कि तुम्हारा यह नूतन व्रत सुसम्पादित हो। तुम तो मेरे एकमात्र शिष्य हो। जहाँ भी रहो, विषय-वासनाओं को सम्पूर्ण रूप से वर्जित रखना। भजनानन्द और अष्ट प्रहर की लीला के अनुध्यान में ही अपना दिन यापन करना।''

गुरु से विछोह के कारण नरोत्तम शोकाकुल थे। लोकनाथ ने उन्हें उपदेश दिया, ''वत्स, अपनी चिरकालीन प्रतिज्ञा भंग करते हुए ही मैंने तुम्हें अपना शिष्य बनाया था। तुम्हारी भक्ति और पुण्य के कारण ही मेरी प्रतिज्ञा भंग हुई। तुम्हारी कृत विद्यता और साधनोज्वलता देख कर मैं परम प्रसन्न हूँ। मेरे जो दिन शेष हैं, उनमें अब किसी को अपना शिष्य नहीं बनाऊँगा। मेरी शिक्षा-दीक्षा और साधना-प्रदीप को अकेले तुम्हीं प्रज्वलित रख सकोगे।''

''प्रभु आशीर्वाद दें, गौड़ देश के कर्म-व्रत के दौर में यह अधम आपके चरणों के दर्शन कर सके।'' नरोत्तम ने कातर कण्ठ से हाथ जोड़कर निवेदन किया।

''नहीं वत्स, अब वृन्दावन आने की आवश्यकता नहीं है। मेरी और तुम्हारी यह अन्तिम भेंट है।'' गोस्वामी लोकनाथ ने कहा।

नरोत्तम के ऊपर जैसे व्रज्राघात हुआ हो। वे तुरन्त मूर्च्छित हो गए। जब उनकी चेतना कुछ देर बाद लौटी तो उन्होंने गुरु से चरणपादुका देने की याचना की। गुरु की चरण पादुकाओं को ही सिर पर धारण कर वे वृन्दावन से रवाना हुए।

इस घटना के बाद तप:पूत गोस्वामीजी अधिक दिनों तक जीवित नहीं रहे। अनुमानतः १५८८ ईस्वी में अन्तिम बेला आ पहुँची। अपने इष्टदेव श्रीराधा विनोद के विग्रह की ओर अपने सजल नेत्रों को निबद्ध करके वे चिरनिद्रा में लीन हो गए।

●

काष्ठ-जिह्वा स्वामी

काशिराज बलवन्त सिंह का निधन हो चुका था। उनके उत्तराधिकार के दावेदार तीन व्यक्ति थे। बलवन्त सिंह की पहली पत्नी की कन्या से उत्पन्न महीपनारायण सिंह, भतीजा मनियार सिंह और दूसरी पत्नी से उत्पन्न चेतसिंह। इनमें मनियार सिंह की दावेदारी सबसे सशक्त थी क्योंकि महीपनारायण सिंह नाबालिग थे और चेतसिंह उस पत्नी के गर्भ से पैदा हुए थे जिसे मान्यता नहीं मिली थी। अपने छोटे भाई के पुत्र मनियार सिंह को बलवन्त बहुत मानते थे और अपने उत्तराधिकारी के रूप में तैयार भी कर रहे थे। लेकिन बलवन्त सिंह की मृत्यु के उपरान्त जब मनियार सिंह मणिकर्णिका घाट पर उनका अन्तिम संस्कार कर रहे थे, तभी मौका पाकर चेतसिंह ने बनारस की गद्दी पर अधिकार जमा लिया और मनियार सिंह जान बचाकर भाग निकले।

लेकिन गवर्नर जनरल वारेन हेस्टिंग्स द्वारा अपदस्थ किये जाने के बाद चेतसिंह ने भाग कर ग्वालियर-नरेश माधोजी सिंधिया का आश्रय ग्रहण किया। इधर ताजपोशी के लिए महीपनारायण सिंह की तलाश होने लगी।

घनघोर जंगल में एक प्राचीन मन्दिर था। अश्वत्थ तथा वट की अनेक शाखाएँ उसके भीतर उग आई थीं जिससे उसमें लगे पत्थर भी जगह-जगह से खिसक गए थे। चारो तरफ काँटे और झाड़ियाँ उग आई थीं। उसे देखकर कोई नहीं कह सकता था कि निकट अतीत में कोई मनुष्य इधर आया था। इसी भग्न मन्दिर में छिपे थे महीपनारायण सिंह। ऐश्वर्य और वैभव त्याग कर इस बीहड़ में छिपे महीप को रह-रहकर घर की याद आ रही थी। लेकिन एक भय भी सता रहा था कि जब वे हेस्टिंग्स के हाथ में पड़ेंगे तो वह जिन्दा नहीं छोड़ेगा। लगता है नाना के वंश का समूल नाश करना चाहता है वह। इसीलिए मेरी तलाश जोर-शोर से हो रही है। महीप को जब यह सूचना मिली कि हेस्टिंग्स उनकी खोज में है, तभी उन्होंने अपना प्रासाद छोड़कर इस अरण्य में स्थित सुनसान भग्न मन्दिर में शरण ले ली।

परन्तु आज उनका चित्त और चंचल हो उठा था। कुछ ही देर पहले मुंशी कुन्दनलाल गुप्त रूप से उनसे मिल गए थे। यह अफवाह उन्हें सुना गए थे कि हेस्टिंग्स ने किसी भी कीमत पर उन्हें ढूँढ़ निकालने का ऐलान किया है। महीप

नारायण काफी चिंतित हो उठे थे। एक ही सवाल उनके दिमाग में उठ रहा था कि—क्या अंग्रेजों के हाथों फाँसी पर लटकना ही उनकी नियति है? असुरक्षा की भावना से महीप यह स्थान त्याग कर और घने जंगल में प्रविष्ट हो गए।

लगभग एक कोस जाने के बाद उनका ध्यान एक वट वृक्ष के नीचे धूनी जमाए, तपस्यारत एक साधु पर पड़ी। भारी जटाजूट वाले ध्यानस्थ साधु के शरीर में स्पन्दन के कोई चिह्न भी नजर नहीं आ रहे थे लेकिन शरीर स्वस्थ और सुन्दर था। महीप चौंक कर खड़े हो गए। वे एकटक साधु को देखने लगे। सोचा कि भाग्यवश जब इस तपस्वी का दर्शन मिल ही गया है, तब आशीर्वाद लेकर ही आगे बढ़ेंगे। थोड़ी देर बाद महात्मा ने आँखें खोलीं। महीप ने उन्हें भक्तिपूर्वक प्रणाम किया। तपस्वी ने कहा, ''बेटा, कुछ चिन्ता मत करो। अंग्रेजों से काहे डरते हो? तुम्हारे लिए फाँसी का फन्दा नहीं, राजमुकुट ध्रुव निश्चित है। कल ही तुम उनसे मिलो।''

लेकिन महीप नारायण को संन्यासी की बातों पर यकीन नहीं हुआ। वे पशोपेश में पड़ गए। संन्यासी उनकी मनःस्थिति को भाँप गए। मुस्कराते हुए बोले, ''देखो बेटा, तुम्हारे भविष्य का दृश्य अनायास ही मेरे मानस-पटल पर अंकित हो उठा है। योगी का यह अतीन्द्रिय दर्शन कभी मिथ्या नहीं हो सकता। तुम कल ही अंग्रेजी राज के प्रतिनिधि के पास चले जाओ। इससे ही तुम्हारा भला होगा।''

महीपनारायण अब भयमुक्त थे। वे वापस लौट गए। १७८२ ईस्वी में उनकी ताजपोशी हुई। अब वे काशी के राजाधिराज थे।

महीपनारायण सिंह ने उन महात्मा का वास्तविक परिचय जानना चाहा। काशी के कई क्षेत्रों में खोजबीन के बाद पता चला कि साधु समाज में वे महात्मा आत्माराम तीर्थ के नाम से विख्यात थे। वे महाशक्तिधर थे। उनकी शिष्य-मण्डली में ही महान सिद्ध और ज्ञानी दण्डी स्वामी भी थे। वे लम्बे समय से उस घने जंगल में तपस्या कर रहे थे।

महीपनारायण सिंह लाव-लश्कर के साथ उस महात्मा के पास गए। प्रणाम किया। फिर कहा, ''महाराज, आपके श्रीमुख की वाणी सत्य हुई। अंग्रेजी कम्पनी ने मुझे राजगद्दी पर अधिष्ठित किया है। उस दिन आपका निर्देश नहीं मिला होता तो मुझे सर्वदा के लिए असहाय अवस्था में छिपकर ही रहना होता। इसीलिए आज अपनी आन्तरिक कृतज्ञता का ज्ञापन करने यहाँ उपस्थित हुआ हूँ। साथ ही आपका आशीर्वाद एवं आश्रय पाने का भी इच्छुक हूँ।''

महीप ने महात्माजी से मंत्र-दीक्षा लेकर तथा उन्हीं के आश्रित रहकर राजकाज चलाने की इच्छा व्यक्त की। परन्तु महात्माजी ने इसे अस्वीकार करते

हुए कहा कि मैं गृहस्थ मनुष्य को दीक्षा नहीं देता। महीप बार-बार श्रद्धावनत होकर निवेदन करते रहे, "प्रभु, आपकी दिव्य दृष्टि ने ही मुझे राजसिंहासन पर प्रतिष्ठित किया है। इसी दिव्य-दृष्टि के आश्रय में मैं सदा जीवन काट देना चाहता हूँ। आपकी कृपा के बगैर मेरा जीवन व्यर्थ हो जाएगा।" काशी के इस किशोर राजा के नेत्रों से आसुओं की धारा बह निकली।

परन्तु महात्मा मूर्तिवत बैठे रहे। वे जरा भी विचलित नहीं हुए।

हताश होकर महाराजा राजप्रासाद लौट आए। परन्तु दीक्षा-ग्रहण के संकल्प का उन्होंने सर्वथा त्याग नहीं किया। ठीक है यदि महात्माजी ने दीक्षा नहीं दी तो उन्हीं के किसी परम शिष्य को गुरु के रूप में वरण करेंगे।

जानकारी करने पर ज्ञात हुआ कि महात्माजी के पटु और ज्ञानी शिष्य हैं, दण्डी स्वामी देवतीर्थ। सारे उत्तर भारत में उनकी ख्याति एक अपराजेय महावेदान्तिक के रूप में थी। विलक्षण मेधा, प्रतिभा और तर्कशक्ति के अधिकारी थे। परन्तु उनमें एक कमी यह थी कि वे विद्यामद में चूर होकर बिना विचार के ही अपनी इस शक्ति का उपयोग करते। अवसर मिलते ही वे विशिष्ट संन्यासियों, सिद्ध आचार्यों को वाक्‌युद्ध के लिए ललकार देते और उन्हें अनायास ही पराजित कर डालते। उनकी उस प्रवृत्ति की खबर गुरु महाराज को मिली। उन्होंने एक दिन अपने इस शिष्य को पास बुलाकर कहा, "देवतीर्थ, तुम आत्मज्ञानी संन्यासी बनने के मार्ग से च्युत होकर डाकू बन गए हो? इस तरह साधु-संत, भागवत-रसिक आचार्यगणों को निरर्थक घायल करते जा रहे हो? यह तो महापाप है।"

उसी दिन महात्माजी ने अपने इस प्रिय शिष्य की जिह्वा रुद्ध कर डाली। तेज छुरी लेकर उन्होंने दण्डी स्वामी की जिह्वा का अग्रभाग काट दिया और उसकी जगह एक काष्ठ-निर्मित जिह्वा जोड़ दी। उसी समय से दण्डी स्वामी देवतीर्थ जन साधारण में काष्ठ-जिह्वा स्वामी के नाम से प्रसिद्ध हो गए। उन्होंने मौन धारण कर लिया। फिर घोर तपस्या में लीन हो गए। महातांत्रिक वेदांती का अनायास ही रूपान्तर हो गया।

महीपनारायण सिंह ने इन्हीं काष्ठ-जिह्वा स्वामी को गुरु-रूप में वरण करने का निश्चय किया। एक दिन वे इस मौनी आचार्य के समक्ष उपस्थित हुए और मंत्र-दीक्षा की याचना की। किन्तु मौनी स्वामी ने कमरे में खड़िया से लिखकर बताया कि बहिरंग जीवन के सारे सम्पर्क उन्होंने छोड़ दिए हैं। केवल अध्यात्म साधना में ही निमग्न रहने का संकल्प लिया है। इसलिए किसी का आचार्य बनने की इच्छा नहीं है।

महाराज महीपनारायण सिंह फूट पड़े। व्याकुल होकर उन्होंने कहा, "प्रभु, आपके गुरु महाराज ने भी मुझे वापस लौटा दिया है। आपके उनके पुत्र-

स्वरूप शिष्य हैं। इसलिए मैंने संकल्प किया है कि या तो आपसे दीक्षामंत्र प्राप्त करूँगा या अपना यह पापी शरीर गंगा में विसर्जित कर दूँगा।''

महीपनारायण के विलाप से काष्ठ-जिह्वा स्वामी का अन्तर करुणा से भर उठा। महाराज को शांत करते हुए उन्होंने आश्वासन दिया कि उन्हें वे शिष्य के रूप में ग्रहण करेंगे।

इस घटना के कई दिन बाद काष्ठ-जिह्वा स्वामी अपने गुरुदेव के चरण-दर्शन के लिए उनकी कुटिया पर गए। साधन-भजन के लिए निर्देश प्राप्त करने के बाद उन्होंने निवेदन किया—''काशी के महाराज बड़े सज्जन तथा भक्त हैं। मैंने उन्हें दीक्षा-दान का वचन दिया है। इसके लिए आपकी अनुमति चाहता हूँ।''

वृद्ध महात्मा गरज उठे। बोले, ''देवतीर्थ! यह तुम क्या कह रहे हो? आखिर दीक्षा भी दोगे तो गृहस्थ को? भोग-विलास में लिप्त राजा को? सर्व-त्यागी, निवृत्त मार्गी संन्यासी होते हुए भी तुम्हारी जघन्य प्रवृत्ति हो गई? इस दीक्षा-दान के बाद तुम पतित हो जाओगे।''

''प्रभु, आपकी सारी बातें अक्षरशः सत्य हैं। परन्तु राजा की आर्त पुकार तथा रुदन देखकर मेरा हृदय द्रवित हो उठा। मैं उनको वचन दे चुका हूँ। उसकी रक्षा न कर पाने से असत्य भाषण का दोष मेरे ऊपर पड़ेगा। यह भी तो महापाप है?''

''ठीक है बेटा, तुम जब वचन दे चुके हो, तो उसका पालन अवश्य करो।'' महात्माजी ने अनुमति दे दी।

अब काष्ठ-जिह्वा स्वामी के समक्ष विकट समस्या थी। गृहस्थ और भोग-विलासी व्यक्ति को वे दीक्षा देकर जो पाप करेंगे उसका प्रायश्चित्त कैसे होगा? वे रोते हुए गुरु के चरणों पर गिर पड़े और कहा, ''इस पाप से उद्धार के लिए महाराज जो व्यवस्था देंगे, उसे शिरोधार्य करेंगे।''

गुरु महाराज ने थोड़ी देर सोचने के बाद कहा, ''बेटा देवतीर्थ, राजा महीपनारायण के दीक्षा-दान के सन्दर्भ में तुम्हारी करुणा अवश्य रही है, परन्तु इसके अलावा तुम्हारे अंतर्मन में तुम्हारा सूक्ष्म अहं भी था। मन के अवचेतन अवस्था में, आचार्यगीरी की इच्छा भी छिपी है। प्रायश्चित्त करके उसके मूल को सर्वथा विनष्ट कर डालो। प्रायश्चित्त की विधि मैं तुम्हें बताता हूँ। अपने गले में एक काष्ठ फलक बाँध लो। उस पर लिखो—''आप लोग हमसे सुन लीजिए—दण्डी स्वामी पतित है।'' काशीधाम में जितने भी मठ-मन्दिर, अखाड़े इत्यादि हैं, सभी स्थानों पर जाकर दीन वेश में खड़े हो जाओ, नतमस्तक होकर, जिससे सभी के सामने तुम्हारी पाप-कहानी प्रकाश में आए और उस पाप का मार्जन हो।''

एक दिन वाराणसी के राजमार्गों, गंगा के घाटों, मन्दिरों तथा मठों में अभूतपूर्व दृश्य दिखाई पड़ा। दिग्विजयी तर्कवेत्ता, महावेदान्ती देवतीर्थ को काष्ठ-

जिह्वा स्वामी बनाकर भी गुरु महाराज शांत नहीं हुए. आज फिर उन्हें जन-साधारण के समक्ष भेज रहे हैं, उनके द्वारा अपने पतित होने की घोषणा करवाने। सर्वजन श्रद्धेय महापुरुष, काशीराज के गुरु, काष्ठ-जिह्वा स्वामी की यह कैसी दुर्दशा है?

जन-जन में यह खबर फैल गई।

आखिर किस पाप का प्रायश्चित्त कर रहे हैं काष्ठ-जिह्वा स्वामी? लोग इस सवाल का उत्तर खोज रहे थे। उन्हें बताया जा रहा था, जिह्वा स्वामी का पाप सिर्फ यही था कि सारे सांसारिक माया-मोह के बंधन तोड़ने के बावजूद उन्होंने भोग-विलास में लिप्त एक गृहस्थ राजा को दीक्षा-मंत्र का दान दिया था। इसी के कारण वे पतित हो गए थे।

गुरु द्वारा निर्देशित प्रायश्चित्त करने के उपरान्त काष्ठ-जिह्वा स्वामी हाथ जोड़ कर अपने गुरु के समक्ष उपस्थित हुए। गुरु ने गम्भीर स्वर में कहा, "बेटा, पाप के प्रायश्चित्त स्वरूप जो भी तुमने किया, उससे केवल तुम्हारा ही उपकार होगा, ऐसा नहीं है। इससे दण्डी समाज के सम्मुख भी दीर्घकाल तक संन्यास की पवित्र पताका लहराएगी। आदर्श-भ्रष्ट रखने वाले भी सिर नीचा किए सशंकित रहेंगे। परन्तु बेटा, अभी भी तुम्हारा प्रायश्चित्त पूर्ण नहीं हुआ है।"

अब किस प्रायश्चित्त की बात गुरु करना चाहते हैं? यह सवाल मन में लिये हुए काष्ठ-जिह्वा स्वामी चिंतित होकर गुरु की ओर देखने लगे।

महात्माजी ने शान्त स्वर में कहा, "बेटा, तुम काष्ठ फलक गले में बाँध कर बनारस के सारे मार्गों, घाटों और मन्दिरों में घूम चुके हो। पर इस फलक पर जो भी लिखा है, उसे लोग भूल जाएँगे। इस लेख को तुम्हें स्थायित्व प्रदान करना होगा। विश्नाथ मन्दिर के प्रस्तर निर्मित द्वार पर इसे उत्कीर्ण कर डालो।"

अब काष्ठ-जिह्वा स्वामी काशी विश्वनाथ मन्दिर के तोरण द्वार पर आकर उपस्थित हुए। उनके हाथ में छेनी और हथौड़ी थी। उन्होंने मन्दिर के प्राचीर के अग्रभाग पर खोदा—"देवतीर्थ नामे दण्डी पतित है।"

इतने दीर्घकाल के बाद भी तीर्थयात्री विश्वनाथ मन्दिर पर खुदे इस आचार्य की हस्तलिपि देख जाते हैं। फाटक में प्रवेश-द्वार की बाईं तरफ ऐतिहासिक उक्ति भक्तों के मन को आलोड़ित करती है। ब्रह्मचारी, संन्यासी और ब्रह्माभ्यासी हर प्रकार साधकों के मानस पर नए सिरे से भारतीय संन्यास-धर्म एवं आध्यात्मिक साधनामय जीवन के शुचि-शुभ्र तथा महान आदर्शों को स्थापित कर देता है।

●

रूप गोस्वामी

रूप गोस्वामी सनातन गोस्वामी के अनुज थे। ये तीन भाई थे—अमर, संन्तोष और बल्लभ। प्रभु चैतन्य ने इनका नाम रखा क्रमशः सनातन, रूप और अनुपम। अनुपम अपने पुत्र श्रीजीव को छोड़कर स्वर्ग सिधार गए। शेष दोनों भाइयों ने वैराग्य धारण कर लिया। ये लोग गौड़ के सन्निकट रामकेलि ग्राम में रहते थे। दोनों भाइयों ने साथ ही वैराग्य का निश्चय किया लेकिन रूप पहले सांसारिक माया-मोह से मुक्त हो गए जबकि सनातन को कुछ विलम्ब हुआ क्योंकि वे गौड़ के सुल्तान हुसेन शाह के अमात्य थे और बड़े प्रिय थे। जब उन्होंने राजकार्य छोड़ने की इच्छा व्यक्त की तो सुल्तान ने पहले तो उन्हें समझाया, फिर जेल में डाल दिया। सुल्तान जब उड़ीसा पर आक्रमण करने गया था तो सनातन जेल के सुरक्षा कर्मियों को प्रलोभन देकर भाग निकले और वैष्णव साधना में रत हो गए।

इस परिवार की गौरव-गाथा का उल्लेख चूँकि सनातन गोस्वामी के प्रसंग में किया गया है, इसलिए उसकी यहाँ पुनरावृत्ति अनावश्यक है। हम सिर्फ रूप गोस्वामी की साधना और उनके कर्तृत्व पर प्रकाश डालेंगे।

रूप और सनातन को धर्म और वैष्णव साधना के बीज संस्कार में मिले थे जो उनकी युवा अवस्था में प्रस्फुटित होने लगे थे। रूप भी सुल्तान के राजस्व विभाग में उच्च अधिकारी थे। लेकिन मुस्लिम शासक के यहाँ नौकरी करते हुए भी दोनों भाइयों में आध्यात्मिक चेतना थी जो समय-समय पर साधु-संन्यासियों, विद्वतजनों तथा धर्माचार्यों के सत्संग के कारण पुष्पित और पल्लवित होती रही।

दोनों भाइयों में इस बात पर काफी तर्क-वितर्क हुआ कि पहले कौन वैराग्य धारण करे। अन्ततः जीत रूप की हुई। उन्होंने अपने लेखा-जोखा का कार्य शीघ्र समाप्त किया। रामकेलि राजधानी गौड़ के अति निकट थी इसलिए परिजनों को चन्द्रदीप के महल में भिजवा दिया। फतेहाबाद के प्रेमभाग में एक और महल था। कुछ लोग वहाँ भेजे गए। धन-सम्पत्ति आदि सभी वस्तुओं की व्यवस्था पूरी कर ली गई। विग्रह की सेवा, कुलगुरु, ब्राह्मण तथा प्रापकों को कोई असुविधा न हो, इसलिए मुक्तहस्त दान दिया। इस दान के बारे में चैतन्य चरित्रामृत में उल्लेख है—

तब रूप गोसाईं नौका भरकर,
प्रचुर धन ले लौटे अपने घर पर।
दिया अर्द्धभाग ब्राह्म वैष्णवों को,
पुनः चतुर्थांश बाँटा निज परिजन को।
मुक्ति-धन हेतु रखा चतुर्थांश को,
कई स्थानों पर रखा सद् विप्रों को।

इसके अतिरिक्त किसी भावी संकट की आशंका से सनातन के निमित्त दस सहस्त्र मुद्राएँ एक हलवाई के पास जमा कर दीं।

रूप को ज्ञात हुआ श्री चैतन्य नीलाचल से वृन्दावन प्रस्थान कर चुके हैं तो वे भी शीघ्र ही झारखण्ड के लिए रवाना हो गए। साथ थे मुमुक्षु कनिष्ठ भ्राता अनुपम। रूप श्री चैतन्य से रास्ते में ही मिलना चाहते थे।

प्रयाग पहुँचने पर रूप और अनुपम को ज्ञात हुआ कि वृन्दावन से लौटती यात्रा में श्री चैतन्य वहाँ उपस्थित हुए हैं। श्री चैतन्य बिन्दुमाधव के मन्दिर में अपार जनसमूह के बीच मधुर कण्ठ से श्रीकृष्ण-भक्ति का रस बरसा रहे थे। इस भीड़ में प्रभु से मिलने का कोई उपाय नहीं था। उस दिन एक दक्षिणात्य ब्राह्मण के घर श्री चैतन्य को भिक्षा ग्रहण करना है। रूप और अनुपम वहीं पहुँचे और प्रभु को साष्टांग दण्डवत निवेदित किया। प्रभु यह देखकर खुशी से झूम उठे और बार-बार कहने लगे, "कृष्ण को तुम लोगों पर अपार करुणा है कि इस बार दोनों जनों का उन्होंने विषय कूप से उद्धार किया है। तुम दोनों भाई, अहा कितने भाग्यवान हो!"

त्रिवेणी के संगम पर प्रभु भक्तगृह में निवास कर रहे थे। उसी के बगल में रूप और अनुपम ने अपनी कुटिया लगा ली। उन्हीं दिनों वैदिक यज्ञों में पारंगत और शास्त्रविद बल्लभ भट्ट पास के एक गाँव में निवास कर रहे थे। उन्होंने श्री चैतन्य को अपने दोनों भक्तों सहित अपने घर निमंत्रित किया। श्री चैतन्य उनके आवास पर पहुँच गए। रूप की दिव्यकांति देखकर बल्लभ भट्ट ने उनका आलिंगन करना चाहा लेकिन रूप पीछे हटने लगे। बोले, "नहीं, नहीं भट्टजी आंप मेरा स्पर्श न करें। मैं तो एक अस्पृश्य पामर हूँ। इतना समय मैंने पाप-कर्मों में ही व्यतीत किया है। मैं आपके स्पर्श योग्य नहीं हूँ।"

रूप के इस कार्य से श्री चैतन्य अत्यधिक प्रसन्न हुए। वे मंद-मंद मुस्करा रहे थे।

प्रयाग में दस दिनों तक रूप ने प्रभु के सान्निध्य में बिताया। इन्हीं दस दिनों में प्रभु ने रूप के भीतर के अवांछित तत्त्वों को विनष्ट कर दिया। उनमें वैष्णवीय साधना के गूढ़ तत्त्व भरे। निज मुख से व्याख्या और विश्लेषण किया ब्रजरस के परम तत्त्वों का। श्रद्धा, भक्ति और कृष्ण-सेवा का निरूपण करने के

बाद प्रभु ने भक्ति-साधना के क्रम में कृष्ण-भक्ति के रस का वैचित्र्य तथा सर्वोपरि कान्ता-भाव-सम्पन्न मधुर रस का दिग्दर्शन कराया। इस नवीन साधना रूप के अन्दर उन्होंने शक्ति का संचार भी किया। श्री चैतन्य ने वाराणसी प्रस्थान करने से पूर्व रूप को आशीर्वाद देने के बाद कहा, "रूप, तुम वृन्दावन जाओ। तुमने जिस तत्त्व को पाया है, वह वृन्दावन की पावन भूमि में स्फुटित हो उठे, यही मेरी कामना है।"

रूप और अनुपम वृन्दावन चले गए। वहाँ उनकी मुलाकात भक्त-प्रवर सुबुद्धि राय से हुई। सुबुद्धि राय गौड़ देश के प्रभावशाली जमींदार थे। बादशाह हुसेन शाह युवा अवस्था में अत्यन्त गरीब थे और सुबुद्धि राय के यहाँ नौकरी करते थे। एक दिन किसी गलती पर राय साहब नाराज हुए और हुसेन को कोड़ों की सजा दी गई। हुसेन का समय बदला, वह गौड़ देश के बादशाह हो गए लेकिन कोड़े का दाग पीठ पर बचा रह गया। एक दिन बेगम ने स्नान करते समय पीठ पर दाग देखे तो पूछा। हुसेन शाह ने सारी कथा बयान कर दी। बेगम गुस्से से तमतमा उठीं। उन्होंने सुबुद्धि राय को मौत की सजा देने का आग्रह किया लेकिन शाह यह दण्ड देने को तैयार नहीं हुए। उन्होंने कहा कि प्राक्तन अन्नदाता को इतनी कठोर सजा देना सम्भव नहीं है। बेगम हठ पर अड़ी हुई थी। बेगम और सरदारों ने मिलकर तय किया कि राय साहब को धर्मभ्रष्ट किया जाय। राय साहब के मुँह में अखाद्य ठूँस कर यह प्रस्ताव क्रियान्वित किया गया।

जातिभ्रष्ट और मर्माहत सुबुद्धि राय राज-पाट त्याग कर काशी चले गए। प्रायश्चित्त के लिए काशी के शास्त्रविद पण्डितों के समक्ष उपस्थित हुए। पण्डितों ने कहा कि जलता हुआ घी पीकर प्राण त्याग देना चाहिए।

उस समय महाप्रभु चैतन्य काशी में ही विराजमान थे। महाप्रभु के चरणों पर गिर कर सुबुद्धि राय ने कहा, "प्रभु, आप ईश्वर हैं। आप मुझे जाति विनाशजन्य पाप से छुटकारा हेतु प्रायश्चित्त का विधान बताएँ।"

महाप्रभु ने कहा, "जितने भी पाप हैं, वे एक बार भी कृष्ण-नाम लेने से ही धुल जाएँगे। जीवों की क्या बिसात जो उतना पाप कर सके। तुम्हें कोई भय नहीं है। तुम वृन्दावन जाकर प्रतिदिन वहाँ की पवित्र भूमि में लुंठित होओ और कृष्ण नाम के जप और ध्यान से अपने जीवन को सार्थक करो। यही तुम्हारे प्रायश्चित्त का विधान है।"

सुबुद्धि राय के प्राणों में अब नई आशा का संचार हुआ और उन्होंने वृन्दावन में आकर त्याग और तितिक्षामय वैष्णव जीवन प्रारम्भ किया।

गौड़ बादशाह के उच्च अधिकारी रूप को सुबुद्धि राय भलीभाँति पहचानते थे। वैरागी होकर वे प्रभु की शरण में आ गए हैं, यह जानकर वे

अत्यन्त प्रसन्न हुए। रूप और अनुपम को उन्होंने प्रेमपाश में जकड़ लिया और द्वादश वनों का दर्शन कराया।

लगभग एक महीना बीत गया। रूप के मन में उच्चाटन होने लगा। उन्हें अपने बड़े भाई सनातन के बारे में कोई सूचना नहीं मिली थी कि वे अभी भी बादशाह की जेल में हैं या मुक्त हुए। मन में चिंता होने लगी थी। कुछ दिनों तक विचार के बाद सनातन की खोज-खबर लेने के लिए उन्होंने वृन्दावन छोड़ देने का विचार किया। दोनों भाई काशी की ओर चल पड़े।

इसी बीच कारागार से मुक्ति पाकर सनातन काशी आ गए जहाँ उन्हें श्री चैतन्य का दर्शन सुलभ हुआ। इसके पश्चात वे वृन्दावन चले गए। रूप और अनुपम से उनकी मुलाकात नहीं हो पाई। लेकिन जब उन्हें ज्ञात हुआ कि सनातन काशी आए थे और उन्हें महाप्रभु का दर्शन सुलभ हुआ था तो उनकी खुशी का ठिकाना न रहा।

अनुपम रामचन्द्रोपासक थे, इसीलिए वृन्दावन में उनका मन नहीं लगा था। उन्हीं की सलाह पर रूप और अनुपम गौड़ देश की ओर चल दिए। वहाँ पहुँचने पर एक असाध्य रोग से अनुपम ने शरीर त्याग दिया। अनुज के असामयिक निधन ने रूप को अनेक सांस्कारिक समस्याओं में धकेल दिया। लेकिन श्री चैतन्य के दर्शन के लिए वे अधीर हो उठे अतएव घर की समस्याएँ निपटा कर वे पैदल ही नीलाचल के लिए रवाना हो गए। वहाँ पहुँचकर उन्होंने हरिदास की कुटिया में आश्रय ग्रहण किया। हरिदास ने आत्मीयता के साथ उनका स्वागत किया।

श्री चैतन्य प्रतिदिन दर्शन देने के लिए हरिदास की कुटिया में आते थे और यहाँ भक्तों के बीच इष्ट गोष्ठी और प्रेमरस का दौर चलता। इसके उपरान्त वे लौट जाते। उस दिन भी श्री चैतन्य जैसे ही हरिदास की कुटिया में आए, रूप ने दौड़कर चरण स्पर्श किया। प्रभु ने आशीर्वाद दिया और कुशल-क्षेम पूछा। फिर थोड़ी देर तक सत्संग हुआ।

एक दिन रूप का आलिंगन करते हुए महाप्रभु ने अद्वैत एवं नित्यानन्द से कहा, ''कृष्ण के आवाहन पर रूप विषय-कूप छोड़कर चले आए हैं। आप दोनों इन्हें आशीर्वाद दें जिससे ये कृष्ण भजन में सिद्धि प्राप्त कर कृष्ण भक्ति के ग्रन्थों का निर्माण कर सकें, जिसकी साधना करने से जीवों का कल्याण हो।''

वरिष्ठ गौड़ीय वैष्णवों के आशीर्वाद, रूप-लावण्य, विनयशीलता और माधुर्य के कारुण रूप शीघ्र ही गौड़ीय एवं उड़िया भक्तों के बीच लोकप्रिय हो गए। कीर्तन-भजन, स्नान-ध्यान और प्रभु के साथ गूँदीचा में सफाई कार्य में दिन बिताने लगे। भक्त हरिदास के समान रूप भी स्वयं को दैन्यवश म्लेच्छाधम समझते। उसी लिए जगन्नाथ मन्दिर में कभी भी प्रवेश नहीं करते। दूर से ही

प्रणाम कर लेते। प्रभु के नर्तन, कीर्तन और अन्य अनुष्ठानों का रसपान दूर से ही करते। रात्रि का अधिकांश समय हरिदास के साथ उनकी कुटिया में ही बीतता। कुटिया के एक कोने में बैठकर वे ग्रन्थ-निर्माण में लग गए।

जगन्नाथजी के भाग-रात के पश्चात इन दोनों संन्यासियों हरिदास और रूप के लिए प्रत्यक्ष प्रसाद आता। इस प्रसाद को ग्रहण करने के पश्चात दोनों लोग अपने-अपने कार्य में लग जाते।

रूप गोस्वामी कवि भी थे। गौड़ देश में रहते हुए उन्होंने 'हंसदूत' और 'उद्धव-संदेश' नामक ग्रन्थों की रचना की जो बाद में वृन्दावन में लोकप्रिय हुई। नीलाचल में कृष्ण लीला विषय नाटक लिखना शुरू किया। इसे नाम दिया— 'विदग्ध-माधव'। इसके अलावा एक और नाटक 'ललित-माधव' लिखा। इन दोनों नाटकों की समाप्ति वृन्दावन में हुई और शुरुआत नीलाचल में।

नीलाचल में भगवान जगन्नाथ की रथयात्रा का समय ज्यों-ज्यों समीप आता गया देश भर से भक्तों का आगमन भी बढ़ता गया। इस रथ-यात्रा का एक बड़ा आकर्षण था—श्री चैतन्य की उपस्थिति और उनका नृत्य-कीर्तन।

रथ का कर्षण प्रारम्भ होते ही उसके आगे प्रभु का अपने भक्तों और पार्षदों के साथ कीर्तन-नर्तन प्रारम्भ हो गया। उनकी दिव्य श्री मण्डित गौर देह में सात्विक प्रेम-विकार का ऐश्वर्य प्रकट हो रहा था। इसे देखकर अगणित यात्री उद्वेलित हो रहे थे।

प्रभु इच्छा के अनुरूप रूप ने दस महीने तक नीलाचल में वास किया। महाप्रभु के सान्निध्य के कारण इनके शरीर में दिव्य रस की धारा प्रवाहित होने लगी। कृष्ण भक्ति और कृष्ण प्रेम की लीला से सम्बन्धित जिन पुस्तकों की रचना प्रभु चाहते थे उन सभी के लिए भावना मन में उमड़ने लगी। प्रभु ने रूप के साधन-आधार में अपनी शक्ति का संचार कर दिया था। अब जन-कल्याण हेतु उसी शक्ति-स्रोत को विस्तार देना चाहते हैं। ब्रज-रस-तत्त्व के दो रस पार्षद थे—राय रामानन्द तथा स्वरूप दामोदर। रूप के नवरचित काव्य-रस के आस्वादन और मूल्य निरूपण के लिए प्रभु ने इन दोनों लोगों को नियोजित किया था। दोनों पार्षद अपने कार्य में प्रवीण थे। रस-तत्त्व के शास्त्र में राय रामानन्द श्री चैतन्य के भी बाह्य उपदेष्टा थे। दक्षिण यात्रा के दौरान श्री चैतन्य ने इस साधक को आत्मसात किया था और उसी के मुख से मधुर एवं निगूढ़ भजन की मर्म कथा को प्रकाशित भी करवाया था। महाप्रभु से राय रामानन्द कहते हैं—"प्रभु ब्रजरस-तत्त्व, कान्ताभाव और राधा तत्त्व की महिमा मैं क्या जानूँ? मैं तो आपकी कठपुतली हूँ, आप मुझे जिस प्रकार नचाते, बुलवाते, मैं उसी प्रकार कार्य करता हूँ और बोलता हूँ।"

दैन्यभाव से प्रभु ने उत्तर दिया—''राय, मैं संन्यासी हूँ अतः महाभावमयी श्री राधा का रस-तत्त्व मैं क्या जानूँ? अहा, तुम्हीं ने तो मुझे वह तत्त्व सिखाया था।''

दोनों के बीच यह मत द्वैध और आनन्द-कलह प्रायः चला करता जिसे सुन कर अंतरंग पार्षद और भक्तगण मंद-मंद मुस्कराते रहते।

राय रामानन्द उड़ीसा के एक श्रेष्ठ वैष्णव थे जो कृष्णरस-तत्त्व में पारंगत और यशस्वी नाटककार थे। महाप्रभु से भेंट होने से पूर्व ही इन्होंने 'जगन्नाथ बल्लभ' संस्कृत भाषा में लिख कर भरपूर प्रसिद्धि प्राप्त की थी। महाप्रभु के आश्रय में आकर वे प्रेमभक्ति साधना में सिद्धकाम हो चुके थे। प्रभु के अन्य श्रेष्ठ पार्षद स्वरूप दामोदर भी कृष्णतत्त्व एवं ब्रजरस के एक मर्मज्ञ साधक के साथ-साथ उसके धारक और वाहक थे। वे वैष्ण साहित्य के मर्मज्ञ तथा कठोर समालोचक भी थे।

महाप्रभु तो महाभाव के मूर्त विग्रह थे अतएव प्रेम-भक्ति-धर्म के किसी वाक्य अथवा रचना के प्रतिकूल सिद्धान्त अथवा रसाभास कभी भी उन्हें सह्य नहीं था।

एक दिन महाप्रभु जगन्नाथजी के रथ के आगे नृत्य कीर्तन कर रहे थे। हठात् भाव प्रमत्त होकर वे 'पः कौमारहर' इत्यादि 'काव्य-प्रकाश' के श्लोकों का उच्चारण करने लगे। इस वाक्य द्वारा निभृत मधुमय परिवेश तथा अनन्य चित्र से कान्ता तथा कान्त के एकान्त मधुर मिलन रस का उत्सारण होता है। महाप्रभु के अन्तर के भाव को समझकर स्वरूप दामोदर ने तत्क्षण इस रस के अनुसार एक मधुर संगीत की रचना की और उसे तत्काल उन्हें गाकर सुनाया भी जिसे सुनकर वे अत्यन्त प्रसन्न हुए।

एक दिन राय रामानन्द एवं स्वरूप दामोदर के साथ महाप्रभु हरिदास की कुटिया में पहुँचे तो उनकी नजर कुटिया के छप्पर में खोंस कर रक्खे गए ताल-पत्र पर पड़ी। महाप्रभु ने कहा, ''ले आओ उसे, देखें उसमें क्या है?''

''नहीं प्रभु, आपके देखने योग्य उसमें कुछ नहीं है।'' रूप ने विनयपूर्वक कहा।

लेकिन महाप्रभु ने उक्त तालपत्र मँगाया। उसे देखकर ज्ञात हुआ कि इसमें सद्यः निर्मित प्रेमरस के अनेक मनोरम श्लोक हैं जिनकी रचना रूप ने ही की थी। रूप ने अपनी अनुपम भाषा, भाव और छन्दों में यमुना किनारे कृष्ण-राधा के एकान्त मिलन के आनन्द की कथा लिखी थी। महाप्रभु ने आह्लादित होकर कहा, ''अहा, इस प्रकार का रस-तत्त्व तो चराचर में कहीं नहीं पाया जाता है। रूप, निश्चय ही आज मुझे अत्यधिक आनन्द दिया है।''

एक दिन महाप्रभु ने रूप द्वारा रचित 'विदग्ध माधव' की पाण्डुलिपि से एक रमणीय रचना पढ़कर भक्तजनों को सुनाई जो इस प्रकार थी—

'कृष्ण', 'कृष्ण' क्या ही हैं ये दोनों वर्ण।
मानो अमृत देकर हुई है इनकी सृष्टि॥
रसना द्वारा होता जब इनका उच्चारण।
जगती हृदय में शत रसना पाने की कामना॥
कर्णों द्वारा श्रवण होते ही जगती स्पृहा।
कोटि-कोटि कानों को पाने की वासना॥
इस नाम की चेतना का जब होता स्फुरण।
तभी होती जीव की इन्द्रियाँ सभी पराभूत॥

महाप्रभु की आँखें तृप्तिजन्य आनन्द से भर आईं। वे बार-बार रूप को आशीर्वाद देने लगे।

महाप्रभु वृन्दावन में वैष्णव शास्त्रों का लेखन और प्रसार, तीर्थों का उद्धार और विग्रह-सेवा तथा कृष्ण-भक्ति के पथ पर भक्त समाज का परिचालन—इन्हीं तीन ईश्वरीय कर्मों की सूचना और उसका प्रसार चाहते थे। रूप के वृन्दावन रवानगी के पूर्व ये ही दायित्व उन्हें सौंपा। रूप और सनातन की संयुक्त प्रतिभा और कर्मनिष्ठा का परिणाम अनेक वर्षों के उपरान्त पुष्पित और फलित होते देखा गया। अपनी कठोर साधना से दोनों जनों ने भक्तों की दृष्टि अपनी ओर आकर्षित कर ली। कुछ ही दिनों में भारत के अन्य भागों में विविध प्रकार के ग्रन्थ वृन्दावन में आ गए।

रूप में बड़े भाई सनातन की अपेक्षा व्यवहारकुशलता अधिक थी। नाना दिशाओं से भक्तों का दल जिस प्रकार का पहुँचता उसकी देखरेख उसी प्रकार होती। जिस व्यक्ति की प्रकृति जैसी होती उसी के अनुरूप कुटिया बनाकर रूप उसे प्रदान करते। सभी के अभावों की छानबीन करके उसकी व्यवस्था करते। इस प्रकार रूप गोस्वामी वृन्दावन की भक्तमण्डली के कर्ता बन बैठे। धीरे-धीरे रूप गोस्वामी की लोकप्रियता इतनी बढ़ गई कि जो भी बाहर से वृन्दावन आता, रूप को ही खोजता। पर्वों या उत्सवों के अवसर पर सारी व्यवस्था वे ही करते। श्रीकृष्ण यदि वृन्दावन के राजा थे तो रूप उनके प्रतिनिधि जैसे थे। रूप इतने लोकप्रिय हो गए कि उनका अनुवर्तन कर ब्रजमण्डल में एक संघ की स्थापना की गई।

इस प्रकार वृन्दावन में कार्यारम्भ हुए कई वर्ष बीत गए। इस कार्य में योगदान के लिए गोपाल भट्ट, रघुनाथ भट्ट प्रभृति पण्डित और साधकगणों तथा रघुनाथदास प्रभृति विशिष्ट भक्तों का पदार्पण हो चुका है। गौड़ीय सम्प्रदाय के

गोस्वामियों की तपस्या, पाण्डित्य और संगठन के कारण वृन्दावन अब भारतवर्ष के एक श्रेष्ठ वैष्णव केन्द्र के रूप में परिवर्तित हो गया।

एक दिन रूप गोस्वामी बैठे थे तभी एक बालक आकर बोला, ''अरे बाबाजी, बैठे-बैठे नींद ले रहे हो या गोविन्द का ध्यान भी कर रहे हो। गोविन्द तो उस मिट्टी के टीले के भीतर हैं।''

''भाई, मिट्टी के टीले में वह कहाँ छिपे हैं, कौन बतलाएगा मुझे,'' रूप गोस्वामी ने व्याकुल होकर कहा।

''जानते हो, उस टीले पर एक जगह दोपहर में एक गाय आकर अपने थन से दूध टपकाती है। उसी के नीचे तो निवास करते हैं तुम्हारे गोविन्दजी।'' कहकर बालक अन्तर्धान हो गया।

रूप गोस्वामी इस अलौकिक आनन्द के अतिरेक में मुदित हो गए। थोड़ी देर बाद जब चेतना लौटी तो उन्होंने स्वयं से पूछा, ''क्या वह बालक ही गोविन्द था?'' रूप गोस्वामी ने निकट के ग्रामवासियों से जब इस घटना का जिक्र किया तो लोगों ने इसकी पुष्टि की। इसके बाद ही रूप की आँखों से आँसू बरसने लगे। उन्होंने ग्रामवासियों से सहायता की प्रार्थना की, ''उस स्थान पर हम सभी के प्राणाप्रिय गोविन्दजी निवास करते हैं।'' ग्रामवासियों ने तत्काल उस स्थान की खुदाई शुरू की तो श्रीगोविन्द देव का पवित्र विग्रह आविष्कृत हुआ। रूप गोस्वामी ने शास्त्र-वचनों के उद्धरणों से साबित किया कि यह टीला द्वापर युग की योगपीठ है। और ये ही विग्रह ब्रजनाम महाराज द्वारा प्रतिष्ठित एवं पूजित श्री गोविन्दजी हैं। यह समाचार पूरे ब्रजमण्डल में फैलते देर नहीं लगा। भक्तों और साधु-संतों ने मिलकर वहाँ एक विशाल भण्डारा का आयोजन किया। बाद में रघुनाथ भट्ट के एक धनवान शिष्य ने गोविन्ददेव का एक सुन्दर मन्दिर और चबूतरे का निर्माण करवाया। इसके पश्चात उड़ीसा के राजा प्रतापरुद्र के पुत्र पुरुषोत्तम ने इस मन्दिर विग्रह के समीप एक राधिका-मूर्ति की स्थापना की। बाद में जब मन्दिर जीर्ण हो गया तो अम्बेर के राजा मानसिंह ने इस स्थान पर लाल पत्थरों से एक भव्य मन्दिर बनवाया जिसके प्रधान अंश को औरंगजेब ने ध्वस्त करा दिया जिससे मन्दिर का सौन्दर्य और वैभव नष्ट हो गया।

वृन्दावन के गौड़ीय गोस्वामियों के शास्त्र-प्रणयन, संकलन और प्रकाशन को देखकर आश्चर्य होता है कि साधनहीन होते हुए भी इन महापुरुषों ने अपनी साधना, तपस्या और कर्मनिष्ठा के बल पर इतनी उपलब्धियाँ कैसे हासिल कीं। कितने कष्टों को समाहित किया होगा अपने आन्दोल्लास में।

वैष्णव इतिहास के अनुसंधानकर्ता और विश्लेषक सतीशचन्द्र मित्र ने लिखा है—''सोलहवीं शताब्दी के प्रथम पाद में इन लोगों ने जिस धर्म का गठन

कर सम्पूर्ण देश में एक सशक्त आन्दोलन का श्रीगणेश किया, उसका प्रवाह परवर्ती युग में कितने शताब्दियों तक चलेगा, इसे भला कौन बता सकता है? कारण कि बंग के जो शक्तिशाली लोग हैं, समाज में कुलीन के रूप में जो चिह्नित हैं, बंग समाज के उच्च स्तर के उन ब्राह्मण, कायस्थ, वैद्य प्रभृति जाति के अधिकांश लोग उस समय शाक्त मतावलम्बी थे—उस समय वे गौड़ीय वैष्णव मत के प्रबल शत्रु थे। पाण्डित्य, प्रतिभा, वंश-परम्परा के कारण जो ब्राह्मणगण सर्वत्र ख्यातिसम्पन्न थे, धर्म-साधना की अपेक्षा आचार-निष्ठा में जिनका विशेष आग्रह था, वे इस नूतन मत को अशास्त्रीय एवं अनाचरणीय कह कर उसकी उपेक्षा कर रहे थे। फलतः प्रवर्तक महाप्रभु आदि लोगों के अन्तर्धान के पश्चात उनके धर्म की रक्षा करना एक गुरुतर समस्या थी। इस देश में शास्त्र की भित्ति पर प्रतिष्ठापित न होने पर कोई भी धर्म नहीं टिक सकता। पण्डितों के इस देश में सबों को तर्क-युद्ध में पराजित कर कोई भी अपना मत स्थापित नहीं कर सका। इस विषय में सभी चेष्टाएँ व्यर्थ होंगी, महाप्रभु चैतन्य ने इस रहस्य को समझा था।....इसीलिए तो श्री चैतन्य देव ने अपने भक्तों के बीच से चुन-चुन कर लोगों को भेजा और उनके द्वारा ही वैष्णव मत सम्बन्धी शास्त्रों का गठन और संकल्प करवाया था। जगत के सभी जातियों के नेतृवृन्द के मध्य जो लोग उपयुक्त, लोक-निर्वाचन में पटु और गुणग्राही तथा सूक्ष्मदर्शी थे, उन्होंने ही जगत में विजय प्राप्त की थी। चैतन्य मत की सफलता का यही प्रधान कारण है।

"अपनी मोहिनी मूर्ति से उन्होंने जिन लोगों पर शक्ति-संचार करके उन्हें आत्मसात किया था, वे ही चुने हुए लोग हिन्दू शास्त्र के आकर ग्रन्थों से रत्नोद्धार करके नव-प्रवर्तित गौड़ीय मत को एक सुदृढ़ भित्ति पर प्रतिष्ठित कर गए थे। उनके समीपवर्ती लोगों ने ही सर्वप्रथम पाण्डित्य में उनसे पराजित हो अपना मस्तक अवनत कर लिया था, तभी तो इस नूतन मत की विजय पताका लहराने लगी। अन्यथा श्री चैतन्य के धर्म की आज क्या दशा होती, इसे कौन बता सकता है? जिन सभी संसार-त्यागी, असाधारण, शास्त्रदर्शी और दैन्यवेशी संन्यासी भक्तों ने वृन्दावन को अपना केन्द्र-स्थान एवं आवास बनाकर असंख्य वैष्णव ग्रन्थों की रचना की और एतद्वारा वैष्णव धर्म की भित्ति का मूल निर्माण किया, उनके मध्य सर्वप्रधान और सर्वप्रथम थे तीन व्यक्ति—श्री सनातन और रूप गोस्वामी तथा उनके भातृपुत्र एवं शिष्य श्री जीव गोस्वामी। यदि सनातन ने अपने धर्म को तथा भक्तिवाद के सिद्धान्तों को सनातन धर्म का अन्तर्भुक्त कहकर उन्हें प्रमाणित किया था तो रूप ने उस धर्म की साधन-प्रणाली का स्वरूप निर्धारित किया और श्री जीव ने उनकी विविध सन्दर्भों में तत्त्व-व्याख्या करके उस धर्म को चिरंजीवी बनाया।"

इन गोस्वामियों के मध्य त्याग, तपस्या, संगठन-शक्ति तथा शास्त्र एवं काव्य-रचना की दृष्टि से रूप गोस्वामी थे असाधारण परन्तु उनके श्रेष्ठतम अवदान थे कृष्ण-लीला एवं कृष्ण-रस से ओतप्रोत उनके काव्य और नाटक। रूप गोस्वामी में कवि प्रतिभा जन्मजात थी और वे कम आयु से ही परम पण्डित थे। जितने काव्य, नाटक, स्तोत्र, मंत्र, टीकाएँ तथा शास्त्र-संग्रह उनकी लेखनी से सृजित हुए वे अवर्णनीय हैं। श्री जीव ने अपने ग्रन्थ 'लघु तोषणी' में अपने वंश-परिचय के साथ रूप गोस्वामी द्वारा लिखे गए सभी ग्रन्थों का उल्लेख किया है। रूप गोस्वामी वैष्णवी साधना और सिद्धि के मूर्त रूप थे। उनमें कठोरता भी थी और कोमलता भी थी। वैराग्य भी था और अनुराग भी था। साधना की वैधी एवं रागानुगा धृति एकसाथ अपूर्व विशिष्टता लिये प्रस्फुटित थी और उसके साथ ही घटित हुआ था भक्ति और ज्ञान का विराट समन्वय।

एक असाधारण वैष्णव नायक के रूप में रूप गोस्वामी व्यावहारिक जीवन में दीनहीन एवं कौपीनधारी थे लेकिन उनका आध्यात्मिक जीवन बहुत ही कठोर साधक का था। उनके भीतर धार्मिक आदर्शों की रक्षा सम्बन्धी निष्ठा और दृढ़ता भी थी। शिष्यों के क्षणिक स्खलन को भी वे बर्दाश्त नहीं कर पाते थे। वे श्री चैतन्य के वैष्णवीय आदर्श की प्रतिमूर्ति थे। उनकी चारित्रिक विशेषता थी वैष्णवी दैन्य एवं विनय और उनकी दृष्टि में प्रतिष्ठा थी शूकरी निष्ठा थी।

एक बार आचार्य बल्लभ भट्ट रूप गोस्वामी से मिलने आए। वे विष्णु स्वामी सम्प्रदाय से सम्बन्धित थे। प्रकाण्ड विद्वान थे। उस समय रूप गोस्वामी 'भक्ति-रसामृत' की रचना में तल्लीन थे। रूप गोस्वामी ने भट्टजी की अभ्यर्थना की और अपने पार्श्व में बैठने के लिए आसन बिछा दिया। भट्टजी के आग्रह पर रूप गोस्वामी ने अपने ग्रन्थ के मंगलाचरण के एक-दो श्लोक सुनाए। भट्टजी ने विवाद का सृजन करते हुए कहा, "गोस्वामीजी, आप देखते हैं, इस श्लोक में एक त्रुटि रह गई है।"

"अत्युत्तम कथा"। रूप गोस्वामी के मुँह से तुरन्त फूट पड़ा। उन्होंने भट्टजी से संशोधन का आग्रह किया और स्वयं यमुना-स्नान के लिए चले गए। श्री जीव गोस्वामी वहीं कुटिया में बैठे थे। भट्टजी ने लेखनी हाथ में ली, तभी वे कठोर स्वर में बोल उठे, "आचार्य जरा ठहरें। इस श्लोक में कोई त्रुटि है अथवा नहीं, पहले इसका निर्णय तो कर लें। हम लोगों के गोस्वामी प्रभु दैन्य के अवतार हैं। आप पूर्णतया भ्रान्त हैं, इस कथा को समझते हुए भी उन्होंने आपके अहंभाव को थोड़ा प्रश्रय दिया है।"

"तुम कौन हो नवयुवक? देखता हूँ तुम्हारी स्पर्धा कम नहीं है। जानते हो, मैं कौन हूँ?"

"जी, आपका परिचय मैंने सुना है।"

"तब? इस प्रकार का साहस तुम्हें कैसे हुआ?"

"गुरु-कृपा से ही मुझमें यह साहस हुआ है आचार्यवर", श्री जीव ने कहा, "आप जिनके आलेख में संशोधन करने जा रहे हैं, उन्हीं के समीप हुई है हमारी दीक्षा एवं शास्त्र-विद्या। उस शिक्षा का एक कण भी मैं आपत्र नहीं कर पाया। फिर भी उनके प्रसाद के फलस्वरूप मेरे सदृश नवयुवक ने वृन्दावन में दो-चार दिग्विजयी पण्डितों को परास्त किया है।"

"हूँ।" आन्तरिक क्रोध पर काबू पाते हुए भट्टजी बोले, "अच्छा गोस्वामीजी के इस श्लोक की प्रासंगिकता और औचित्य का कारण समझाओ।"

श्री जीव ने प्राचीन शास्त्रों से उस श्लोक की यथार्थता सप्रमाण सिद्ध कर दी।

आचार्य बल्लभ भट्ट थोड़ी देर तक सोचते रहे फिर रूप गोस्वामी की पाण्डुलिपि बन्द कर वहाँ से चले गए।

रूप गोस्वामी जब यमुना-स्नान से लौट रहे थे तब मार्ग में भट्टजी से उनकी भेंट हुई। भट्टजी ने उनसे पूछा, "गोस्वामीजी, आपकी कुटिया में उपविष्ट वह तरुण वैष्णव कौन है?"

"क्यों, क्या बात है, कहें। वह तो मेरा शिष्य श्री जीव है।" रूप गोस्वामी ने शंका के स्वर में मधुरता के साथ कहा। भट्टजी ने उन्हें सारी घटना कह सुनाई, फिर चले गए।

कुटी में प्रवेश करते रूप गोस्वामी ने कठोर स्वर में श्री जीव को पास बुलाया। फिर जो विस्फोटक स्थिति उत्पन्न हुई उसका वर्णन 'प्रेम विलास' में इस प्रकार किया गया है—

श्री जीव पुकार कर कहते श्री जीव के प्रति।
असमय में वैराग्य वेश धारण किया मूढ़मति॥
क्रोध के ऊपर तुम्हें क्रोध नहीं हुआ तब।
अतएव तुम्हारा मुख नहीं देखूँगा अब॥

श्री जीव गोस्वामीजी के समक्ष सिर झुकाए खड़े रहे। उन्हें अपने अपराध का बोध हुआ। कृष्ण-रस के पान के लिए क्रोध और अहं का परित्याग पहली शर्त है।

रूप गोस्वामी ने कहा, "तुम क्या समझते हो, बल्लभ भट्ट भ्रांत हैं, क्या हम नहीं जानते? सबकुछ जानते हुए भी मैंने उन्हें प्रश्रय दिया है। उनके समीप झुकना स्वीकार किया है। वृन्दावन में अनेक दिग्विजयी पण्डितों को बिना तर्क के मैंने जप पत्र दे दिए हैं। तुमसे कुछ भी अज्ञात नहीं है। महाप्रभु के पवित्र धर्म का यदि प्रचार करोगे, तो इस प्रकार के आचरण का होना उचित नहीं। केवल

क्रोध ही नहीं, सूक्ष्म अहं का बोध भी तुम्हारे इस मनोभाव में प्रच्छन्न रूप से विद्यमान था। यदि तुम इन सबों का परित्याग कर सको तो मेरे पास रह सकते हो अन्यथा नहीं।'' वैष्णवी नीति और निष्ठा के प्रति इतने कठोर थे रूप गोस्वामी।

गुरु की इस प्रताणना के बाद श्रीजीव गोस्वामी घने जंगल में चले गए और वहाँ पर्ण-कुटी बनाई। उसी में अपनी कृच्छ साधना शुरू की। कई महीने बीत गए। इस निर्जन वन में कभी-कभार जो कुछ मिल जाता उसी से उदर-पूर्ति करके फिर लीन हो जाते अपनी तपस्या में।

एक दिन अचानक इस वन से सटे एक गाँव में सनातन गोस्वामी का आगमन हुआ। ग्रामवासियों से बातचीत में इस नवीन संन्यासी का प्रसंग आया। सनातन गोस्वामी उससे मिलने के लिए चल पड़े। वे कुटिया के पास पहुँचे ही थे कि श्री जीव चरणों पर गिर पड़े और इस कुटिया में वास का कारण बताया। सनातन का हृदय द्रवित हो उठा। उन्होंने श्री जीव को सान्त्वना दी किन्तु रूप गोस्वामी की स्वीकृति लिये बिना श्री जीव को अपने साथ ले जाने का साहस नहीं जुटा पाए।

वृन्दावन लौटने पर रूप के साथ बातचीत में श्री जीव का उल्लेख आया। सनातन ने कहा, ''श्री जीव से मेरी मुलाकात हुई। अनाहार, अनिद्रा और कठोर तपस्या से उसकी जो दशा हुई है, उसे देख पाना सम्भव नहीं है। उसके शरीर में बस प्राण मात्र रह गया है।'' सनातन की व्यथा को समझते देर नहीं लगी। रूप ने श्री जीव को क्षमा करने का निश्चय किया। उन्होंने एक शिष्य को भेज कर श्री जीव को बुलवाया। उसे क्षमा किया। श्री जीव को नया जीवन मिला।

कंथा और करंगधारी सनातन और रूप बंधु ने वृन्दावन में एक विशाल भक्ति-साम्राज्य स्थापित कर लिया था। ये लोग महाप्रभु द्वारा प्रचारित भक्ति-प्रेमधर्म के चिह्नित अधिनायक के रूप में मान्य थे। कृष्णराज कविराज ने लिखा—

सनातन की कृपा से पाया भक्ति के सिद्धान्त।
श्री रूप की कृपा से पाया रसभार प्रान्त॥

इन दोनों महासाधकों के बीच श्रीजीव गोस्वामी का उदय हुआ। सनातन और रूप वृद्ध हो गए थे। सनातन स्वामी ने आषाढ़ी पूर्णिमा को अपना देह-त्याग किया। देवतुल्य ज्येष्ठ भ्राता का विछोह रूप के लिए अत्यन्त मार्मिक था। सनातन के श्राद्ध और भण्डारा के बाद जब वे अपनी कुटिया में घुसे तो उससे बाहर निकलते नहीं देखे गए। १५५४ खीष्टाब्द के चिह्नित क्षण में इस महान साधक की चिर विदा बेला का लग्न आने पर, प्राण-प्रभु गोविन्द देव की ओर अपनी दृष्टि निबद्ध करते हुए वे चिरनिद्रा में लीन हो गए।

●

सनातन गोस्वामी

श्री चैतन्य नीलाचल से नवद्वीप आये थे। जननी के चरण-दर्शन पाकर कुछ दिनों तक गंगा-तट पर वास के उपरान्त वृन्दावन के लिए रवाना हुए लेकिन पहुँच गए गौड़ से सन्निकट रामकेलि के समीप। रात में विश्राम कर रहे थे तभी दीन-वेष में दो स्थानीय सम्मानित पुरुष उनके समक्ष आ खड़े हुए। भक्तों ने परिचय कराया, "प्रभु, ये दोनों भाई गौड़ के बादशाह हुसैन शाह के प्रधान अमात्य हैं। बड़े भाई अमरदेव दबीर खास हैं और छोटे भाई संतोषदेव साकर माल्लिक के नाम से जाने जाते हैं। इनकी अटूट कृष्ण-भक्ति सर्वोपरि है।" प्रभु ने अमरदेव को आलिंगनबद्ध कर लिया। बोले, "तुम दोनों भाई कृष्ण-कृपा के महान अधिकारी हो। इसीलिए तुम दोनों के दर्शनार्थ दौड़ आया। देखो, मेरे कृपामय कृष्ण की क्या अपार लीला है। ब्रजधाम जाने के लिए निकला हूँ, परन्तु अज्ञात आकर्षण से इस क्षेत्र में दौड़ा आया। गौड़ आने का मेरा कोई प्रयोजन ही नहीं है। मात्र तुम लोगों के लिए ही इधर आ गया हूँ।"

प्रभु की इस कृपा से दोनों भाइयों की आँखों में आँसू आ गए। उन्होंने श्री चरणों का सेवक बनने की प्रार्थना की। दोनों भाइयों को आशीर्वाद देते हुए श्री चैतन्य ने कहा, "शीघ्र ही कृष्ण तुम लोगों पर कृपा करेंगे, अपने व्यक्तिगत कार्य में लगा लेंगे। आज से तुम लोगों का मैं नवीन नामकरण कर रहा हूँ। अमर का नाम होगा सनातन और संतोष का नाम होगा रूप।" बाद में चलकर दोनों भाई श्री चैतन्य के निकटतम पार्षदों के रूप में प्रसिद्ध हुए। सनातन गोस्वामी ने गौड़ीय वैष्णव धर्म की सुदृढ़ शास्त्रीय भित्ति का निर्माण किया और रूप गोस्वामी ने राधाकृष्ण लीला-रस की परिपुष्टि एवं विस्तार किया।

सनातन के पूर्वज दक्षिणात्य के थे। चौदहवीं सदी के मध्य में कर्नाटक के पराक्रमी नृपति सर्वज्ञ जगद्गुरु थे। इनके वंशधर रूपेश्वर देव ने सत्ताच्युत होने के बाद गौड़ देश में आश्रय किया। इस वंश की शास्त्र विद्या एवं राजकार्य दोनों में ही समान दक्षता थी ही, साथ ही दाक्षिणात्य की वैष्णवीय साधना की धारा भी इनके जीवन में बह रही थी। इसी वंश के कुमारदेव के घर में तीन पुत्रों का जन्म हुआ। अमर, संतोष तथा बल्लभ देव। ज्येष्ठ पुत्र अमर का जन्म १४६५ ईस्वी में हुआ जो कालान्तर में सनातन गोस्वामी के नाम से प्रसिद्ध हुए। गौड़ीय-साधक

समाज में श्री चैतन्य के जीवन-दर्शन के विशिष्ट एवं श्रेष्ठ भाष्यकार के रूप में प्रतिष्ठित हुए।

सनातन के पितामह मुकुन्ददेव रामकेलि के रहने वाले थे और गौड़ सरकार में उच्चपद पर आसीन थे। वे भी एक भक्तिवान साधक थे। उन्होंने अपने पुत्रों को उच्च शिक्षा दिलाई। पण्डित वासुदेव सर्वभौम एवं उनके अनुज रत्नाकर विद्यावाचस्पति की देखरेख में सनातन एवं रूप ने साहित्य, व्याकरण तथा धर्मशास्त्रों का गहन अध्ययन किया। इसके बाद अरबी और फारसी भाषाओं पर भी अधिकार जमाया। बाद में वृन्दावन प्रवास के प्रथम चरण में परमानन्द भट्टाचार्य नामक एक विशिष्ट भक्तिसिद्ध आचार्य से भी सनातन ने शिक्षा ग्रहण की तथा भागवत एवं अन्य भक्ति शास्त्रों में पारंगत हुए।

पितामह मुकुन्ददेव के देहांत के बाद सनातन उन्हीं के पद पर राज्य सरकार में आरूढ़ हुए. उस समय उनकी अवस्था अठारह वर्ष थी। धीरे-धीरे अपनी प्रतिभा और कर्तव्यनिष्ठा के कारण वे इस पठान राज्य के प्रधान अमात्य बन गए। वे सुल्तान हुसैन शाह के दाहिने हाथ बन गए। रामकेलि में इन भ्राताओं की कीर्ति, प्रभाव, वैभव और मर्यादा असाधारण थी। उनके प्रासाद के चारों ओर मन्दिर, मण्डप एवं नाट्यशालाएँ निर्मित थीं। विख्यात साधु-संन्यासियों, विद्वानों, आचार्यों का आवागमन बना रहता। दीन-दुखियों को सहायता प्राप्त होती रहती। सनातन की ख्याति सारे गौड़ देश में फैल गई।

परन्तु इतनी मर्यादा और ख्याति के बावजूद हिन्दू समाज इस परिवार को मान्यता नहीं देता था। कारण था मुसलमानों से घनिष्ठता एवं स्पर्शदोष। इसीलिए बंगीय कायस्थों की वंशावली में इन लोगों का कोई उल्लेख नहीं मिलता। लेकिन प्रभु श्री चैतन्य के दर्शन और आशीर्वाद से उनके जीवन में एक नए आनन्द और उल्लास का संचार हो गया था। वैसे राज्य-अमात्य पद को विभूषित करते हुए भी सनातन का अन्तर दैन्यमय, त्यागव्रती महावैष्णव का ही था।

सनातन बादशाह हुसेन के बड़े प्रिय थे। युद्धाभियान में प्रायः उनके साथ रहते। एक बार बादशाह के सेनापति ने उड़ीसा में देव-मन्दिरों को ध्वस्त कर दिया, तभी भक्त सनातन का हृदय विदीर्ण हो उठा। यह विचार उनके मन में आने लगा कि वे कैसा पाखण्डपूर्ण जीवन व्यतीत कर रहे हैं। इस जीवन से उन्हें जल्द ही मुक्त हो जाना चाहिए। रामकेलि के आध्यात्मिक वातावरण में रहते हुए सनातन के जीवन में भक्ति-प्रेम की सुप्त भावना जाग उठी। वे स्वनिर्मित कृष्ण लीला स्थलों में घूमते हुए अद्‌भुत आनन्द का अनुभव करते। इसी बीच उन्होंने नीलाचल में भक्तिरस का प्रसार कर रहे श्री चैतन्य के बारे में सुना और उन्हें एक मार्मिक पत्र लिखा जिसमें श्री चैतन्य के चरणों में सारा जीवन उत्सर्ग कर देने की

अनुमति माँगी। पत्रवाहक के हाथ श्री चैतन्य ने जो पत्रोत्तर भेजा उसमें मात्र यही श्लोक लिखा—

परव्यसनी नारी व्यग्रापि भृकर्म सु।
तदेवास्वादायत्यन्तर्नवसंग रसायन: ॥

अर्थात परपुरुष आसक्ता नारी जैसे गृह-कार्य करते हुए भी प्रेमी की स्मृति बनाए रखती है, उसी तरह विषय-लिप्त अवस्था में भी, 'उसके' प्रेम में चित्त डुबाए रखा जा सकता है। यह श्लोक स्वामी विद्यारण्य के सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'पंचदशी' से लिया गया था।

प्रभु के इस पत्र को पाकर सनातन की व्याकुलता और बढ़ गई। अन्तत: उस दिन प्रभु ने स्वयं रामकेलि में आकर ही दर्शन दिया। सनातन का तप्त हृदय शान्त हुआ।

श्री चैतन्य जब अपने भक्तगणों के साथ वृन्दावन जाने को तैयार हुए तो सनातन ने उनसे विनती की थी, "प्रभु, इस समय उत्तर भारत में राजनीतिक उथल-पुथल मची हुई है। राजाओं और मुस्लिम शासकों में युद्ध छिड़ा हुआ है, इसलिए इतने साधुओं के साथ वृन्दावन जाना उचित नहीं है। वहाँ तो अत्यन्त कंगाल वेश में जाना ही उचित है।"

श्री चैतन्य को सनातन की यह सलाह पसन्द आई और वे शांतिपुर की ओर रवाना हो गए।

प्रभु के जाने के बाद सनातन के भीतर इस सांसारिक मोह से छुटकारा पाने की आकांक्षा तेजी से जगी। अन्तत: दोनों भाइयों ने निश्चय किया कि पहले रूप गृहत्याग करेंगे, उसके बाद सनातन। गृहत्याग से पूर्व सनातन राजकीय दायित्वों से मुक्त होना चाहते थे।

रूप ने गृह त्यागने से पूर्व अपने और सनातन के आश्रित ब्राह्मणों, साधु-सन्तों और आत्मीय स्वजनों के भरण-पोषण की व्यवस्था कर दी। रूप के जाने के बाद सनातन के अन्दर निवृत्ति मार्ग तेजी से पनपने लगा और एक दिन उन्होंने सुल्तान को खबर भेज दी कि अस्वस्थता के कारण वे राजकीय दायित्वों को वहन करने में स्वयं को समर्थ नहीं पा रहे। हुसेन शाह चिंतित हो उठे। चारों ओर छाए युद्ध के बादलों के बीच एक कुशल अमात्य को खोना विपत्ति को दावत देने के समान है। बादशाह सनातन के घर चले आए। उन्होंने देखा कि सनातन स्वस्थ हैं और साधु-संतों से धर्म-चर्चा में परमानन्द प्राप्त कर रहे हैं। उन्होंने सनातन से पुन: अपना दायित्व सम्हालने का अनुरोध किया। इससे भी जब बात नहीं बनी तो धमकियाँ दीं। सनातन ने स्पष्ट शब्दों में कहा, "जहाँपनाह, सही बात यह है कि मैं दरबार के कार्य में किसी तरह का योगदान

देने में असमर्थ हूँ। आज से मैं केवल भगवान का दास हूँ, और किसी का नहीं। मेरा यह संकल्प अपरिवर्तनीय है। आप कृपया क्षमा करें।''

सनातन की इस स्पष्टोक्ति से बादशाह आगबबूला हो उठा और उन्हें गिरफ्तार करके जेल में डाल दिया।

थोड़े ही दिनों बाद हुसेन के सेनापति उड़ीसा के युद्ध में परास्त होकर वापस लौट आए। शाह हुसेन ने स्वयं राजा प्रतापरुद्र के खिलाफ युद्ध का नेतृत्व करने का निश्चय किया। उन्हें सनातन जैसे कुशल अमात्य की आवश्यकता महसूस हुई। उन्होंने सनातन को जेल से बाहर निकाला और अपना साथ देने के लिए समझाया। सनातन ने उत्तर दिया, ''जहाँपनाह, आपके अभिमान का दृश्य मैं स्पष्ट देख रहा हूँ। आपकी सेना सारे मार्ग में देव-मन्दिरों को ध्वस्त करेगी तथा पवित्र विग्रहों को कलुषित करेगी। इसलिए किसी भी प्रकार मैं आपके पाप-कार्यों में साथ नहीं दूँगा।''

अमात्य को पुनः जेल में डाल दिया गया और शाह ने युद्ध के लिए विशाल सेना के साथ प्रस्थान किया।

एक दिन सनातन को छोटे भाई का पत्र मिला। उसमें सलाह दी गई थी कि जो रुपए मोदी के पास रखे गए हैं उनमें से सात हजार रुपए लेकर वे जेल से मुक्ति को क्रय करें। सनातन ने इसी सलाह के अनुरूप जेलरक्षकों को प्रलोभन में फँसाया और जेल से मुक्त होकर पश्चिम भारत की ओर रवाना हो गए। उनके साथ उनका विश्वस्त मित्र एहसान भी था।

उन दिनों श्री चैतन्य बनारस में निवास कर रहे थे।

बादशाह के रक्षकों द्वारा पीछा किए जाने के भय से सनातन दीन-दरिद्र के वेश में यात्रा कर रहे थे। मार्ग में उन्हें एक भूमिया मिला। उसने खूब आदर-सत्कार किया। सनातन भूमियाओं के चरित्र से परिचित थे। वे यात्रियों की सेवा करके उन्हें अपने यहाँ ठहराते थे, रात में सबकुछ लूट कर उनकी हत्या कर देते थे। सनातन के पास तो कुछ नहीं था लेकिन एहसान के पास कुछ धन हो सकता था। उन्होंने जब एहसान से पूछा तो उसने स्वीकार किया कि राह-खर्च के लिए उसने सात मुहरें छिपा रखी हैं। सनातन ने इसके लिए एहसान को फटकारते हुए कहा, ''मैं सर्वस्व त्याग कर वैराग्य के मार्ग पर निकल पड़ा हूँ और तुम मेरे मार्ग में विघ्न की सृष्टि कर रहे हो?''

सनातन भूमिया के पास गए और कहा कि ''मेरे साथी के पास सात मुहरें हैं, इसे आप ग्रहण कीजिए और हम लोगों को इस दुर्गम पहाड़ को पार करा दीजिए।'' उससे भूमिया काफी प्रसन्न हुआ और दोनो अतिथियों को वह खतरनाक इलाका पार करा दिया।

एहसान को अपराधबोध साल रहा था। उन्होंने अपने पास एक मुहर और होने की बात सनातन को बताई और इसके लिए क्षमा की प्रार्थना की। सनातन काफी कुपित हुए और एहसान को वापस लौट जाने को कहा। एहसान ने अश्रुपूरित नेत्रों से वापस रामकेलि की ओर प्रस्थान किया।

पैदल यात्रा करते हुए सनातन सोनपुर पहुँचे। वहाँ हरिहर क्षेत्र का मेला चल रहा था। अचानक उनकी मुलाकात भगिनीपति श्रीकान्त से हुई जो राज्य सरकार में एक वरिष्ठ पद पर तैनात थे। उनकी नौकरी सनातन ने ही लगवाई थी। वे बादशाह के लिए घोड़े खरीदने मेले में आए थे। श्रीकान्त ने सनातन से काफी आग्रह किया कि वे वैराग्य का मार्ग त्याग दें, किन्तु उन्होंने ठुकरा दिया। फिर श्रीकान्त ने कहा कि भिखारी वेश में न जायँ, आपके लिए कुछ वस्त्र खरीद दूँ, इसके लिए भी सनातन तैयार नहीं हुए। अन्त में पश्चिमी भारत में भयंकर सर्दी को देखते हुए एक कम्बल लेने को तैयार हुए और श्रीकान्त ने एक मूटिया कम्बल खरीद कर उन्हें अर्पित किया।

सनातन कई दिनों की यात्रा के बाद बनारस पहुँचे। उनकी खुशी की सीमा नहीं रही जब उन्होंने सुना कि श्री चैतन्य इन दिनों यही हैं। वे चन्द्रशेखर मिश्र के घर निवास कर रहे थे। भिखारी वेश में हाथ जोड़े सनातन मिश्रजी के दरवाजे पर आ खड़े हुए। घर में श्री चैतन्य भक्तों के साथ चर्चा में लीन थे। उन्होंने अचानक चन्द्रशेखर मिश्र से कहा, ''मिश्रजी, आज बड़ा ही शुभ दिन है। बाहर जाकर देखो कोई महावैष्णव तुम्हारे द्वार पर खड़े हैं। उन्हें परम आदर के साथ मेरे पास ले आओ।'' चन्द्रशेखर मिश्र सनातन को घर में ले आए।

श्री चैतन्य को देखते ही सनातन भाव-विभोर हो गए। अश्रुजल की धारा बह निकली। प्रभु के चरणों पर गिर पड़े। प्रभु ने उन्हें उठाकर सीने से लगा लिया।

कुछ देर बाद श्री चैतन्य ने उन्हें गंगा-स्नान करके भिक्षा ग्रहण करने का आदेश दिया। सनातन ने मिश्रजी से एक पुराने कपड़े का टुकड़ा लिया। उसके दो हिस्से करके एक का कौपीन और दूसरे का वहिर्वास बनाया।

सनातन गंगा-स्नान करके लौटे। भिक्षा ग्रहण की। कंधे पर मोटिया कम्बल डाले। हाथ में भिक्षा की झोली ली और घर-घर भिक्षा माँगने के लिए उठे। तभी श्री चैतन्य की निगाह उनके कीमती कम्बल पर पड़ी। वे थोड़ी देर तक घूरते रहे। सनातन को समझते देर नहीं लगी। वे भागते हुए गंगा के घाट पर आए। वहाँ एक गरीब वृद्ध अपना कंथा धूप में सूखा रहा था। सनातन ने विनती करके उस वृद्ध का जीर्ण कंथा ले लिया और अपना मोटिया कम्बल उसे दे दिया। उसके बाद प्रसन्न मन से जीर्ण कंथा लपेटे वापस आ गए।

श्री चैतन्य को सनातन का यह रूप देखकर अपार खुशी हुई फिर भी उन्होंने पूछा, ''यह क्या सनातन! अपना मोटा कम्बल कहाँ भुला आये?''

उत्तर में सनातन ने पूरी घटना बयान कर दी। सनातन के जीवन में यह त्याग-वैराग्य की पराकाष्ठा थी। कुछ दिनों तक सनातन वाराणसी में प्रभु के समीप रहे। इस दौरान उनकी तमाम शंकाओं का समाधान प्रभु ने किया जिसके परिणामस्वरूप सनातन उत्तर काल में ब्रजमण्डल के वैष्णव समाज में शीर्ष स्थान पर पहुँच गए। एक दिन सनातन के सिर पर हाथ रखकर श्री चैतन्य ने कहा था, ''सनातन, आज जिन देववांछित तत्त्वों का तुमने श्रवण किया, आशीर्वाद देता हूँ कि उनका तुम्हारे अन्तर में स्फुरण हो।''

सनातन बनारस से वृन्दावन आ गए। उनकी भेंट सुबुद्धि राय, लोकनाथ गोस्वामी और भूगर्भ पण्डित जैसे वैष्णव भक्तों से हुई। इसके बाद उन्होंने यमुना-पुलिन स्थित आदित्य टीले पर आश्रय लिया। उनके इस समय के त्याग-वैराग्य, भजननिष्ठ जीवन की झाँकी 'भक्त पदावली' में उपलब्ध होती है—

कमु कान्दे कमु हाँसे कमु प्रेमानन्दे भासे
कमु भिक्षा कमु उपवास।
छेड़ा कांथा नेड़ा माता मुखे कृष्ण गुण गाथा
परिधान छेड़ा बहिर्वास।
कखनओं बनेर शाक अलवणे करि पाक
मुखे देय दुई एक ग्रास।

सनातन झोली कंधे से लटका कर भिक्षा के लिए मथुरा चले जाते। जो कुछ भिक्षा मिलती, उसी से भूख मिटाते। वे लोकनाथ गोस्वामी के साथ ब्रजमण्डल में लुप्त श्रीकृष्ण के लीला-स्थलों के उद्धार में लग गए। लगभग एक वर्ष तक वृन्दावन में रहने के उपरान्त सनातन उड़ीसा के लिए लिए चल पड़े। झारखण्ड के रास्ते वे उड़ीसा की तरफ बढ़ रहे थे। एक दिन उन्होंने देखा कि उनके शरीर में विषाक्त कण्डु रोग का आक्रमण हो चुका है। उन्होंने इसे सुल्तान की नौकरी के दौरान स्वयं द्वारा किए गए पाप-कर्मों का परिणाम समझा और निश्चय किया कि पुरीधाम पहुँच कर श्री जगन्नाथ तथा प्रभु श्री चैतन्य के चन्द्र- बदन का दर्शन करके रथ के पहियों के नीचे अपने प्राण विसर्जित कर देंगे। धाम में पहुँचकर सनातन ने नगर के दूरस्थ क्षेत्र में स्थापित हरिदास की कुटिया में शरण ली।

श्री चैतन्य प्रतिदिन भक्त हरिदास को दर्शन-दान देने के लिए उनके पास आते और काफी समय व्यतीत करके वापस लौट जाते। उस दिन जब उन्होंने सनातन को देखा तो दीनतापूर्वक प्रणाम निवेदित किया। वे हाथ बढ़ाकर सनातन

के आलिंगन का जितना प्रयास करते, सनातन उतना ही पीछे हटते जाते। अन्ततः सनातन ने कातर स्वर में कहा, ''प्रभु, अपने देव-दुर्लभ शरीर से मेरा स्पर्श मत करो। मैं अत्यन्त हीन तथा भ्रष्टाचारी हूँ। मेरे शरीर में कण्डु की घृणित व्याधि भी है। इसकी छूत अपने शरीर में लगाकर मुझे और अधिक पापी मत बनाओ।''

परन्तु प्रभु सनातन से बार-बार लिपटते रहे। उनके शरीर की पीप श्री चैतन्य के शरीर में लगती रही और सनातन पश्चात्ताप की आग में जलते रहे। अन्ततः उन्होंने सोचा कि उन्हें यथाशीघ्र शरीर विसर्जित कर देना चाहिए।

श्री चैतन्य एक दिन हरिदास की कुटिया में बैठकर कृष्ण-भक्ति की कथा कह रहे थे। अचानक सनातन की तरफ मुड़े और कहा, ''सनातन, केवल शरीर त्याग करने से कृष्ण नहीं मिलते। उनकी प्राप्ति उनके भजन से होती है। ऐसे अशुभ संकल्पों का त्याग कर दो। मैं आशीर्वाद देता हूँ कि शीघ्र ही तुम्हारी मनोकामना सिद्ध होगी और परम प्रभु के दर्शन पाओगे।'' सनातन ने सोचा, उनकी आत्महत्या की इच्छा प्रभु से छिपी नहीं रही। प्रेमावेग में सनातन प्रभु के चरणों पर गिर पड़े। रोते हुए बोले, ''प्रभु मैं पतित और पातकी हूँ। इस शरीर को जीवित रखने का लाभ ही क्या है, यह तो बताओ? मुझे अनुमति दो कि मैं श्री जगन्नाथजी के रथ के नीचे अपने को डाल दूँ।''

प्रभु ने जो बात कही उससे सनातन की महिमा प्रकट होती है—

प्रभु कहे तोमार देह मोर निज घन,
तुमि मोरे करियाछो आत्मसमर्पण।
परेर द्रव्य तुमि कैनो चाह विनाशिते,
धर्माधर्म विचार किंवा ना पार करिते।
तोमार शरीर मोर प्रधान साधन,
ऐ शरीरे साधियो आमि बहु प्रयोजन।

(चैतन्य चरितावली)

प्रभु द्वारा की गई भर्त्सना के बाद सनातन सिर झुकाए बैठे रहे। हरिदास ने सनातन का आलिंगन करते हुए कहा, ''सनातन, तुम्हारे सौभाग्य की सीमा नहीं है। स्वयं प्रभु ने तुम्हारे शरीर पर अपना दावा किया है। मात्र यही नहीं, अपने शरीर से जो कार्य सम्भव नहीं है, उसे तुम्हारे माध्यम से कराने का निश्चय किया है। तुम सत्य ही धन्य हो। हम लोग नितान्त अधम हैं, इसीलिए प्रभु के किसी काम नहीं आ सके।''

श्री चैतन्य के अंतरंग भक्त जगदानन्द पण्डित नीलाचल आए हुए थे। वे सनातन से मिलने गए। सनातन ने कहा कि प्रभु प्रतिदिन मेरे शरीर का आलिंगन करते हैं। मैं वीभत्स कण्डु रोग से ग्रसित हूँ। मेरे शरीर की पीप प्रभु के शरीर में

लगती रहती है। यह अपराध नित्य मुझसे हो रहा है। मैं प्रभु को मना भी नहीं कर पा रहा हूँ। आप ही कोई रास्ता बताइए। प्रभु ने मुझे आत्महत्या करने से भी रोक दिया है। जगदानन्द यह बात सुनकर सिहर उठे। उन्होंने सनातन को वृन्दावन चले जाने की सलाह दी।

दूसरे दिन जब प्रभु हरिदास और सनातन को दर्शन देने आए तो प्रभु ने फिर सनातन को आलिंगन किया और उनके शरीर का पीप प्रभु के शरीर में लगा। सनातन बहुत दुःखी हुए और उन्होंने जगदानन्द की सलाह का उल्लेख करते हुए नीलाचल छोड़ देने की इच्छा व्यक्त की। यह सुनते ही प्रभु गुस्से से फट पड़े। बोले, "क्या कहते हो तुम? कल का जगा, तुम्हें उपदेश देने आया था? उसकी ऐसी स्पर्धा! क्या वह नहीं जानता कि बुद्धि, शास्त्रज्ञान तथा भजन-साधन में तुम उसके गुरु होने योग्य हो? इसके अलावा तुम मेरे प्राणाधिक प्रिय सहचर हो। बालक-बुद्धि जगा, तुम्हें उपदेश देने आया था, ऐसी धृष्टता उसने कैसे की?"

सनातन की आँखों से आँसू झरने लगे थे।

हरिदास ने जब सनातन के कण्डु रोग के न ठीक होने के बारे में पूछा तो प्रभु ने हँसते हुए कहा, "हरिदास, सनातन ने अपना देह, मन और प्राण सभी मुझे समर्पित किया है तथा मैं अपना सर्वस्व अपने प्राणप्रभु कृष्ण को समर्पित करके बैठा हूँ। सनातन की वे निश्चित रूप से रक्षा करेंगे।"

और भक्तों ने विस्मयपूर्वक देखा कि सनातन का रोग कुछ दिनों में जाता रहा और शरीर में अपूर्व लावण्यश्री प्रस्फुटित हो उठी।

रथयात्रा भी आ गया। इस बार का सबसे बड़ा आकर्षण था—जगन्नाथ रथ के अग्रभाग पर भावाविष्ट श्री चैतन्य का नर्तन। भक्तगण इस दृश्य को देखकर भावविभोर हो गए। चतुर्मास्य खत्म होने पर भक्तगण वापस लौट गए पर सनातन को प्रभु ने दोलयात्रा (होली) तक रोक लिया।

दोलयात्रा समाप्त होने पर सनातन वृन्दावन के आदित्य टीले की पर्ण-कुटीर में लौट आए। प्रभु ने जिस नवीन भक्ति साम्राज्य के गठन की जिम्मेदारी उन्हें सौंपी थी उसके बारे में चिन्तन करते रहे—भक्तिसाधन के साथ-साथ।

एक दिन भिक्षाटन के लिए सनातन मथुरा गए थे। वहीं रहने वाले दामोदर चौबे के घर उपस्थित हुए। आँगन में पैर रखते ही श्री श्री मदनगोपाल के नयनाभिराम विग्रह पर दृष्टि पड़ी। उनके अन्दर इस विग्रह की सेवा की भावना पैदा हुई लेकिन उसे त्यागकर वापस लौट आए वृन्दावन। लेकिन जब वे साधन-भजन में लीन होते वही विग्रह उनके ध्यान में आ जाता। जब वे मधुकरी के लिए मथुरा जाते, चौबेजी के आँगन में खड़े होकर उसका दर्शन अवश्य करते।

चौबेजी की विधवा कृष्ण के बालरूप की सेवा करतीं। उन्हें एक पुत्र था सदन। दूसरे गोपाल कृष्ण थे मदन। सनातन ने उन्हें कृष्ण के बाल-स्वरूप के अर्चन की बजाय अन्य वैष्णव भक्तों की तरह पूजा-अर्चना का सुझाव दिया क्योंकि उनके अन्दर यशोदा जैसा वात्सल्य उत्पन्न होना असम्भव था। चौबेजी की विधवा ने सनातन के निर्देशानुसार ही पूजा करना प्रारम्भ किया। कुछ दिनों बाद जब सनातन जाकर चौबेजी के आँगन में खड़े हुए तो उनकी विधवा दौड़ते हुए आईं। बोलीं, ''बाबाजी, तुम्हारे कहे अनुसार पूजा करने पर मदनगोपालजी क्षुब्ध हो गए। एक दिन उन्होंने स्वप्न में आदेश दिया—''तू मेरी माँ बनी थी, यही अच्छा था। अब इष्ट के रूप में मुझे दूर खिसका देती है, यह मुझे बिल्कुल अच्छा नहीं लगता। तुम्हारे दोनों पुत्रों सदन और मदन में भेद रखना क्या अच्छी बात है?''

सनातन चौंक पड़े। ठीक ही तो है। सहजात प्रेम तथा हृदय की स्वाभाविक पुकार—यही तो है प्रभु की सेवा का श्रेष्ठ उपचार। चौबेजी की गृहिणी के स्वप्नादेश के माध्यम से इस मूल तत्त्व को मदनगोपाल ने आज मुझे समझा दिया।

वृन्दावन लौट कर सनातन मदनगोपाल के विरह से दग्ध रहने लगे। वे बार-बार मदनगोपाल को पुकारते। रोते। अपनी विरह-वेदना उन तक पहुँचाते। मदनगोपाल ने उनकी आर्त पुकार सुन ली और अपनी 'माँ' यानी चौबेजी की पत्नी से कहा कि अब मुझे सनातन के यहाँ पहुँचा दो। सनातन जब अगली बार चौबेजी के घर आए तो उनकी पत्नी ने विनती की, ''बाबाजी, आज से ही मदन गोपाल की सेवा का भार सम्हालो। गोपाल अब बड़ा हो चुका है, माँ के आँचल के नीचे क्यों रहना चाहेगा? तुम्हारी कुटिया में जाने की जिद पकड़ ली है। कल रात ही स्वप्न में उसने यह बात कही।''

सनातन को बेहद खुशी हुई। वे मदनगोपाल के विग्रह को ले आए और उसे स्थापित कर दिया। इस विग्रह का विशेष महत्त्व था। जनश्रुति के अनुसार श्रीकृष्ण के पौत्र वज्रनाभ ने सारे ब्रजमण्डल में अनुसंधान करके जिन आठ प्राचीन विग्रहों का पता लगाया, मदनगोपाल की श्री मूर्ति उनमें सर्वश्रेष्ठ थी। भिक्षा में मिले आटे का पिण्ड बनाकर उसे आग में सेकने (मौरीयाबट्टी) के बाद सनातन उसी का भोग मदनगोपाल को लगाते। वैष्णव समाज में यह भोग वस्तु आँगाकड़ि-भोग के नाम से विख्यात हुआ। बाद में बड़े-बड़े धनी लोगों द्वारा लाए गए विविध चढ़ावों के साथ यह भोग भी अनिवार्य हो गया।

इसके अलावा सनातन कुटिया के आस-पास उगे साग ले आते उसे बिना नमक के ही पका कर उसका भी भोग लगाते। एक दिन मदनगोपाल ने स्वप्न में

दर्शन देकर इस रूखे-सूखे भोग-पदार्थ पर एतराज जताया तो सनातन भारी मुसीबत में पड़ गए लेकिन कोई उपाय नहीं सूझ रहा था। अन्ततः मदनगोपाल ने स्वयं व्यवस्था कर दी।

पंजाब के एक धनी व्यापारी रामदास कपूर रात में नाव से वृन्दावन के पास से गुजर रहे थे। उनकी नाव में काफी माल लदा था। सहसा वह नौका आदित्य टीले के सामने सूर्य घाट की रेती में फँस गई और टेढ़ी-सी हो गई। माझियों ने काफी प्रयास किया किन्तु सफलता नहीं मिली। कृष्णपक्ष का गहन अन्धकार था। आसपास कोई बस्ती भी नहीं थी। कपूर चिंतित हो उठे। सम्भावना थी कि टेढ़ी नौका जल-समाधि ले ले और उस पर लदा सारा सामान जल में समा जाय। दस्यु आकर सामान लूट भी तो सकते हैं। सहसा एक टीले पर दीपक का मद्धिम प्रकाश दिखाई दिया। वे तैरकर टीले के पास गए। उन्हें एक पर्ण-कुटीर दिखाई दी। उस कुटीर के पास गए। वहाँ एक नयनाभिराम श्रीकृष्ण-विग्रह दिखाई पड़ा। विग्रह के सामने एक देवतास्वरूप वैष्णव साधक तपस्यारत थे। उन्होंने साधक को प्रणाम निवेदित किया। कपूर ने अपनी राम कहानी इस तपस्वी को सुना डाली। सनातन ने आश्वासन दिया, "बाबा, तुम इतने अधीर न हो। मदनगोपालजी तुम्हारे ऊपर दया करेंगे।" रामदास ने कहा, "महाराज, मैंने संकल्प किया है कि इस संकट से मुक्त होने पर इस बार के व्यापार में जो लाभ होगा, सब देव-विग्रह की सेवा में अर्पित कर दूँगा।"

पता नहीं कहाँ से यमुना में एक जलधारा फूट पड़ी। उससे रेत हटी और नौका मुक्त हो गई।

रामदास व्यापार से वापस लौटे। सनातन से सपत्नीक दीक्षा लेकर धन्य हुए। उस बार के व्यापार का सारा लाभ मदनगोपाल के चरणों में अर्पित कर दिया। इस विपुल अर्थ से जगमोहन मन्दिर तथा नाट्यशाला का निर्माण हुआ। इसी के साथ ही कपूर ने काफी भूमि क्रय करके ठाकुर के भोग-वितरण की स्थायी व्यवस्था भी कर दी। जन साधारण में मदनगोपाल मनमोहन के नाम से परिचित हो गए। बाद में प्रभु का यह लीलामय श्री-विग्रह जयपुर में स्थानान्तरित हो गया।

इस नवनिर्मित इष्ट मन्दिर में सनातन ने एक दिन भी वास नहीं किया। कभी गोवर्धन के नीचे, कभी राधाकुण्ड के तट पर या कभी गोकुल के वन क्षेत्रों में झोपड़ी बना कर पूर्व-निष्ठा के साथ साधन-भजन करते रहे। इस बीच श्रीकृष्ण के लुप्त तीर्थ-स्थलों की खोज का उनका प्रयास भी चलता रहा। अनेक तीर्थों को पुनर्जीवित किया तथा उनको जनसाधारण के समक्ष प्रतिष्ठित किया। इन स्थलों में उल्लेखनीय हैं—नन्दग्राम में नन्द-यशोदा, बलभद्र तथा कृष्ण-विग्रह की स्थापना।

श्री चैतन्य के इस निर्देश को सनातन कभी नहीं भूले कि उन्हें नए-नए वैष्णवीय दर्शन, स्मृति तथा साधन-भजन ग्रन्थों का प्रचार करना होगा। वे प्राचीन भक्ति-शास्त्र के ग्रन्थों का संग्रह करते रहे। नवीन रचनाओं पर भी उनकी दृष्टि पड़ी। उन्होंने स्वयं अनेक शास्त्र-ग्रन्थों की रचना की। उनकी प्रेरणा से गौड़ीय वैष्णव दर्शन, स्मृति तथा भजन-पूजन के ग्रन्थ और टीका भाष्य रचे गए। सनातन गोस्वामी ने गौड़ीय वैष्णवों की शास्त्र-भित्ति के निर्माण तथा गौरवमयी परम्परा को प्रतिष्ठित करने में अतुलनीय योगदान दिया है। उनके जीवन में त्याग-तितिक्षा, वैराग्यमय साधना एवं कृष्णप्रेम की अनुभूति के साथ ही असाधारण प्रतिभा, शास्त्रज्ञान एवं प्रेमनिष्ठा का अपूर्व सम्मिश्रण था। स्वरचित रचनाएँ, संकलन एवं सम्पादन के माध्यम से उनके व्यक्तित्व की विशिष्टता झलकती है। शास्त्रचर्चा का पाण्डित्य प्रत्यक्षीभूत सूक्ष्म लोक की अनुभूति का समावेश सनातन गोस्वामी में देखा जा सकता है। उनके स्वरचित ग्रन्थ हैं—लीला स्तव, वैष्णवीय स्मृति, हरिभक्ति विलास की दिग्दर्शिनी टीका, वृहत् भागवतामृत, भागवतामृत की टीका तथा वृहत् वैष्णवतोषनी टीका।

वैष्णवतोषनी टीका के रचना-काल में सनातन गोस्वामी अत्यन्त वृद्ध हो गए थे और चलने-फिरने में भी असमर्थ थे। रघुनाथ भट्ट तथा रघुनाथ दास उनकी सेवा में रहकर इस ग्रन्थ के प्रणयन में उनकी मदद करते रहे। यह सनातन गोस्वामी की अन्तिम रचना है। इस ग्रन्थ के पूर्ण होने के साथ ही सनातन गोस्वामी के जीवन पर भी पूर्ण विराम लग गया। उनके निर्वाण के लगभग २५ वर्षों बाद उनके मातृपुत्र श्री जीव गोस्वामी ने इस ग्रन्थ का सहजबोध संस्करण किया जिसका नाम रखा गया 'लतोषननी'।

ब्रजमण्डल के गौड़ीय साधकों एवं शास्त्रविदों में सनातन की अवस्था सबसे अधिक थी। कृच्छ व्रत, साधना, पाण्डित्य एवं प्रज्ञा में भी वे अतुलनीय थे। १५३३ ईस्वी में नीलाचल में श्री चैतन्य के शरीर-त्याग के बाद से उनके जीवन में व्यवधान दिखाई देने लगा था। उन्होंने कर्म जीवन से स्वयं को लगभग मुक्त कर लिया था। इस समय तक सनातन गोस्वामी की ख्याति पूरे उत्तर भारत में फैल चुकी थी। दूर-दूर तक भक्तगण उनके दर्शन को आते थे।

सनातन के साधन-ऐश्वर्य से सम्बन्धित नाना कहानियाँ प्रचलित हैं। एक बार बनारस के एक से एक ब्राह्मण सनातन के कुटीर में आकर उपस्थित हुए। उनका घर वर्धमान जिले के मानकड़ में था तथा नाम जीवन ठाकुर था। जन-साधारण में एक धर्मनिष्ठ के रूप में उनकी ख्याति थी। सारा जीवन दरिद्रता में बीत चुका था। अब वृद्धावस्था में संचय की सामर्थ्य नहीं रह गई थी। एक दिन आर्तस्वर में बाबा विश्वनाथ के चरणों में प्रार्थना करने लगे, "प्रभु दरिद्रता की

अवस्था असह्य हो गई है। अर्थ प्राप्ति का कोई साधन बताने का कष्ट करो।'' रात्रि में स्वप्न हुआ, ''तू शीघ्र ब्रजमण्डल चला जा। वहाँ जाकर सनातन गोस्वामी की शरण ले।''

जीवन ठाकुर इस स्वप्न के बाद यथाशीघ्र ब्रजमण्डल चले गए। वहाँ जाकर सनातन गोस्वामी के शरणागत हुए और स्वप्नादेश की बात विस्तार से बताई।

यह कहानी सुनकर स्वयं सनातन गोस्वामी आश्चर्यचकित हुए। वे तो स्वयं एक अकिंचन संन्यासी हैं। ब्राह्मण का दरिद्र निवारण किस तरह कर सकेंगे? सहसा, एक पुरानी घटना की याद आ गई। इस ब्राह्मण की सहायता करने में तो वे सक्षम हैं। बहुत दिनों पूर्व की बात है। यमुना का किनारा पकड़े सनातन चले जा रहे थे। अचानक पैरों में एक दुर्लभ रत्न से ठोकर लगी। उसे उन्होंने जल्दी से उठा लिया। दूसरे ही क्षण उनका मन चिन्ता में पड़ गया। वे स्वयं संन्यासी हैं, इस रत्न का उन्हें क्या प्रयोजन? उसे उन्होंने पत्थरों के पीछे छिपा दिया। अब इस रत्न के बारे में उन्हें स्मरण नहीं रह गया था।

जिस स्थान पर यह रत्न रखा था, उसका पता बताते हुए प्रसन्न होकर उन्होंने ब्राह्मण से कहा, ''बाबा, यह रत्न तुम अभी उठा के लाओ जिससे तुम्हारी दरिद्रता दूर हो जाएगी।'' गोस्वामीजी फिर इष्ट ध्यान में मग्न हो गए।

जीवन ठाकुर उसी समय यमुना तट की ओर दौड़ पड़े और वह रत्न खोज निकाला। रत्न सूर्य रश्मियों में झिलमिला उठा।

सनातन गोस्वामी की कृपा से जीवन ठाकुर विपुल सम्पदा के अधिकारी हैं। इसका स्मरण होते ही उनकी आँखें सजल हो गईं।

लेकिन सनातन गोस्वामी के वैराग्य की याद आते ही जीवन में सम्पदा की निरर्थकता का बोध होने लगा और जीवन ठाकुर के मन में परम-धन लाभ की तीव्र लालसा जाग उठी। वे एक अपूर्व दिव्य चेतना से उद्‌बुद्ध हो उठे। क्षणभर में ही उन्होंने इस रत्न को यमुना में फेंक दिया। फिर तेजी से सनातन गोस्वामी की कुटिया में आ गए। साष्टांग दण्डवत करने के बाद निवेदन किया, ''प्रभु, मैं अत्यन्त अधम जीव हूँ। अपनी तुच्छ घर-गृहस्थी में फँसा हुआ हूँ। आपके सान्निध्य में आकर मेरे ज्ञानचक्षु खुल गए हैं। जिस धन के कारण यह अलभ्य मणि भी आपके लिए नगण्य है, उसी का अंशदान मुझे करने की कृपा करें। कृपया अर्थ के बदले परमार्थ का दान करें। आज से मैंने आपके चरणों में ही उत्सर्ग कर दिया है।''

सनातन गोस्वामी से दीक्षा ग्रहण करने के बाद जीवन ठाकुर का आध्यात्मिक जीवन शुरू हुआ। बाद में उनका वंश काठभांगुर के गोस्वामी परिवार के नाम से विख्यात हुआ।

जीवन के अन्तिम समय में सनातन गोस्वामी नंदीश्वर के मानस गंगा नामक पुण्य सरोवर के तट पर गुप्त रूप से निवास करने लगे थे। बाद में यही स्थान बैठान के नाम से प्रसिद्ध है। सन्निकट ही चकेश्वर महादेव का मन्दिर है। इसी स्थान पर एक बिल्व वृक्ष के नीचे बैठकर, महासाधक अपनी चरम अध्यात्म साधना के व्रती हुए। नब्बे वर्ष की वृद्धावस्था में स्वयं श्रीकृष्ण ने बाल स्वरूप में दर्शन देकर उनके दैनिक आहार का भार ग्रहण कर लिया था। यह बात जब जनसाधारण में प्रचलित हुई तो लोग भाग चले सनातन गोस्वामी की ओर। इन लोगों की प्रार्थना पर सनातन अपनी कृच्छ साधना में कमी के लिए बाध्य हुए। लोगों ने एक कुटिया बना दी, जिसमें वे रहने लगे।

सनातन गोस्वामी जब गोवर्धन पर्वत की परिक्रमा के लिए अशक्त हो गए तो श्रीकृष्ण ने स्वयं दर्शन दिया। उन्होंने कहा, ''तुम्हारे अन्तर में मेरे गोवर्धन गिरि की परिक्रमा न कर पाने के कारण ग्लानि हो रही है। इसीलिए मैं भाग कर यहाँ आया हूँ। मेरे हाथ में यह गोवर्धन का ही शिलाखण्ड है। इस पर मेरे चरण-चिह्न अंकित हैं। इस चरण पहाड़ी को भक्तिपूर्वक तुम अपने कुटीर में स्थापित करोगे। भजन की समाप्ति पर नित्य इसकी प्रदक्षिणा करोगे। इससे ही तुम्हारे गोवर्धन परिक्रमा के व्रत का उद्‌यापन हो जाएगा।'' अब इस चरण पहाड़ी को ध्यान में रख कर ही सनातन की साधना होने लगी। धीरे-धीरे १५४५ ईस्वी की आषाढ़ी पूर्णिमा की तिथि आ गई। सनातन गोस्वामी के द्वार पर उस दिन उनके परमप्रिय कृष्ण का आवाहन ध्वनित हुआ। चरण पहाड़ी पर खड़े होकर इष्टदेव ने दर्शन दिया। सनातन गोस्वामी नश्वर जीवन त्याग कर शाश्वत लीलाधाम में प्रविष्ट हो गए। प्रभु मदनमोहनजी के प्रांगण में सनातन गोस्वामी के नश्वर शरीर को समाधिस्थ किया गया। आज भी हजारों भक्तों का श्रद्धार्घ्य उस पवित्र भूमि पर निवेदित होता है।

●

अवधूत नित्यानन्द

वीरभूम के एकचक्र गाँव के निवासी हाड़ाई पण्डित के घर एक परिव्राजक संन्यासी उपस्थित हुए। पण्डित के आग्रह पर आतिथ्य ग्रहण किया। पण्डित ने भरपूर सेवा-सुश्रूषा की। दूसरे दिन प्रात: जब चलने को हुए तो पण्डित के पुत्र कुबेर को साथ ले जाने का प्रस्ताव किया। पण्डित को काटो तो खून नहीं। ज्येष्ठ पुत्र, आँखों का तारा इस साधु के साथ चला जाएगा?

पण्डित ने यह बात अपनी पत्नी पद्मावती को बताई। पद्मावती को कई दिनों पूर्व की घटना का स्मरण हो आया। कुबेर एक दिन अचानक गम्भीर ध्यान में मूर्च्छित हो गया। जब उसकी चेतना लौटी तो उसने बताया, ''माँ, पता नहीं क्यों मेरी चेतना लुप्त हो गई। मैंने स्वप्न में देखा—एक महापुरुष के साथ मैं सुदूर तीर्थस्थानों में घूम रहा हूँ। उसके बाद जो दृश्य मेरे समझ में आए, उनका स्मरण नहीं है।'' उस दिन की बात को याद करते हुए पद्मावती ने कहा, ''धर्म की ओर दृष्टिपात करते हुए, जो भी तुम स्थिर करोगे, उसी से मेरी सहमति है।''

गौर वर्ण तथा सुन्दर देहयष्टि, रूप-लावण्य से भरपूर, नेत्रों में दिव्य आनन्द की आभा। यही था कुबेर का रूप-रंग। यह खूबसूरत बालक संन्यासी के साथ चला गया। उस समय उसकी अवस्था बारह वर्ष की थी।

आगे चलकर यह बालक नित्यानन्द अवधूत के नाम से प्रसिद्ध हुआ। उन दिनों नदिया श्री चैतन्य के कीर्तन-भजन से ओतप्रोत था। अद्वैत प्रभु इसी की स्तुति उस समय गा उठे थे—

तुमि से बुझाओ चैतन्येर प्रेम भक्ति,
तुमि से चैतन्येर वक्षे घर पूर्ण शक्ति।

धर्मपरायण हाड़ाई दम्पति को बहुत दिनों तक जब कोई सन्तान नहीं हुई तो पत्नी पद्मावती व्रत, पूजन और अनुष्ठान करने लगीं। एक दिन उन्हें स्वप्न हुआ, ''वत्से, तुम्हारी ग्लानि की अब कोई आवश्यकता नहीं है। शीघ्र ही एक महा शक्तिधर पुरुष, पापी-तापी जनों के उद्धार के लिए जन्म ग्रहण करेंगे।'' यह वाणी एक जटा जूटधारी, अजानुलम्बित बाहुओं वाले, ज्योतिर्मय आभा वाले एक महापुरुष की थी। स्वप्न साकार हुआ। १३९५ शकाब्द के माघ मास की शुक्ला त्रयोदशी के एक शुभ लग्न में पद्मावती ने एक सुन्दर शिशु को जन्म दिया जो

आगे चलकर गौड़ीय वैष्णव आन्दोलन का श्रेष्ठतम नायक नित्यानन्द हुआ। गौड़ीय वैष्णवों के लिए वे प्रभु-स्वरूप थे।

संन्यासी के साथ परिव्राजन करते हुए किशोर कुबेर वृन्दावन पहुँचे। यहाँ आकर उनका सारा अन्तर कृष्णवेश से परिपूर्ण हो उठा। कृष्ण के लीला-स्थलों में घूमते रहे। उनकी आर्त पुकार अन्तर से निकलती रहती—जीवन सर्वस्व कृष्ण-घन कहाँ है? पागल प्रेमी की तरह सारे वृन्दावन में चक्कर लगाते रहे। एक दिन कुबेर की दृष्टि शिष्यों से घिरे संन्यासी पर पड़ी जिनका नाम था—माधवेन्द्रपुरी। श्री चैतन्य लीला के सहायक ईश्वरपुरी एवं अद्वैत आचार्य इन्हीं के कृपापात्र थे। महात्मा के दर्शन-मात्र से कुबेर के शरीर में भक्तिरस का ज्वार उमड़ पड़ा। वे सुधबुध खो बैठे थे। माधवेन्द्रपुरी यह दृश्य देखकर विस्मित हो उठे। कौन है यह वैष्णव जो सर्वदा कृष्ण-रस में अवगाहन करता है? इस तरुणाई में ही इस तरह कृपाधन्य हो चुका है। उसके सारे शरीर पर अष्ट सात्विक विकार हैं तथा मुख पर अपरूप ज्योति की आभा फूट पड़ी है। धरती पर गिरे शरीर को माधवेन्द्र निर्निमेष दृष्टि से देखते ही रह गए।

कुबेर की चेतना लौटी तो उसने रोते हुए कहा, "प्रभु, बहुत भाग्य से आज आपके दर्शन का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। कृपा करके, इस अधम का उद्धार करें।"

माधवेन्द्रपुरी ने इस तरुण को बाहों में भर लिया। एक शुभ लग्न में उन्होंने इस साधक को दीक्षा प्रदान की और उसका नामकरण हुआ नित्यानन्द। कुछ दिनों के वृन्दावन-प्रवास के बाद नित्यानन्द परिव्राजन के लिए निकल पड़े। लेकिन कुछ ही दिनों बाद कृष्ण-विरह में व्याकुल नित्यानन्द फिर वापस आ गए। अब वे निरन्तर भवसागर में डूबे रहे। आहार एवं निद्रा की कोई चिन्ता नहीं। वे धीरे-धीरे प्रेम-साधना के गम्भीर स्तर में प्रवेश करते गए। एक दिन भगवान कृष्ण ने आदेश दिया, "अवधूत, क्यों इस तरह व्यर्थ घूम-फिर कर समय नष्ट कर रहे हो, गौड़ देश से नवद्वीप जाओ। वहाँ प्रेम-भक्ति का सुधा-पात्र लेकर निमाई पण्डित चाण्डाल तक को परम सम्पदा वितरित कर रहे हैं, उन्हीं के कार्य में अपना तन-मन-प्राण समर्पित कर डालो। भागवत धर्म एवं भागवत प्रेम के प्रचार हेतु तुम चिह्नित पुरुष हो।"

नित्यानन्द उसी समय उठ कर बैठ गए। प्रेम-भक्ति के स्रोत का संधान अब उन्हें मिल चुका था। वे तुरन्त बाहर निकल गए।

लम्बा रास्ता तय करके नित्यानन्द नवद्वीप आ गए। सर्वप्रथम उनकी मुलाकात नन्दन आचार्य से हुई। नित्यानन्द की देव दुर्लभ कान्ति को देखकर उनके अन्दर एक महापुरुष के उदय के लक्षण दृष्टिगोचर हुए। आचार्य ने उन्हें आदरपूर्वक अपने घर में स्थान दिया। उधर सर्वज्ञ गौरांग अपने भक्तों के बीच बार-बार घोषणा कर रहे थे, "तुम सभी देखोगे, शीघ्र ही नवद्वीप धाम में एक

महापुरुष का आविर्भाव होगा।'' लेकिन गौरांग इस महापुरुष के दर्शन के लिए इतने अधीर हो उठे कि अपने भक्तों के साथ स्वयं उनकी खोज में निकल पड़े। नन्दन आचार्य के घर के सामने आकर प्रभु के पैर थम गए। वे सीधे आँगन में घुस गए। उनके सामने ही खड़े थे शुभ्र कांति प्रेमरस की प्रतिमूर्ति नित्यानन्द। प्रभु ने अपने भक्तों के साथ उन्हें साष्टांग प्रणाम निवेदित किया। जिस परम वस्तु के लिए नित्यानन्द वर्षों तक वन-प्रांतरों की खाक छान रहे थे, वे स्वयं उनके सामने उपस्थित थे। इस चमत्कार को देखकर वे अभिभूत थे। वृन्दावन दास ने इस स्थिति का वर्णन इस तरह किया है—

विश्वम्भर मूर्ति येन, मदन समान।
दिव्य गंध माल्य, दिव्य वास परिधान॥
कि हय कनक द्युति, से देहेर आगे।
से बदन देखिते, चांदेर साध लागे॥
देखिते आयत दुई, अरुण नयन।
आर कि कमल आछे, हेम हय ज्ञान॥
से अजानु दुई भुज, हृदय सुपीन।
ताहे शोभे यज्ञसूत्र, अति सूक्ष्म क्षीण॥

प्रभु ने भक्तप्रवर श्रीवास से कहा, ''पण्डित, यदि तुम दिव्य प्रेमावेश का दर्शन करना चाहते हो तो नित्यानन्द की उद्दीपना को जाग्रत कर दो। शीघ्र ही भागवत से श्री नन्दनन्दन के रूप का वर्णन करो।'' प्रभु की आज्ञा पाते ही श्रीवास परम आनन्दपूर्वक श्लोक पढ़ने लगे—बर्हापीऽ नटवरवपुः कर्णयोः कर्णिकारं···। श्यामसुन्दर के रूप वर्णन से नित्यानन्द का पूरा शरीर उद्वेलित हो उठा। प्रेम विकार के चिह्न अश्रु, कम्प एवं पुलकादि प्रकट होने लगे। थोड़ा बाह्य ज्ञान होते ही भजन-कीर्तन शुरू हुआ। भक्तगण आनन्दित हो उठे।

धीरे-धीरे नित्यानन्द शांत हुए। परस्पर कुशलक्षेम का दौर चलने लगा। आनन्द के आँसू नित्यानन्द की आँखों से झरने लगे। उन्होंने कहा, ''प्रभु, इतने दिनों तक तुम्हारी खोज में भटकता रहा पर नहीं ढूँढ़ पाया। अन्त में पता लगा कि तुम्हारा आविर्भाव नवद्वीप में हुआ है। तुमने जीवों के उद्धार का व्रत लिया है। इसीलिए दर्शन की आशा लेकर भागता हुआ यहाँ चला आया।''

प्रभु ने नित्यानन्द की मर्यादा बढ़ाते हुए कहा—

महाभाग्य देखिलाम तोमार चरण।
तोमा मजिले से पाई कृष्ण प्रेमघन॥

उसी समय नित्यानन्द गौरांग के प्रधान पार्षद हो गए तथा नवद्वीप के प्रेम भक्ति-आन्दोलन के प्रधान नियंता के रूप में प्रतिष्ठित हुए।

एक दिन श्रीवास के घर में व्यास पूजा समारोह था। समारोह खत्म होने के बाद नित्यानन्द उन्हीं के घर रुक गए। प्रातः होने पर श्रीवास पण्डित ने विस्मय-पूर्वक देखा कि श्रीपाद नित्यानन्द भाववेश में संज्ञाशून्य हो रहे हैं। उनका संन्यास दण्ड तथा कमण्डल जमीन पर बिखरा पड़ा है। सूचना मिलते ही गौरांग प्रभु आ गए। देखा, नित्यानन्द अर्धबाह्य अवस्था में पड़े हुए हैं, शरीर से दिव्य आनन्द की ज्योति झर रही है। प्रभु उन्हें स्नान-घाट पर ले गए। भग्न दण्ड और कमण्डल गंगा में विसर्जित कर दिए गए। अवधूत नित्यानन्द, महप्रेमिक नित्यानन्द में परिवर्तित हो गए—श्री गौरांग के प्रधान पार्षद। नित्यानन्द गंगा में बच्चों की तरह केलि-क्रीड़ा में निमग्न थे। गौरांग प्रभु किसी तरह समझा-बुझा कर घर लाए।

व्यास पूजा का समय हो चुका था। नित्यानन्द व्यास पूजा के आसन पर बैठ गए। पूजा की समाप्ति पर माला अर्पण करके प्रणाम निवेदित करना था किन्तु नित्यानन्द को तो जैसे होश ही नहीं था। श्रीवास बार-बार आग्रह कर रहे थे—"श्रीपाद व्यासदेव को माला अर्पित कर अब पूजा समाप्त कीजिए।" लेकिन श्रीवास की कोई बात नित्यानन्द नहीं सुन रहे थे। पूर्णतया भावाविष्ट थे। पता नहीं किसे खोज रहे थे। अन्य कोई उपाय न देखकर श्रीवास गौरांग प्रभु को बुला लाए। उन्हें स्थिति से अवगत कराया। गौरांग पूजा-घर में घुसे और नित्यानन्द से व्यासदेव को अर्घ्य देने के लिए कहा। नित्यानन्द ने गौरसुन्दर के गले में माला डाल दी। समवेत भक्त कण्ठों की जय ध्वनि से सारा परिवेश गूँज उठा।

निमाई अपने घर में विश्राम कर रहे थे। तीसरा पहर था। नित्यानन्द एकदम नग्न रूप में आ गए। महिलाएँ लज्जावश घरों में छिप गईं। निमाई उठे देखा कि नित्यानन्द उल्लास और आनन्द के वशीभूत होकर आँगन में नृत्य कर रहे हैं। अपने सिर पर लिपटे वस्त्र को नित्यानन्द के कमर में बाँध दिया। प्रेमोन्माद से ओतप्रोत नित्यानन्द को सम्हालने में उन्हें ज्यादा समय नहीं लगा। अपने हाथों से उन्हें चन्दन चर्चित किया और सुगन्धित पुष्पों की माला पहना दी।

एक दिन गौरांग ने नित्यानन्द के कौपीन के टुकड़े-टुकड़े कर दिये। फिर भक्तों से कहा, "तुम सभी इस पवित्र वस्त्र के टुकड़ों को सिर पर धारण करो। नित्यानन्द कृष्णरसमय हैं। उनकी कृपा के फलस्वरूप तुम सभी में कृष्ण-भक्ति का उदय होगा।" भक्तों ने इस आदेश का पालन किया। इसके बाद नित्यानन्द का पादोदक लिया। परन्तु अवधूत पूर्ववत प्रेमाविष्ट एवं मौन धारण किए हुए थे। भक्तों ने समझा कि नित्यानन्द प्रभु के प्रधान पार्षद ही नहीं, अभिन्न हृदय-सखा एवं प्रधान सहकर्मी भी हैं।

गौरांग प्रेम धर्म एवं कीर्तन यज्ञ के प्रवर्तक थे। जीव के उद्धार का व्रत ग्रहण किया था। अवधूत नित्यानन्द ने समर्पित भक्त की कमी पूरी कर दी।

नित्यानन्द श्रीवास के घर में निवास करने लगे। श्रीवास की पत्नी मालिनी देवी को निताई माँ कह कर पुकारते थे। शची माता से नित्यानन्द का परिचय गौरांग ने इस तरह कराया, ''माँ, यह तुम्हारा खोया हुआ लड़का विश्वरूप है।''

नित्यानन्द हरिदास को साथ लेकर कृष्ण-भक्ति का प्रचार कर रहे थे। उन्हें तरह-तरह के विरोध और कठिनाइयों का सामना करना पड़ता। नित्यानन्द कहते, ''भाई, कृपा करके एक बार कृष्ण नाम का उच्चारण करो तथा हमको बिना मूल्य के खरीद लो।''

शहर में दो शराबी, अत्याचारी, हिंसक भाई जगन्नाथ और माधव रहते थे। उन्हें लोग जगाई और मधाई कहते थे। नित्यानन्द ने उन्हें कृष्णभक्त बनाने का संकल्प लिया। एक दिन वे अपने साथी भक्त हरिदास के साथ गए और उनके पास नर्तन-भजन करने लगे। मधाई ने क्रोधित होकर नताई के सिर पर एक हाँड़ी दे मारी जिससे खून बहने लगा। इसके बावजूद नताई (नित्यानन्द) और हरिदास नर्तन और भजन करते रहे। जगाई को दया आ गई। लेकिन मधाई का गुस्सा शान्त नहीं हुआ। वह पुनः कृष्ण-भक्तों को मारने के लिए दौड़ा लेकिन जगाई ने उसे पकड़ लिया। उसने दृढ़ स्वर में कहा, ''अरे, क्यों इस बाहरी संन्यासी को मार रहा है?'' मधाई रुक गया और नित्यानन्द प्राणघाती आघात से बच गए। यह खबर जब गौरांग को लगी तो पहले तो वे क्रोधित हुए लेकिन जब नित्यानन्द ने उन्हें बताया कि उसी हमलावर के भाई जगाई ने उन्हें बचाया तब उनके अंदर करुणा का उदय हुआ और उन्होंने जगाई का आलिंगन करते हुए कहा, ''जगाई, तुमने आज मेरे प्राण-सर्वस्व नित्यानन्द के जीवन की रक्षा कर मुझे खरीद लिया है। आशीर्वाद देता हूँ कि कृष्ण-कृपा की तुम्हारे ऊपर वर्षा होती रहे। आज से तुम्हें भक्ति का लाभ हो।'' बाद में नताई ने मधाई को भी माफ कर दिया। उसका आलिंगन कर उसे प्रेम-भक्ति दान कर कृतार्थ कर डाला।

नित्यानन्द के आदेशानुसार मधाई ने पिछले पापों का प्रायश्चित्त करने के लिए गंगा पर एक घाट का निर्माण कराया जो 'मधाई घाट' के रूप में आज भी विद्यमान है। स्वयंनिर्मित घाट पर मधाई प्रतिदिन प्रातःकाल स्नान करता तथा दो लाख नाम-जप करता। उसके बाद स्नानार्थियों के चरणों में भक्तिपूर्वक प्रणत होकर कातर स्वर में निवेदन करता—

ज्ञाने वा अज्ञाने यत करिनु अपराध
सकल क्षामिया मोरे करह प्रसाद।

गौरांग प्रभु ने नवद्वीप में व्यापक विरोध को देखते हुए संन्यास ग्रहण करने का निश्चय किया और एक दिन गृह त्याग दिया। कटोआ नगर में परम भागवत संन्यासी केशव भारती का आश्रम था। इन्हीं महापुरुष से उन्होंने संन्यास मंत्र की

दीक्षा ली। उनका नवीन नामकरण हुआ श्रीकृष्ण चैतन्य। इस समय उनके साथ थे अवधूत नित्यानन्द तथा गदाधर इत्यादि पंच पार्षद। दीक्षा ग्रहण करने के बाद श्रीकृष्ण चैतन्य ने नीलाचल जाने का निश्चय किया किन्तु इससे पूर्व शान्तिपुर में अद्वैत आचार्य के भवन में माता शची, पत्नी विष्णुप्रिया और भक्तगणों से भेंट की। इन लोगों को नित्यानन्द लेकर आए थे।

परिजनों तथा भक्तगणों को सांत्वना देकर वापस विदा करने के बाद श्री चैतन्य कुछ अंतरंग भक्तों और पार्षदों के साथ नीलाचल की ओर चल पड़े। नृत्य एवं कीर्तन करते सुवर्ण-रेखा के तट पर पहुँचे। श्री चैतन्य स्नान करने गए थे। उनका दण्ड नित्यानन्द के हाथ में था। सोचा, जीवों के उद्धार के लिए प्रेमावतार प्रभु का आविर्भाव हुआ है, फिर उन्हें दण्ड-कमण्डल का क्या काम? उनके अन्तर में न जाने कैसे भाव का संचार हुआ कि उन्होंने दण्ड को टुकड़े-टुकड़े कर नदी में फेंक दिया। श्री चैतन्य ने जब घटना सुनी तो पहले तो आवेश में आए लेकिन जब उन्हें ज्ञात हुआ कि यह कार्य नित्यानन्द ने किया है तो उन्होंने अपने रोष पर काबू किया। उन्होंने कहा, "इस पृथ्वी पर एकमात्र दण्ड ही मेरा प्रधान अवलम्बन था। कृष्ण की इच्छा से आज वह भी टूटकर टुकड़े-टुकड़े हो गया। अच्छा ही हुआ। अब किसी के साथ भी मेरा कोई सम्पर्क नहीं रहा। अब से मैं अकेला ही मार्ग पर चलूँगा। तुम लोग भी यदि नीलाचल जाना चाहते हो तो मुझसे अलग रह कर चलो।" भक्तों ने इस व्यवस्था का अनुसरण किया।

जब श्री चैतन्य जलेश्वर गाँव पहुँचे तो उन्हें शिव के एक जाग्रत विग्रह का दर्शन हुआ। प्रभु एक नए भाव से उदीप्त हो उठे। कीर्तन और नर्तन के फलस्वरूप वहाँ लोगों की भीड़ जुट गई। तब तक भक्तगण भी आ पहुँचे। वे भी भाव-विभोर होकर नृत्य करने लगे। श्री चैतन्य का अन्तर परम प्रसन्नता से भर उठा।

श्री चैतन्य सबसे पहले नीलाचल पहुँचे। जगन्नाथ के विग्रह का दर्शन करते ही प्रेम-विह्वल हो उठे। सारे शरीर में अष्ट सात्विक विकार दृष्टिगोचर होने लगे। थोड़ी देर बाद ही वे संज्ञाशून्य हो गए। राजपण्डित वासुदेव सार्वभौम, मन्दिर के गर्भगृह में थे। तरुण संन्यासी के इस अद्‌भुत प्रेम विकार को देखकर उनके विस्मय की सीमा न रही। परिचारकों की मदद से श्री चैतन्य को अपने कक्ष में ले गए। इसके थोड़ी देर बाद ही नित्यानन्द और अन्य भक्तगण भी आ गए।

नित्यानन्द जब भावोन्मेष से ग्रसित होते तो आश्चर्यजनक हरकतें कर डालते। एक दिन वे मन्दिर के गर्भगृह में खड़े कीर्तन कर रहे थे। साथ में उनके सहयोगी भी थे। सहसा वे महाभाव से उद्दीप्त हो उठे। भाव के प्रचण्ड वेग से वे जगन्नाथ बलराम विग्रह-द्वय को आलिंगन करने दौड़े। उन्हें रोकना किसी के लिए सम्भव नहीं हो सका। वेदी के ऊपर चढ़ कर अवधूत नित्यानन्द ने बलराम

के विग्रह को आलिंगनबद्ध कर डाला और उनकी माला निकाल कर अपने गले में डाल ली। उस समय उनका शरीर दिव्य आनन्द से उद्‌भासित था। पूरा मन्दिर परिचारकों एवं भक्तों की जय ध्वनि से मुखरित हो उठा। इस तरह की प्रेम-विह्वलता से वे चैतन्य के प्रधान पार्षद के रूप में सर्वत्र असाधारण मर्यादा के अधिकारी हो गए।

कुछ दिनों यहाँ बिताकर श्री चैतन्य दक्षिणात्य की यात्रा पर चले गये। इस यात्रा में उन्होंने ब्रजरस-तत्त्व के मर्मज्ञ रामानन्द राय को आत्मसात किया। सारे दक्षिण तथा पश्चिम भारत में प्रेम-धर्म का बीजारोपण करके लौट आए।

अब उनकी दृष्टि अपनी मातृभूमि गौड़ पर पड़ी। यहाँ के जन-जीवन पर तांत्रिक प्रभाव अत्यन्त प्रबल था। वे स्वयं स्थायी रूप से पुरी धाम में निवास कर रहे थे। समस्या थी कि यह उत्तरदायित्व किसे सौंपें। अन्ततः यह गुरुतर दायित्व निताई यानी नित्यानन्द को सौंपने का निश्चय किया। नित्यानन्द को बुलाकर उन्होंने कहा, ''तुम गौड़ देश वापस चले जाओ। वहाँ जाकर गृहस्थ-धर्म में प्रवेश करो एवं समाज की ऊसर भूमि में प्रेम-भक्ति का अमृत-प्रवाह उड़ेल दो।'' श्री चैतन्य के इस आदेश से नित्यानन्द मर्माहत हो गए। वह अत्यन्त छोटी उम्र में घर से निकल पड़े हैं। उनका उद्देश्य है—संन्यास एवं अवधूत जीवन के माध्यम से भागवत प्रेम के माधुर्य की तलाश में घूमते रहे हैं। अब उन्हें गृहस्थ-जीवन अंगीकार करना पड़ेगा? लेकिन प्रभु के आदेश को शिरोधार्य करने के अलावा नित्यानन्द के सामने और कोई चारा नहीं था। इसीलिए बिना विलम्ब किए वे गौड़ देश की यात्रा पर निकल पड़े। उनके साथ कुछ अन्य भक्तगण भी थे जिनमें प्रमुख थे—रामदास, गदाधर दास, सुन्दरानन्द, परमेश्वर दास तथा पुरुषोत्तम दास।

गौड़ देश में नित्यानन्द का आविर्भाव 'दयाल निताई' के रूप में हुआ। उनके ऐश्वर्य एवं करुणा का दिग्दर्शन कराते हुए वृन्दावन दास ने लिखा है—

या हारे करेन दृष्टि, नाचिते नाचिते।
सेई प्रेमे ढलिया, पड़ेन पथिवीते॥

नृत्यानन्द ने सारे गौड़ देश में अद्‌भुत प्रेम-तरंग की सृष्टि कर डाली।

एक दिन पानिहाटी ग्राम के राघव पण्डित के घर वे उपस्थित थे। पार्षदों एवं भक्तों की भीड़ लगी थी। कीर्तन-भजन की पवित्र धारा बह रही थी। वे सहसा ईश्वरीय भाव से उद्दीप्त हो उठे। भक्तों को आदेश दिया कि अभी उन्हें समारोहपूर्वक अभिषेक कराना होगा। गंगाजल लाकर नित्यानन्द का अभिषेक किया गया। गले में माला डाले चौकी पर बैठे थे और राघव पण्डित उनके सिर पर छत्र लगाए खड़े थे। भक्तों के कीर्तन चल रहे थे। जनश्रुति है कि उस दिन राघव पण्डित के घर पर लीलाकौतुकी नित्यानन्द ने एक अलौकिक कार्य कर

डाला। पण्डित की ओर देखकर मुस्कराते हुए बोले, ''पण्डित, शीघ्र मेरे लिए एक कदम्ब की माला गूँथ कर ले आओ। कदम्ब मेरे लिए अत्यन्त प्रिय है।''

राघव परेशान थे कि इस समय बिना मौसम के कदम्ब उन्हें कहा मिलेगा। वह बार-बार नित्यानन्द से अनुरोध कर रहे थे कि इस समय कदम्ब नहीं मिलेगा। नित्यानन्द ने उनसे घर के अन्दर जाकर देखने को कहा। राघव पण्डित के आश्चर्य का ठिकाना न रहा। उन्होंने देखा कि आँगन के एक कोने में एक नीबू का पेड़ है जिसमें कदम्ब के कई फूल खिले हैं। राघव ने फूल तोड़े। माला गूँथी और नित्यानन्द के गले में डाल दिया।

किंवदन्तीं है कि उस दिन कीर्तन में नित्यानन्द ने एक और अलौकिक लीला कर डाली। कीर्तन कर रहे भक्तों को सहसा दमनक पुष्प की सुगन्ध का अनुभव हुआ। विस्मय से सभी एक-दूसरे का मुँह देखने लगे। नित्यानन्द ने इस घटना का स्वयं वर्णन किया है—

चैतन्य गोसाई आज शुनिते कीर्तन।
नीलाचल हैते करिलेन आगमन॥
सर्वांगे परिया दिव्य दमनक माला।
एक वृक्षे अवलम्ब करिया रहिला॥
सेई श्री अंगेर दिव्य दमनक गन्धे।
चतुर्दिक सबाकार नृत्य कीर्तन देखिते॥

पनिहार में लगभग तीन महीने तक प्रवास के बाद नित्यानन्द गड़रह चले आए। वहाँ भी आनन्द का सागर लहरा उठा। कभी माटी में लोट कर तो लोगों के गले में बाँहें डालकर रोते-रोते कहते, ''भाई, दया करके एक बार कृष्ण को भजो, गौरांग को भजो। बिना मूल्य मुझे सर्वदा के लिए खरीद लो। मुझे अपना दासानुदास बना लो।'' जो भी इस दृश्य को देखता उसके लिए आँसू रोक पाना कठिन हो जाता। उनका प्रेम जिस तरह स्वर्णिम था, उसी तरह उनकी प्रचार-पद्धति भी अभिनव थी। भागीरथी के दोनों तटों पर प्रेम रस के स्रोत बह उठे। यह खबर सर्वत्र फैल गई कि पतितपावन के रूप में गौड़ देश में नित्यानन्द का आविर्भाव हो गया है।

नित्यानन्द ने अपनी वेश-भूषा में परिवर्तन किया। गले में रत्नहार, हाथ में स्वर्ण वलय, अँगुलियों में रत्न-जटित अँगूठियाँ तथा चरणों में रमणीय रौप्य नूपुर। शरीर चंदन चर्चित तथा ललाट पर तिलक अंकित हो गया। गले में मल्लिका मालती की शुभ्र माला। शरीर पर नील वसन। गोरे नित्यानन्द को जो इस रूप में देखता, मोहित हुए बिना नहीं रहता। जो उनका नृत्य देखता, कीर्तन सुनता उसका सारा अन्तर सदा के लिए बन्दी हो जाता। लगभग ऐसे ही वेश में उनका परिषद भी रहता।

खड़दह इत्यादि क्षेत्रों की परिक्रमा करते हुए नित्यानन्द अपने भक्त गणों के साथ सप्तग्राम पहुँचे। यहाँ त्रिवेणी घाट पर परमभक्त उद्धारण दत्त से मुलाकांत हुई। उद्धारण दत्त अतुल ऐश्वर्य का त्याग कर नित्यानन्द के पार्श्वचर हो गए। उद्धारण दत्त यहाँ के वणिक समाज के नेता थे। इन्हीं के प्रभाव से गौड़ीय वणिक नित्यानन्द का आश्रय ग्रहण कर धन्य हो गए। इसके बाद निताई शान्तिपुर आए। अद्वैत ने बाँहें फैलाकर उनका आलिंगन किया। शान्तिपुर प्रेम-रस से सराबोर हो गया।

एक बार नित्यानन्द नवद्वीप में हिरण्य पण्डित के घर में निवास कर रहे थे। पण्डित दरिद्र होने के बावजूद सात्विक एवं भक्त थे। उनके घर पर डकैतों की दृष्टि पड़ी। उनका नेता एक ब्राह्मण था। दल-बल के साथ एक दिन हिरण्य पण्डित के घर के पीछे छिप गया। उसकी निगाह नित्यानन्द के कीमती आभूषणों पर थी जिन्हें वह लूटना चाहता था। डकैत मध्यरात्रि में धावा बोलना चाहते थे लेकिन थोड़ी ही देर बाद इस कदर नींद में डूबे कि सुबह होने पर ही आँखें खुलीं। उस समय वे जल्दी-जल्दी वहाँ से खिसक लिये। डकैतों के इस दल ने एक बार फिर डाका डालने का निश्चय किया। उस रात उनका सामना कुछ ऐसे रक्षकों से हुआ जिनके हाथों में घातक हथियार थे। वे फिर लौट गए। तीसरे दिन फिर वे आए। इस बार आँगन में घुसने में सफल हो गए। लेकिन किसी अदृश्य शक्ति के प्रभाव से उनकी आँखों की ज्योति जाती रही। वे आपस में ही भिड़ गए। इसी समय तेज आँधी के साथ उपल-वृष्टि होने लगी। किसी तरह जान बचाकर वे पण्डित के घर से बाहर निकल पाए। डकैतों को महसूस हुआ कि नित्यानन्द असाधारण आदमी है। उसी की शक्ति से उन्हें ऐसे दुर्दिन देखने पड़े। अन्ततः उन्होंने नित्यानन्द के सामने आत्मसमर्पण कर दिया। उनके सरदार ने कहा, ''प्रभो, मैं महापातकी हूँ। आपके आभूषणों के लोभ में पड़कर पण्डित का घर लूटने आया था। मेरे पापों की कोई सीमा नहीं है। आप कृपालु हैं। इस अंधम को अपने चरणों में स्थान दीजिए।'' अवधूत नित्यानन्द ने इस दस्यु ब्राह्मण का आलिंगन कर लिया और बोले, ''बाबा, तुम्हें क्षमा नहीं करूँगा तो किसे करूँगा? तुम तो महाभाग्यवान हो जो कृष्ण-कृपा के फलस्वरूप इन तीन दिनों तक कृष्ण के ऐश्वर्य-प्रकाश को इस तरह देख सके हो। अब तुम लूटपाट तथा नर-हत्या बन्द करके पापियों को धर्म के मार्ग पर ले जाओ।''

नित्यानन्द ने वैष्णवीय उदारता एवं प्रेम की पराकाष्ठा दिखाई तथा अब्राह्मण वैष्णवों को भी धर्मगुरु की भूमिका निभाने का अधिकार दे दिया। लाखों दरिद्र, निरक्षर, अंत्यज, हिन्दू उनकी कृपा से शुद्धाचारी वैष्णव में परिणत हो गए। समकालीन समाज की अनुदारता, प्राणहीन धर्माचरण एवं असंख्य

विधि-निषेध की प्राचीर को तोड़ कर निताई ने नवीनतम मुक्ति के प्रवाह को प्रतिष्ठित किया। लेकिन इस उदारता से ब्राह्मण समाज उनका आलोचक हो गया। वैष्णवों का एक तबका भी उन्हें गलत समझने लगा। उनकी वेश-भूषा की भी कुछ लोग निन्दा करने लगे।

निताई नीलाचल चले गए। पुरी धाम की एक पुष्प वाटिका में अनमने-से बैठे थे। उनके मन में एक आशंका है—प्रभु उन्हें इस बार किस रूप में ग्रहण करेंगे। धर्म-प्रचार की नवीन पद्धति के बारे में उनके विचार कैसे होंगे? नित्यानन्द की इस उदासी की खबर श्री चैतन्य तक पहुँची तो वे भक्त के साथ उनके पास आए। नित्यानन्द से कुछ कहने की बजाय हाथ जोड़ कर उनकी प्रदक्षिणा करने लगे। तब तक काफी भक्तों की भीड़ वहाँ इकट्ठी हो गई। श्री चैतन्य सभी को सुना कर नित्यानन्द की स्तुति गाने लगे। नित्यानन्द इसे सहन नहीं कर सके और रोते-रोते भावविह्वल होकर प्रभु के समक्ष पछाड़ खाकर गिर पड़े। कहने लगे, ''प्रभु, संन्यासी का धर्म छुड़ा कर तुमने मुझे कैसी अवस्था में रख दिया? मैं अपनी भावधारा में अपनी इच्छानुसार चलता रहा हूँ। मुझे बता दो कि मेरा वास्तविक कर्तव्य क्या है?''

प्रभु ने कहा, ''नित्यानन्द, क्या तुम नहीं जानते कि तुम मुझसे जो कराते हो, वही मैं करता हूँ। और तुम्हारे जैसे महामुक्त पुरुष के लिए आचरण में क्या निन्दनीय हो सकता है? तुम्हारे शरीर में जो अलंकार शोभा पा रहे हैं वे तो श्रवण-कीर्तनादि नवधा भक्ति के प्रतीक हैं। तुम समस्त जनसाधारण को जो भक्ति-सम्पदा वितरण कर रहे हो उसकी तुलना कैसे हो सकती है? तुम तो जीव-उद्धार के लिए अवतरित हुए हो, साधारण विधि-विधान तो तुम्हारे लिए हैं ही नहीं।'' प्रभु के ये वचन सुनकर निताई स्थिर होकर बैठ गए।

प्रातः उठकर चैतन्य और निताई ने समुद्र-स्नान किया। शाम को दारुब्रह्म जगन्नाथ के दर्शन किए। उसी दिन से चैतन्य का विराट भावांतर दृष्टिगोचर होने लगा। वह भक्तों का सान्निध्य त्यागकर कृष्ण-विरह के महासागर में डूब गए। भक्तकवि वृन्दावनदास ठाकुर ने लिखा है—

से दिन हइते प्रमुर, हैल कोन दशा।
निरन्तर कहे कृष्ण विरहेर भाषा॥

चैतन्य उस दिन से गंभीरा के गर्भ में प्रवेश कर गए तथा नित्यानन्द के उदार उन्मुक्त प्रांगण में निकल पड़े। मानों चैतन्य की शक्ति नए सिरे से उनके शरीर में संचारित हो चुकी है।

नित्यानन्द पनिहटी में इष्ट गोष्ठी में पधारे थे। इसी समय एक तरुण ने आकर प्रणाम निवेदित किया। सेवकों ने बताया, ''प्रभु, ये सप्तग्राम के जमींदार

के पुत्र हैं—रघुनाथ। आपके कृपा-प्रार्थी हैं।'' रघुनाथ श्री चैतन्य का दर्शन कर चुके थे और प्रभु ने कुछ दिन और गृहस्थी में रहकर धर्माचरण करने का उपदेश दिया था। इस जमींदार ने उस दिन चूड़ा-दही का महाभोज आयोजित किया। इसके लिए निताई का आदेश था। किंवदन्ती है कि इस भोज में श्री चैतन्य भी शरीक हुए थे। इसके उपरान्त राघव पण्डित के घर भजन-कीर्तन हुआ। इसमें निताई की एक अलौकिक लीला देखने को मिली—

कीर्तन के बाद प्रसाद-ग्रहण करने के लिए पुकार हुई। नित्यान्द के आसन के दाहिनी ओर चैतन्य प्रभु के लिए आसन लगाया गया। राघव पण्डित ने विस्मय से देखा कि नित्यानन्द के बगल में श्री चैतन्य प्रसाद पाने के लिए बैठे हुए हैं। कहाँ सुदूर नीलाचल, कहाँ पनिहाटी। भक्त का आकर्षण प्रभु को यहाँ खींच लाया है। एक दिव्य अलौकिक शरीर धारण कर वे यहाँ उपस्थित हो गए हैं।

इस बीच रघुनाथ ने पुनः कृपा-आकांक्षा व्यक्त की। अपने साथी पार्षदों से उन्होंने कहा, ''भक्त रघुनाथ की विषय-वासना नष्ट हो चुकी है। तो सभी आशीर्वाद दो कि प्रार्थित चैतन्यपद को शीघ्र प्राप्त हो।'' नित्यानन्द ने फिर कहा, ''मैं आशीर्वाद देता हूँ कि तुम्हें शीघ्र ही चैतन्य-चरणों की प्राप्ति होगी और तुम उनके अंतरंग परिकरों में गिने जाओगे।'' नित्यानन्द की कृपा से इस वैराग्य-साधक ने शीघ्र ही चैतन्य चरणों का लाभ लिया। इससे वैष्णव संगठन और मजबूत हो गया।

नाना स्थानों का भ्रमण करते हुए नित्यानन्द अम्बिका कालना पहुँचे। चैतन्य देव के प्रिय भक्त गौरीदास पण्डित इसी नगर के निवासी थे। उनके भाई सूर्यदास की दो पुत्रियाँ वसुधा एवं जाह्नवी विवाहयोग्य हो गई थीं। दोनों ही सुलक्षणा एवं रूपवती थीं। नित्यानन्द ने वसुधा से विवाह का प्रस्ताव किया जिसके लिए सूर्यदास राजी नहीं हुए। इसके बाद नित्यानन्द सेवक भक्त उद्धारण दत्त को साथ लेकर गंगा-तट पर चले गए और एक एकान्त कुटीर में निवास करने लगे। इस बीच वसुधा असाध्य रोग से पीड़ित हो गई। नित्यानन्द ने अपनी अलौकिक शक्ति से वसुधा को स्वस्थ कर दिया। इसके बाद सूर्यदास ने अपनी इस कन्या का विवाह नित्यानन्द से कर दिया। इसके कुछ दिनों बाद पण्डित ने अपनी कनिष्ठ कन्या जाह्नवी को भी उन्हें अर्पित कर डाला। नित्यानन्द अपनी दोनों पत्नियों के साथ खड़दह में ही निवास करने लगे।

नित्यानन्द की पहली पत्नी वसुधा देवी के गर्भ से परम वैष्णव वीरभद्र का जन्म हुआ। गड़दह के गोस्वामी गण इन्हीं की वंश के संतान-संतति हैं। द्वितीय पत्नी जाह्नवी के पोष्या पुत्र रामाई गोस्वामी ने एक और गोस्वामी शाखा का विस्तार किया।

नवद्वीप के एक ब्राह्मण श्री चैतन्य के सहपाठी थे। नित्यानन्द का सर्वसाधारण के साथ प्रेम रसपान उन्हें अच्छा नहीं लगता था। उन्होंने इसकी चर्चा चैतन्य से की। प्रभु ने हँसते हुए कहा, ''यह कौन सी बात है भाई, क्या तुम नहीं जानते कि अधिकारी पुरुष एवं महासमर्थ साधक गण सारे गुण-दोषों से परे हैं।'' प्रभु ने कहा, ''भाई, जिस प्रकार कमल के पत्रों पर जल का स्पर्श नहीं होता, उसी तरह मेरे नित्यानन्द पर पाप का स्पर्श भी नहीं लग सकता है।''

बाद में एक बार चैतन्य का गौड़ आगमन हुआ। गंगा के तट पर आनन्द का मेला लग गया। उसी दिन पानिहाटी में राघव पण्डित के घर पर एक दिन प्रभु ने उनके समक्ष नित्यानन्द तत्त्व का वर्णन किया। इस प्रकार गौड़ तथा निताई का अभेदत्व उनकी साधना सत्ता में पूर्ण रूप से प्रस्फुटित हुआ।

धीरे-धीरे निताई के जीवन में एक दिव्य भावान्तर का दिव्य प्रकाश घटित होने लगा। वे आत्मकेन्द्रित होने लगे। भक्तगण निताई की अंतर्मुखता से दुःखी थे ही कि नीलाचल से उन्हें समाचार प्राप्त हुआ कि श्री चैतन्य अंतर्धान हो गए हैं।

भावगंभीर दशा में रहते हुए निताई को नौ वर्ष व्यतीत हो गए। १४६४ की शकान्द की सुबह। श्यामसुन्दर मन्दिर में मंगला आरती के उपरान्त भजन-कीर्तन हो रहा था। अवधूत नित्यानन्द के साक्षात्कार हेतु प्रभु उस दिन गड़दह मन्दिर में उपस्थित थे। दोनों प्रभुओं के मिलन से भक्तों के आनन्द की सीमा नहीं थी। निताई भी उस दिन कीर्तन में द्रव्य भाव से उद्दीप्त हो उठे थे। उनके भीतर महाभाव का गंभीर आवेश दृष्टिगोचर होने लगा। फिर वह आवेश कभी भंग नहीं हुआ। नित्यानन्द सदा के लिए नित्य लीला में प्रविष्ट हो गए। सारे भारत का भक्त समाज विषाद के सागर में डूब गया। नित्यानन्द की अवस्था का वर्णन करते हुए एक भक्त ने लिखा—

बड़ गूढ़ नित्यानन्द एई भवतारे।
चैतन्य देखान यारे से देखिते पारे॥

●
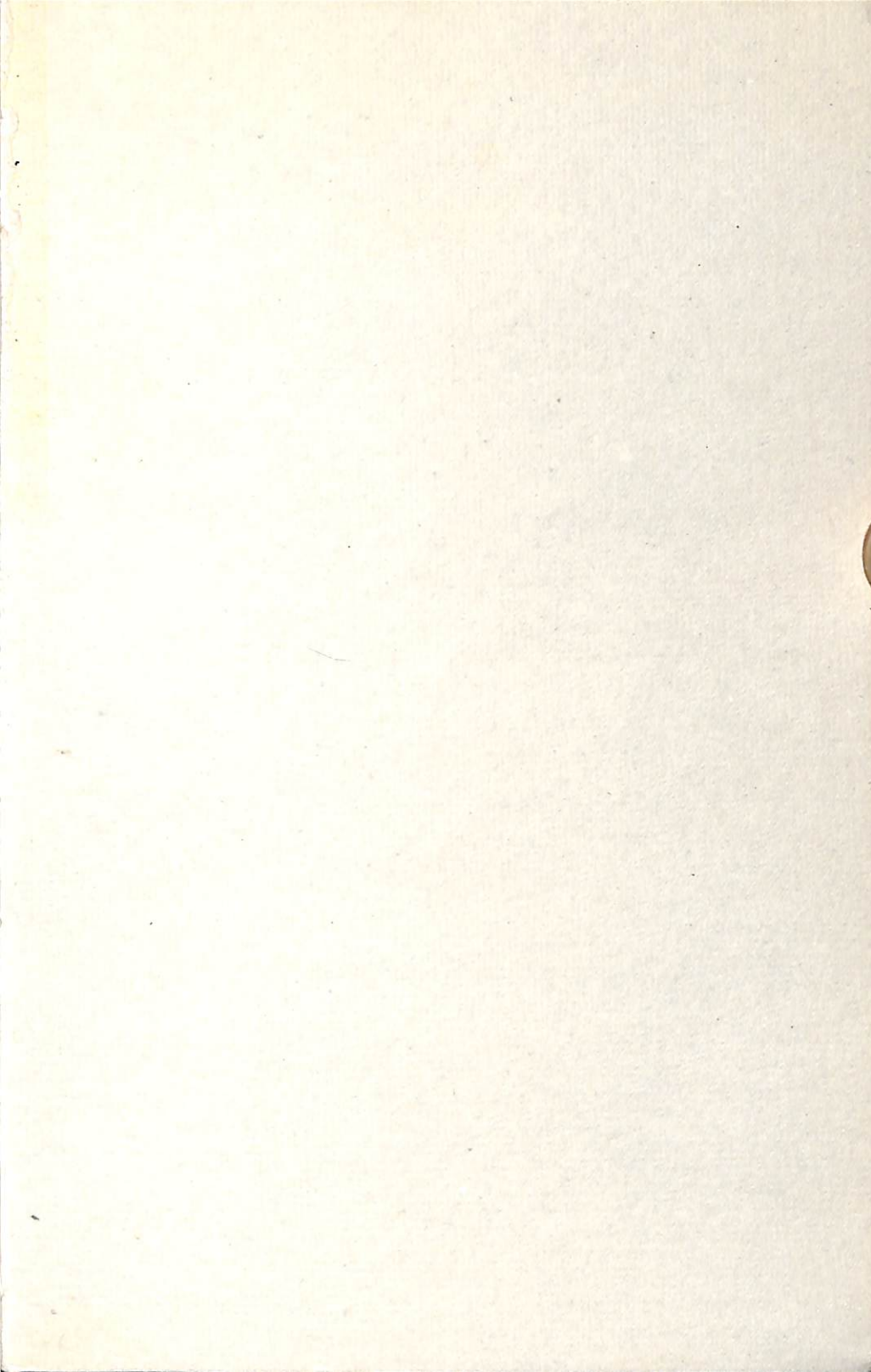
भारत के महान योगी *विश्वनाथ मुखर्जी*

चौदह भाग, ७ जिल्द में, प्रत्येक सौ रुपये

भारत योगियों, संतों, साधकों और महात्माओं का देश है। देश के सभी भागों में अनेक योगी तथा संत हुए हैं जिन्होंने देश की चिन्तनधारा और जीवन को प्रभावित किया है। अपने चमत्कारी जीवन से जनमानस को चमत्कृत भी किया है। ऐसे योगियों का जीवन-चरित चौदह भागों (७ जिल्द) में प्रस्तुत किया गया है।

भाग : १-२ तंत्राचार्य सर्वानन्द, लोकनाथ ब्रह्मचारी, प्रभुपाद विजयकृष्ण गोस्वामी, वामा खेपा, परमहंस परमानन्द, संत ज्ञानेश्वर, संत नामदेव, संत रविदास, स्वामी विवेकानन्द, स्वामी ब्रह्मानन्द, स्वामी विशुद्धानन्द परमहंस।

भाग : ३-४ योगिराज श्यामाचरण लाहिड़ी, महर्षि रमण, भूपेन्द्रनाथ सान्याल, योगी वरदाचरण, नारायण स्वामी, बाबा कीनाराम, तैलंग स्वामी, परमहंस रामकृष्ण ठाकुर, जगद्‌गुरु शंकराचार्य, सन्त एकनाथ।

भाग : ५-६ स्वामी रामानुजाचार्य, रामदास काठिया बाबा, राम ठाकुर, साधक रामप्रसाद, भूपतिनाथ मुखोपाध्याय, स्वामी भास्करानन्द, स्वामी सदानन्द सरस्वती, पवहारी बाबा, हरिहर बाबा, साईं बाबा, रणछोड़दास महाराज, अवधूत माधव पागला।

भाग : ७-८ किरणचन्द्र दरवेश, स्वामी अद्‌भुतानन्द (लाटू महाराज), भोलानन्द गिरि, तंत्राचार्य शिवचन्द्र विद्यार्णव, महायोगी गोरखनाथ, बालानन्द ब्रह्मचारी, प्रभु जगद्‌बन्धु, योगिराज गंभीरनाथ, ठाकुर अनुकूलचन्द्र, बाबा सीतारामदास ओंकारनाथ, मोहनानन्द ब्रह्मचारी, कुलदानन्द ब्रह्मचारी, अभयचरणारविन्द भक्तिवेदान्त स्वामी, स्वामी प्रणवानन्द, बाबा लोटादास।

भाग : ९-१० भक्त नरसी मेहता, सन्त कबीरदास, नरोत्तम ठाकुर, श्रीम, स्वामी प्रेमानन्द तीर्थ, सन्तदास बाबाजी, बिहारी बाबा, स्वामी उमानन्द, पाण्डिचेरी की श्रीमाँ, महानन्द गिरि, अन्नदा ठाकुर, परमहंस योगानन्द गिरि, साधु दुर्गाचरण नाग, निगमानन्द सरस्वती, नीब करौरी के बाबा, परमहंस पं० गणेशनारायण, अवधूत अमृतनाथ, देवराहा बाबा।

भाग : ११-१२ बालानंद ब्रह्मचारी, श्री भगवानदास बाबाजी, हंस बाबा अवधूत, महात्मा सुन्दरनाथजी, मौनी दिगम्बरजी, गोस्वामी श्यामानन्द, फरसी बाबा, भक्त लाला बाबू, श्रीपाद माधवेन्द्रपुरी, नंगा बाबा, तिब्बती बाबा, गोस्वामी लोकनाथ, काष्ठ-जिह्वा स्वामी, रूप गोस्वामी, सनातन गोस्वामी, अवधूत नित्यानन्द।

भाग : १३-१४ श्री मधुसूदन सरस्वती, आचार्य रामानुज, आचार्य रामानन्द, अद्वैत आचार्य, चैतन्यदास बाबाजी, भक्त दादू, गुरुनानक देव, सिद्ध जयकृष्ण दास, शैवाचार्य अप्पर, साधक कमलाकान्त, राजा रामकृष्ण, यामुनाचार्य, आचार्य मध्व, स्वामी अभेदानन्द, भैरवी योगेश्वरी, सिद्धा परमेश्वरी बाई।

Rs. 100.00

ISBN 81-902534-8-4

अनुराग प्रकाशन

विशालाक्षी भवन,

चौक, वाराणसी - 221001

Phone & Fax : **(0542) 2421472**